सुख

ज्यादा या

दुःख

आचार्य महाप्रज्ञ

सुख ज्यादा या दुःख

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080,224671
ई-मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at
https://books.jvbharati.org

ISBN : 978-93-89793-91-8

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

द्वितीय संस्करण : दिसम्बर 2022 (1000 प्रतियां)

मूल्य : 240/- (दो सौ चालीस रुपये मात्र)

मुद्रक : श्री वर्द्धमान प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

SUKH JYADA YA DUKH by Acharya Mahapragya ₹ 240/-

श्रद्धार्पण

आदमी के जीवन में सुखानुभूति के क्षण भी आते हैं और दुःखानुभूति भी अपना रंग दिखा सकती है। एक सुख पदार्थजन्य होता है, परिस्थिति-सापेक्ष होता है और दूसरा सुख पदार्थ-निरपेक्ष और परिस्थिति-निरपेक्ष व सहज आत्मसमुत्थ होता है। यदि आदमी पदार्थ और परिस्थिति से निरपेक्ष सुख प्राप्त करने की साधना कर आत्मसमुत्थ सुख को उपलब्ध कर ले तो उसके लिए मानो सुख का समन्दर लहराने लग जाता है। उस सुख को पाने के लिए समता की साधना अनिवार्य हो जाती है।

जो आदमी राग-द्वेष का जीवन जीता है, वह सहजानन्द को प्राप्त नहीं होता, विषयानन्द (पदार्थजन्य आनन्द) में रचा-पचा रहता है। वह व्यक्ति भीतर में दुःखी बन सकता है। संस्कृत में कहा गया–अज्ञस्य दुःखौघमयं जगत् ज्ञस्यानन्दमयं जगत्। अज्ञानी के लिए यह जगत् दुःखमय है और ज्ञानी व्यक्ति के लिए यह जगत् सुखमय हो जाता है।

परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञजी एक योगी पुरुष थे, ज्ञानीपुरुष थे। वे अध्यात्म जगत् के एक प्रवक्ता व्यक्तित्व थे। वे एक कुशल प्रवचनकार थे। उनके प्रवचन पुस्तक का रूप भी ले लेते थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'सुख ज्यादा या दुःख' पाठकों के मन में आध्यात्मिक सुखरूपी अमृत की पिपासा पैदा करे। मंगलकामना।

मैं परमश्रद्धेय परम वन्दनीय जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के दशमाधिशास्ता परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञजी के चरणों में अपना श्रद्धार्पण प्रस्तुत करता हूं।

24 जुलाई 2020 **आचार्य महाश्रमण**
हैदराबाद

अनुक्रम

1. दुःख ज्यादा है या सुख? 7
2. कहां है दुःख का स्रोत? 14
3. दुःख के हेतु 21
4. दुःख है आकांक्षा का विस्तार 29
5. दुःख है अज्ञान 38
6. दुःख है आसक्ति 42
7. दुःख कांटे : सुख पदत्राण 48
8. दुःख की दवा 55
9. कहां है सुख का स्रोत? 61
10. सबसे बड़ा सुख समभाव 65
11. स्थायी सुख क्या है? 69
12. स्थायी सुख का मार्ग (1) 76
13. स्थायी सुख का मार्ग (2) 82
14. स्थायी सुख का मार्ग (3) 88
15. अव्यक्त सुख : एकांतवास 92
16. स्थायी सुख का साधन 97
17. सुखायु के लक्षण 102
18. शाश्वत सुख के उपाय 108
19. सुख का यात्रापथ 112
20. सुख है भीतर की संपदा 117

21. सुख है पदार्थातीत चेतना 124
22. सुख का राज 131
23. सुख का बाधक : असंयम 140
24. सुख का बाधक : मोह 146
25. सुखी जीवन का सूत्र : संयम 152
26. सुखी जीवन का सूत्र : ज्ञान 156
27. सुखी जीवन की पराकाष्ठा : संतोष 162
28. सुखी और शांत जीवन का रहस्य 170
29. घर के दरवाजे बंद करें 174
30. धर्म का फल प्रत्यक्ष सुख 179
31. सुख और दुःख का हेतु 184
32. अनुभूतियां सुख और दुःख की 188
33. सुख-दुःख अपने हाथ में 196
34. सुख का राजमार्ग 200
35. सुख और सुविधा 205
36. क्या धन सुख देता है? 209
37. संसार अलौकिक सुख का 216
38. स्थायी सुख है वीतरागता 222
39. सुख का निर्बाध पथ 226
40. सुख-दुःख का कर्ता कौन? 230

1. दुःख ज्यादा है या सुख?

एक व्यक्ति किसी ज्ञानी गुरु के पास गया और बोला–'गुरुदेव! मैं दुःखों से मुक्त होना चाहता हूं। मुझे दुःखमुक्ति का उपाय बताएं।' गुरु ने कहा–'दुःख अनेक प्रकार के होते हैं। तुम किस दुःख से मुक्त होना चाहते हो?' शिष्य ने कहा–'मैं सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त होना चाहता हूं।' गुरु उसकी मनःस्थिति को समझ गए। उन्होंने पहले उसे ज्ञान देना जरूरी समझा। ज्ञान हो जाए तो किसी को इस तरह की समस्या लेकर किसी के पास जाने की जरूरत ही नहीं रह जाती।

उन्होंने शिष्य से कहा–'तुम बताओ, दुःख है कहां? मुझे तो कहीं दिखाई नहीं दे रहा है।' भीतर तो आत्मा है और आत्मा में कहीं सुख-दुःख होता है क्या? लगता है तुमने दुःख का आरोपण कर रखा है, इसलिए दुःखी बने हुए हो। जो दुःख ओढ़ रखा है, उसे उतार दो, दुःखमुक्त हो जाओगे।

मैं लंबे समय से यह प्रश्न पूछता आ रहा हूं लोगों से कि दुःख है कहां? यह बात मैंने दिल्ली, मुम्बई, अहमदाबाद, जयपुर जैसे महानगरों में लोगों से पूछी और गांव-कस्बे के लोगों से भी पूछा, लेकिन मुझे किसी ने आजतक नहीं बताया कि दुःख कहां मिल सकता है। न किसी शोरूम में दिखाई दिया, न किसी पटरी और फुटपाथ पर, फिर भी लोगों से लगातार यह बात सुनने को मिल रही है कि दुःख बहुत है। उससे छुटकारा मिले, ऐसा उपाय बताएं।

दुःखी क्यों?

भगवान महावीर की वाणी में एक शब्द आता है–अत्तकडे दुक्खे। दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं है। वह अनपेक्षित है, फिर भी व्यक्ति के स्वयं के द्वारा निर्मित है। यहां फिर एक प्रश्न होगा–अगर अनपेक्षित है, कोई दुःख को नहीं चाहता तो फिर दुःख का निर्माण क्यों करता है? दुःखी क्यों बनता है?

दुःख का पहला कारण है अज्ञान। व्यक्ति अपने अज्ञान के कारण दुःखी बनता है। वह वस्तुस्थिति को ठीक से जानता नहीं और इस तरह अपने अज्ञान

के कारण निष्प्रयोजन दुःख का वेदन करता रहता है। इस संदर्भ में एक छोटा-सा दृष्टांत दूं–

एक महिला ने अपने पति से आग्रह किया कि वह उसे हार लाकर दे। आभूषण के प्रति महिलाओं की सहज आसक्ति होती है। समर्थ हो या असमर्थ, अपनी हैसियत के अनुसार हर महिला कुछ न कुछ गहने पहनती ही है। आज तो प्रायः हर संभ्रांत परिवार की महिला के पास हार मिल जाएगा, लेकिन सामान्य घरों की बहनें तो स्वर्ण हार की कल्पना ही कर सकती हैं। आज के महंगाई के जमाने में जब राशन-पानी जुटाना ही भारी पड़ रहा है तो हार खरीदना हर व्यक्ति के वश की बात नहीं है।

लेकिन उस महिला ने किसी अन्य महिला को हार पहने देखा और घर आकर पति से प्रबल आग्रह किया कि मुझे हार चाहिए और पत्नी के आग्रह के सामने उसे झुकना पड़ा। दूसरे दिन ही पत्नी की फरमाइश उसने पूरी कर दी। कोई दिमागी आदमी रहा होगा, जिसे स्त्री के मनोविज्ञान की पूरी जानकारी रही होगी।

हार पाकर पत्नी प्रसन्न हो गई। हार कोई रोज पहनने की चीज नहीं, लेकिन उस महिला को भाग्य से हार पहनकर उसे प्रदर्शित करने का सुअवसर भी प्राप्त हो गया। एक सप्ताह के भीतर उसे एक निकट परिजन के यहां शादी के समारोह में शामिल होना पड़ा।

पत्नी प्रसन्न मन से गई, लेकिन वहां से लौटी तो उदास और खिन्न मन से। आते ही पति से रोते हुए बोली–'मेरे आग्रह पर आपने इतना कीमती हार लाकर दिया, लेकिन मेरा दुर्भाग्य कि मैं उसे संभाल नहीं सकी और अपनी लापरवाही से उसे खो दिया। अब तो सोने का हार इस जीवन में मिलने से रहा'–इतना कहकर वह फिर रो पड़ी।

पति ने कहा–'तुम चिंता मत करो, कल दूसरा हार ला दूंगा।'

पत्नी का रोना बंद हो गया और वह एकटक पति की ओर देखने लगी। उसने तो सोचा था कि हार खो जाने पर पति से कड़ी फटकार सुनने को मिलेगी और पति कह रहा है कि कल दूसरा खरीद दूंगा। कोई लॉटरी खुल गई है क्या और इतना उदार कब से हो गए? पिछली बार दो साड़ी खरीद ली थी तो झल्लाहट में क्या-क्या नहीं कह गए थे और सोने के हार के लिए कह रहे हैं कि कल दूसरा खरीद दूंगा। वह बोली–'हार खरीदना कोई हंसी-खेल है क्या, कहां से खरीद दोगे?'

पति ने हंसते हुए कहा–कहीं से भी खरीद कर लाऊं, कल तुम्हें वैसा ही हार मिल जाएगा।'

पत्नी का संदेह गहरा हो गया। वह बोली–'हार कितने का था?'

पति ने कहा–'मुझे पता था कि अपनी लापरवाही के कारण हार जैसी चीज तुम ज्यादा दिन तक संभाल नहीं पाओगी, इसलिए तीन सौ रुपये का नकली हार लाकर दिया था, लेकिन बार-बार खोती रहोगी तो तीन सौ का नकली हार भी मेरे लिए बहुत महंगा पड़ेगा।

पत्नी का सारा दुःख दूर हो गया। दुःख आया कहां से और गया कहां? उसे दुःख हुआ था अज्ञान के कारण। वास्तविकता का ज्ञान होता तो दुःख क्यों होता? पति को वास्तविकता का ज्ञान था, इसलिए वह दुःखी नहीं बना। अज्ञानी दुःख पाता है, ज्ञानी दुःख नहीं पाता। अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण दुःख का वेदन करता है, दुःखी बनता है। जब तक अज्ञान है, दुःख नहीं मिटेगा।

दुःख का कारण अविवेक

दुःख का दूसरा कारण है अविवेक। जिसमें विवेक नहीं है, विवेचन करने की शक्ति नहीं है, विश्लेषण करने की क्षमता नहीं है और जिसका दृष्टिकोण विभज्यवादी नहीं है, वह बार-बार दुःखी बनता है। जिसका दृष्टिकोण विभज्यवादी है, जो हर बात का विवेक और विश्लेषण करता है, वह घटना को सीधा नहीं पकड़ता, उसमें उलझता नहीं, इसलिए वह दुःखी नहीं बनता। वह हर बात को अलग-अलग कोण से देखता है, उसके हार्द को समझता है। इसे हम एक घटना के द्वारा समझें–

वैद्यजी के पास दो रोगी एक साथ पहुंचे। वैद्यजी नाड़ी विशेषज्ञ थे। आज तो यह ज्ञान ही लुप्त होता जा रहा है। आयुर्वेद में नाड़ी को बहुत महत्त्व दिया गया है। आरोग्यशास्त्र में इसका विस्तृत विधान है और इसके आधार पर बहुत सूक्ष्म परीक्षण कर लिया जाता है। इतना सूक्ष्म कि आज के विकसित वैज्ञानिक यंत्र भी नहीं पकड़ सकते।

वैद्य ने एक की नाड़ी का परीक्षण किया और उसे परामर्श दिया कि तुम गरिष्ठ चीजें खाना बंद कर दो। तेल में तली-भुनी, मसालेदार चीजें तुम्हारे लिए हानिकारक हैं। घी, मक्खन और मलाई तुम्हारे लिए जहर सिद्ध होगी। इन्हें खाना तत्काल बंद कर दो और रूखी रोटी छाछ या उबली हुई सब्जी के साथ खाओ।

वैद्यजी ने दूसरे रोगी की नाड़ी देखकर कहा–'अगर सुलभ हो सके तो तुम घी-दूध का अधिकाधिक सेवन करो। अभी जाड़े का मौसम है। हो सके तो मेथी और गोंद के लड्डू बनवा लो और सर्दी के मौसम में उसे खाओ। हर तरह का पौष्टिक भोजन तुम्हारे लिए लाभदायी होगा।'

पहले परीक्षण करवा चुके रोगी ने वैद्यजी की बात सुनी तो मन में विचार आया कि यह कैसा वैद्य है, जो दो रोगियों को खाने-पीने के बारे में अलग-अलग परामर्श देता है। वैद्यजी की फीस तो मैंने भी चुकाई है, फिर भी इतना पक्षपात? भीतर में उद्वेलन हुआ तो भीतर की बात जबान पर आ गई। बोला– 'वैद्यजी! मैंने तो सुना है कि वैद्य, डॉक्टर के लिए हर मरीज एक जैसा होता है, फिर आप पक्षपात क्यों कर रहे हैं?'

वैद्य ने कहा–'नहीं भाई, मैंने तो कोई पक्षपात नहीं किया। मेरी परीक्षण की जो फीस है, मैंने दोनों से बराबर ली, इसमें पक्षपात की बात कहां से आ गई?' असंतुष्ट रोगी बोला–'फिर आपने हम दोनों को पथ्य संबंधी अलग-अलग हिदायतें क्यों दीं?'

'इसलिए दी कि तुम दोनों की बीमारी एक दूसरे से सर्वथा विपरीत है। तुमने लगातार जरूरत से ज्यादा गरिष्ठ भोजन खा कर अपनी आंतें और लीवर को क्षतिग्रस्त कर लिया। अगर तुमने मिर्च-मसाले और मेवा-मलाई खाना जारी रखा तो तुम्हारा लीवर हमेशा के लिए जवाब दे जाएगा। इसीलिए मैंने गरिष्ठ चीजें छोड़कर रूखा भोजन करने का परामर्श दिया। दूसरे रोगी को कुपोषण की बीमारी है। अगर उसे पौष्टिक भोजन न मिला तो उसकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता खत्म हो जाएगी, वह कमजोर और कई व्याधियों से ग्रस्त हो जाएगा। तुम्हारी बीमारी अमीरी की और उसकी गरीबी की है। इसी के अनुसार मैंने अलग-अलग पथ्य बताए। अब मेरे परामर्श को मानना या न मानना तुम दोनों पर निर्भर है। मैंने तो अपना कर्तव्य पालन कर दिया।'

आप विचार करें कि वह व्यक्ति वैद्य पर आक्रोशित क्यों हुआ? अपने अविवेक के कारण। समझाने पर विवेक जागृत हुआ तो आवेश शांत हो गया। इस तरह अविवेक के कारण भी आदमी दुःखी बनता है।

आदत

दुःख का तीसरा कारण व्यक्ति की अपनी आदत है। आदमी की आदतें भी विचित्र होती हैं। जयाचार्य के शब्दों में खोड़ीळी प्रकृति रो धणी यानी जो

खोड़ली अर्थात् तुच्छ, खोटी प्रकृति का होता है, वह दुःखी बना रहता है। उसकी प्रकृति के विपरीत कोई बात कह दें, उसकी वही हालत हो जाएगी जैसे बंदर ने शराब पी ली और ऊपर से उसे बिच्छू ने काट खाया। आचार्य भिक्षु ने ऐसे ही लोगों के बारे में कहा–क्रोध मांहि हळफळियो, जाणै भाड़ स्यूं चणो उछळियो। क्रोध में ऐसे हड़फड़ा जाता है, जैसे भड़भूंजे की भाड़ से चना उछलता है। ऐसी क्रोधी प्रकृति का आदमी बार-बार दुःखी बनता है।

प्रबल संवेग

दुःख का चौथा कारण है संवेगों और आवेगों पर अनियंत्रण। क्रोध, लोभ, अहंकार, घृणा आदि संवेग हैं। इनका आवेग प्रबल बनता है तो आदमी दुःख में चला जाता है। एक व्यक्ति सोचता है मेरे सामने यह छोटी जाति का आदमी बैठा है, खड़े होकर अभिवादन नहीं किया, बस, इतनी सी बात उसे उद्वेलित कर देती है, वह दुःखित और क्षुब्ध हो जाता है। परिवार में अक्सर देखने में आता है कि परिवार के मुखिया की परिवार के सदस्यों के साथ पटरी नहीं बैठती। उसकी तह में जाएं तो यही बात मुख्य रूप से उभर कर सामने आएगी कि अहं का टकराव है। इगो प्रोब्लेम आड़े आ रही है। संवेग और आवेग उभरते रहते हैं।

बहुत पहले की बात है। चातुर्मास के दिनों में हम एक रास्ते से होकर निकलते तो वहां निकट की एक हवेली के मालिक और उसके नौकर को आपस में लड़ते हुए पाते। यह आए दिन की बात थी। एक दिन संयोग से वह व्यक्ति सामने मिल गया तो मैंने कहा–'यह रोज-रोज का लड़ाई-झगड़ा किसलिए?'

वह बोला–'महाराज! क्या करें, मेरा स्वभाव तेज है और वह भी ऐसे ही स्वभाव का है।'

'फिर उसे साथ रखना जरूरी है क्या? तुम मालिक हो, उसे छोड़ क्यों नहीं देते?'

उस आदमी ने कहा–'यही तो मजबूरी है महाराज! उसके बिना मेरा काम नहीं चलता और मेरे बिना उसका काम नहीं चलता। तीन बार निकाला और कुछ दिन बाद फिर बुलाना पड़ा। वह भी कहीं दूसरी जगह टिका नहीं। एक ही बुलावे पर दौड़ा चला आया।'

क्रोध, अहंकार, छल-कपट, माया, भय, घृणा–ये दुःख पैदा करने की खान हैं। छल-कपट करना है, कोई बात छिपानी है तो यह लुकाव और छिपाव

ही इतना बड़ा तनाव पैदा कर देता है कि दुःख सृजित हो जाता है। आज की प्रचलित अनेक बीमारियों का कारण छल-कपट वाली आदमी की यह प्रवृत्ति बन रही है। आज के आदमी में इतनी आकांक्षाएं एक साथ पैदा हो गई हैं कि उन्हें सहज ही पूरा नहीं किया जा सकता।

असंतोष

दुःख का चौथा कारण है असंतोष। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि असंतोष से आदमी दुःखी बनता है। आज आदमी में संतोष कहां है? यह भी एक बड़ी विचित्र बात है कि आदमी के पास जो है, उससे सुखी नहीं बनता, जो नहीं है, उसके कारण वह दुःखी बनता है। एक आदमी के पास तीन मंजिली कोठी है, चार कारें हैं, किसी चीज का अभाव नहीं है, सुख देने वाली हर चीज उसके पास है, किंतु पड़ोसी अगर अपनी कोठी चार तल्ले की बनवा ले और दो गाड़ियां उससे ज्यादा रख ले तो उस आदमी की रात की नींद और दिन का चैन हराम हो जाएगा।

मेरे पास दूसरों से ज्यादा है, यह अहं एक सुखद अनुभूति कराता है। इस पर चोट पड़ते ही आदमी दुःख में चला जाता है। इसी तरह लोभ भी दुःख में ले जाता है। कषाय अगर अल्प हो तो आदमी दुःखी नहीं बनेगा।

परिस्थिति

दुःख का पांचवां कारण है बाह्य परिस्थितियां। परिस्थिति भी आदमी को सुखी और दुःखी बनाती हैं। गरीबी और अभाव आदमी को दुःखी बनाते हैं। रोटी, कपड़ा, मकान जैसी मूलभूत चीजें बाह्य परिस्थितियों के अंतर्गत आती हैं और इसका अभाव आदमी को दुःख में ले जाता है। दुःख के बारे में कहा गया है–प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं।

परिस्थिति चाहे कितनी भी जटिल हो, समस्या चाहे कितनी भी गंभीर हो, आप उसका वेदन अगर नहीं करते हैं तो वह आपको प्रभावित नहीं कर पाएगी। रात को आप सोते हैं, उस समय तो आंसू नहीं बहाते, क्योंकि उस समय चेतना सुप्तावस्था में होती है, लेकिन जैसे ही चेतना जागती है आपको वेदन शुरू हो जाता है और सुख-दुःख की अनुभूति से आप प्रभावित होने लगते हैं।

ममत्व

दुःख का छठा कारण है ममत्व। आदमी जयपुर में बैठा है। अगर उसे पता न चले कि मुम्बई में उसे एक कारोबार में चार करोड़ का घाटा लगा तो वह

दुःखी नहीं बनेगा, लेकिन जैसे ही उसे पता चलता है,वह दुःखी बन जाता है। घटना तो दस दिन पहले हुई और दुःखी बना आज। इससे यह बात सिद्ध होती है कि घटना से आदमी दुःखी नहीं बनता, घटना अवचेतन मन में प्रविष्ट होकर जब संवेग बनती है तो उसका प्रभाव हमें सुखी या दुःखी बनाता है। दुःख हमारे संवेदन के साथ जुड़ा हुआ है। अपने ज्ञान के द्वारा, विवेक के द्वारा, अपनी श्रेष्ठ प्रकृति के द्वारा और अपने भावों पर नियंत्रण के द्वारा असंवेदन की स्थिति का अगर निर्माण कर लिया जाए तो दुःख से बचा जा सकता है।

दुःख मुक्ति का उपाय : ध्यान

दुःख-विमुक्ति के लिए ध्यान के द्वारा ऐसी स्थिति का निर्माण कर सकते हैं जो हमें दुःख के वेदन से बचाए रखें। ध्यान हमारी प्रकृति, हमारे स्वभाव और हमारे भावों को बदल देने में सक्षम है। मैं बहुत बार प्रश्न किया करता हूं कि इस दुनिया में सुख ज्यादा है या दुःख? लोग तो यही कहते हैं कि दुःख ज्यादा है, लेकिन मेरा अपना चिंतन तो यह है कि इस दुनिया में दुःख कम है, सुख बहुत ज्यादा है। यह बात मैं बहुत चिंतनपूर्वक, विवेचनापूर्वक और समग्र अध्ययन के बाद कह रहा हूं। आत्मा का स्वभाव ही सुख में रहना है। अगर यह सही है तो दुःख है कहां?

सच तो यह है कि हमने अपने अज्ञान के कारण दुःखों का एक ताना-बाना बुन रखा है, इसलिए अपने आपको दुःखी मान रहे हैं। अपनी प्रवृत्ति में, अपने सोच-विचार में, चिंतन में बदलाव लाएं, हर बात, हर घटना को अलग-अलग कोणों से देखना शुरू करें, दुःख आपके जीवन से विदाई लेना शुरू कर देगा।

2. कहां है दुःख का स्रोत?

एकाग्रता का होना बहुत अच्छा है, वह अपने आप में शक्ति है। अच्छा या बुरा उसके उपयोग पर निर्भर होता है। धन एक पदार्थ है। वह अच्छा है या बुरा, उसके उपयोग पर निर्भर करता है। पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं होता। अच्छा या बुरा उसका उपयोग होता है। एकाग्रता एक बहुत बड़ी शक्ति है। वह जीवन में सफलता देने वाली, कार्य को सुचारू रूप से संपन्न करने वाली है। एकाग्रता अच्छी या बुरी, यह उसके प्रयोग पर निर्भर है।

ध्यान के अनेक प्रकार हैं, किंतु मुख्य रूप से दो प्रकार हमारे सामने आते हैं–आर्त्तध्यान और धर्मध्यान। आर्त्तध्यान तनाव और संताप पैदा करने वाला है। आज तनाव शब्द बहुत प्रचलित है। प्राचीन समय में इसके लिए संताप शब्द प्रचलित था। आर्त्तध्यान संताप पैदा करता है। धर्मध्यान से संताप दूर होता है, उस समय तनाव नहीं होता। यह भी सचाई है कि सत्य की खोज करने वाले में राग-द्वेष प्रबल नहीं होते। उसकी व्याख्या करने वाले में राग-द्वेष हों तो वह सत्य की खोज नहीं कर सकता। उस समय तो वह एकदम शांत रहता है।

सत्य की खोज

महान वैज्ञानिक आइंस्टीन के बारे में कहा जाता है कि जिस समय वे प्रयोगशाला में प्रयोग करते, उस समय वे सबकुछ भूल जाते थे। अपने प्रयोगों में वे इतने एकाग्र हो जाते कि उन्हें आस-पास का कुछ भी भान नहीं रहता। केवल नियम की खोज, सत्य की खोज और अपना प्रयोग, बाकी कहां क्या हो रहा है? इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं होता। कभी-कभी तो भूख और प्यास का भी उन्हें पता नहीं चलता।

चंचलता और एकाग्रता की स्थिति बिल्कुल भिन्न प्रकार की होती है। चंचल और एकाग्र चित्त में व्यक्ति की वृत्तियां भी बिल्कुल अलग-अलग तरह की होती हैं। मन की चंचलता को कम करना बहुत बड़ी समस्या है। बहुत कम लोग ऐसे मिलेंगे, जो दस मिनट तक किसी एक विचार पर एकाग्र रह सकते

हों। मिनट की बात आगे की बात है और एक घंटा की बात तो उसके बहुत आगे की है। जो व्यक्ति पचास मिनट या एक घंटा एक विचार पर एकाग्र बन जाएगा, उसके भ्रांतियों का चक्र या वलय टूट जाएगा।

धर्म के लोग वैराग्य की बहुत बात करते हैं। अनासक्ति की बात, पदार्थ को त्यागने की बात करते हैं, मोह-ममता और मूर्च्छा को तोड़ने की बात करते हैं। वापस चिंतन मुड़ता है तो प्रश्न उठता है अगर सबमें मोह-ममता और मूर्च्छा टूट गई तो दुनिया कैसे चलेगी? मोह के आधार पर ही तो सारी दुनिया चल रही है। अगर वही समाप्त हो जाए तो फिर दुनिया के चलने का आधार क्या रहेगा?

मोह कभी नहीं टूटता। यह राग-द्वेष को जन्म देता है, भ्रांतियों को पैदा करता है, जिसके कारण मिथ्या दृष्टिकोण का निर्माण होता है। आज आदमी, जो सत्य नहीं है, उसे सत्य मान लेता है और जो सत्य है, उसे असत्य मान लेता है। यह सारा भ्रांति के कारण ही होता है। इन सबकी जड़ में है मन की चंचलता। मोह के पास एक ऐसा सुरक्षा का शस्त्र है, जिससे भ्रांति टूट नहीं पाती, किंतु जैसे ही एकाग्रता की शक्ति बढ़ती है, भ्रांति का चक्र टूटने लगता है और मोह का आसन भी हिलने लगता है। भ्रांति को तोड़ कर जो सत्य तक ले जा सके, चेतना को विशुद्ध बना सके और सारी विकृतियों को मिटा सके, वह है सत्य की खोज, धर्मध्यान।

हमें यह मानना होगा कि दुनिया को चलाने वाली है मन की चंचलता। इस चंचलता को कम करने के लिए कुछ उपाय खोजे गए। जहां आकर्षण होता है, वहां चंचलता कुछ कम हो जाती है। कोई भी प्रिय वस्तु सामने आई, चंचलता कम हो जाएगी, क्योंकि मन उसमें कुछ देर के लिए एकाग्र हो जाएगा। चाहे दृश्य हो या श्रव्य, ये एकाग्रता को बढ़ाने वाले निमित्त हैं। एक व्यक्ति अश्लील साहित्य पढ़ने बैठता है तो बहुत एकाग्र हो जाता है। अश्लील दृश्य या वासना को उद्दीपन देने वाले दृश्य देखता है तो एकाग्र हो जाता है। कभी-कभी हिंसा के प्रसंग में भी एकाग्र हो जाता है। झूठ बोलने का प्रसंग हो तो भी एकाग्र होना पड़ता है, क्योंकि झूठ बोलते समय सतर्क रहना पड़ता है कि कहीं मेरी झूठ पकड़ में न आ जाए, कोई तर्क न खड़ा हो जाए, इसलिए बहुत एकाग्र होना पड़ता है और आगे उठने वाले कई सवालों के उत्तर पहले से खोज कर रखने पड़ते हैं। उसको पूरी तरह एक व्यूह रचना करनी पड़ती है।

यह एक ऐसा मायाजाल और इन्द्रजाल है, जिसमें सच झूठ बन जाता है और झूठ सच बन जाता है। पुराने जमाने में जादू और इन्द्रजाल की विद्या बहुत चलती थी। भारत में इस विद्या का बहुत विकास हुआ था। इसके आधार पर कितने ही कारनामे दिखाए जाते थे। आज इनका स्थान नाटक, सिनेमा आदि ने ले लिया है। सिर्फ रूप बदला है, बाकी सबकुछ इन्द्रजाल ही है। कम्प्यूटर जो कुछ कर रहा है, वह किस इन्द्रजाल से कम है? कम्प्यूटर में किसी के धड़ पर किसी का सिर बड़ी आसानी से लगाया जा सकता है। किसी भी आकृति को मनचाहा आकार दिया जा सकता है।

दु:ख का जेनरेटर : आर्त्तध्यान

आदमी सबसे ज्यादा दु:खी आर्त्तध्यान से बनता है। बहुत गहराई से विचार कर अपने भीतर झांक कर देखें तो पाएंगे कि जितना दु:ख मान रहे हैं, उतना दु:ख इस दुनिया में नहीं है। लोगों की गाथा सुनता हूं तो मुझे भी आश्चर्य होता है। ऐसा लगता है सचमुच इस व्यक्ति के ऊपर दु:खों का पहाड़ टूट पड़ा है। शायद ही कोई दिन खाली जाता हो, जिस दिन दो-चार लोगों की दु:ख की गाथा सुनने को न मिलती हो। प्राय: रोज ही सुनने को मिलती है। वास्तव में दु:ख उतना है नहीं। कभी-कभी प्राकृतिक प्रकोप दु:ख और समस्या बन जाता है। दु:ख इतना कहीं दिखाई नहीं देता, जितनी विभीषिका आदमी को दिखाई दे रही है। ऐसा कोई कारखाना नहीं, जहां दु:ख का उत्पादन हो रहा हो, फिर इतना दु:ख आता कहां से है?

जब हमारी एकाग्रता अरति के साथ जुड़ती है तो आर्त्तध्यान पैदा होता है। वह सत्य की खोज के साथ जुड़ी नहीं है, भ्रांति के साथ जुड़ी हुई है। अगर इस सचाई को समझकर चलें कि प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। हर आदमी को स्वतंत्र रूप में जीने का अधिकार है तो हम कभी अहं और आर्त्तध्यान में नहीं जाएंगे। व्यवहार के क्षेत्र में अनुशासन मान्य हो सकता है, किंतु अनुशासन का अर्थ कलह और संघर्ष करना नहीं है। यह सब होता है आर्त्तध्यान के द्वारा। अरति हमेशा दर्द और पीड़ा देती है। अगर कोई पूछे कि दु:ख कहां से आता है? आप इसका सीधा उत्तर दे सकते हैं–दु:ख आता है आर्त्तध्यान से। यह दु:ख का स्रोत है। जेनरेटर आपने देखा होगा। यह बिजली पैदा करता है। दु:ख का जेनरेटर है आर्त्तध्यान। हमारे भीतर इतना बड़ा हाई पावर का जेनरेटर है कि उतना बड़ा पूरे जयपुर में नहीं समा सकता।

दुःख का हेतु : भ्रांत धारणा

व्यक्ति अपनी भ्रांति के कारण दुःख का सृजन कर रहा है। अगर उसे सत्य का बोध हो जाए तो निश्चय ही उसका दुःख समाप्त हो जाएगा। भ्रांतियां और अवधारणाएं व्यक्ति को दुःखी बना रही है। आदमी मान्यता के आधार पर दुःख भोगता है। मान्यता है कि बड़ा आदमी आए तो छोटों को खड़ा होना चाहिए। प्रधान अधिकारी ऑफिस में गया। चपरासी किसी कार्य में संलग्न था। देख नहीं पाया। जल्दी से उठकर सलाम नहीं कर सका और बड़े व्यक्ति के मन में दुःख पैदा हो गया। उसने अपनी अवमानना समझी और दुःख का संवेदन शुरू हो गया।

मैंने स्वयं एक ऐसा दृश्य देखा है। एक सेठजी ने बच्चों को पढ़ाने के लिए टीचर रखा था। वह रोज आकर उनके बच्चों को ट्यूशन पढ़ाया करता था। एक दिन सेठ ने अपने मुनीमजी को बुलाकर कहा कि यह मास्टर जो रोज पढ़ाने आता है, इसका आज हिसाब दे दो। मेरे सामने ही सेठ ने मुनीम को यह आदेश दिया था। मैंने पूछा–'क्यों, क्या बात है, मास्टर ठीक से नहीं पढ़ाता क्या?'

सेठ ने कहा–नहीं महाराज, पढ़ाता तो बहुत अच्छा है, समय से आता भी है, किंतु बेअदब और अशिष्ट है। आज मैं आया तो मुझे देखकर खड़ा नहीं हुआ, कुर्सी पर ही बैठा रहा।'

बाप ने बेटे से कहा और बेटे ने ध्यान नहीं दिया तो पिता के मन में दुःख का तीव्र संवेदन हो जाता है। बेटा दुःखी बने या नहीं, बाप उसी समय दुःख में चला जाता है कि बेटा अब मेरी सुनता नहीं है। यही बात बहू और सास में होती है। देखा जाए तो दुःख का कोई ठोस कारण नहीं होता, किंतु अहं पर पहुंचने वाली चोट ही आदमी को दुःखी बनाती रहती है। यही तनाव लंबा होकर मानसिक और शारीरिक बीमारी का कारण भी बनता है। दुःख-सुख ढूंढ़ने के लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं है। वह हमारे आसपास ही बहुत सारा बिखरा पड़ा है। यह चुनाव पर निर्भर है कि हम सुख चुनते हैं या दुःख?

सुख का द्वार

भगवान महावीर का एक वाक्य है–अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता धम्मज्झाणं झियायए। कितना सुंदर निर्देश है। अगर तुम सुख चाहते हो तो आर्त्त-रौद्र ध्यान की वर्जना करो और धर्मध्यान का प्रयोग करो। यह छोटा-सा सूत्र हमारी समझ में आ जाए कि दुःख से दूर रहने के लिए हमें आर्त्तध्यान की वर्जना करना है, धर्मध्यान का प्रयोग करना है तो सुख का द्वार हमारे लिए खुल सकता है।

आपके मन में प्रश्न हो सकता है–आर्त्तध्यान की वर्जना कैसे करें? कोई दु:खी बनना नहीं चाहता। कोई समस्या में उलझे रहना नहीं चाहता, फिर भी उलझ जाते हैं और दु:ख पैदा हो जाता है। आर्त्तध्यान से बचें कैसे? उसका भी उपाय बता दिया–धम्मज्झाणं झियायए। धर्मध्यान के अभ्यास के बिना आर्त्तध्यान कम नहीं होगा। आज बहुत जरूरी है सत्य की खोज। यह खोज नहीं हो रही है। इतने सारे दु:ख और समस्याएं कहां से आ रही हैं? इसकी खोज की जाए तो वह धर्म की खोज हो जाती है। नियम की खोज करना, सत्य की खोज करना, धर्म की खोज है। धर्म की खोज अर्थात् वस्तुसत्य की खोज। वस्तुसत्य की खोज करते हैं तो दु:ख अपने आप कम हो जाता है।

दृष्टि और दशा

असत्य की दिशा में जाएंगे तो दु:ख आपके साथ चलना शुरू कर देगा। जैसे ही आपने दिशा बदली और आपका मुंह सत्य की दिशा की ओर हुआ, दु:ख ठिठक कर खड़ा हो जाएगा। वह आपका साथ छोड़ देगा और सुख आपका साथ पकड़ लेगा, वह चलने लगेगा। सुख और दु:ख दोनों हमारे साथ हैं, केवल दिशा बदलने की जरूरत है। हम जिसे भी चाहते हैं, उसका साथ हमें मिल जाएगा। इसलिए दो शब्द हमारे बहुत काम के हैं–दृष्टि-परिवर्तन और दिशा-परिवर्तन।

छाया पकड़ में नहीं आ रही है। आप जितनी ही तेज गति से उसे पकड़ने के लिए दौड़ते हैं, वह उतनी ही गति से आपसे दूर होती जाती है। आप दृष्टिकोण में परिवर्तन कर दें और दिशा में भी परिवर्तन कर दें। जिस दिशा में जा रहे हैं, उसके विपरीत दिशा में घूम जाएं। आपकी छाया आपके कदमों में होगी, बिल्कुल पास में होगी।

धार्मिक आदमी धर्म करता है, फिर भी उसका व्यवहार नहीं बदलता तो मानना चाहिए कि वह आर्त्तध्यान का जीवन जी रहा है, धर्म के नाम पर आर्त्तध्यान को पोषण दे रहा है। उसके कदम सत्य की खोज के विपरीत दिशा में हैं। धर्म कर रहा है, फिर भी क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, छलना-प्रवंचना उतनी ही है, व्यवहार में किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं आया, कारण साफ है, उसकी दृष्टि और दिशा ठीक नहीं है। व्यवहार परिवर्तन के दो ही साधन हैं दृष्टि-परिवर्तन और दिशा-परिवर्तन।

बहुत जरूरी है आदमी समय रहते सत्य की खोज में लग जाए। मनुष्य जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य है सत्य की खोज। इसमें छोटे-बड़े का कोई

सवाल नहीं है। कोई यह न सोचे कि सत्य की खोज तो ज्ञानी-ऋषि-मुनियों और दार्शनिकों का काम है। हमारी सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि जहां इस तरह का प्रश्न आता है, हम आदमी को छोटे-बड़े में विभाजित कर देते हैं।

सत्य की खोज के लिए आदमी की कोई खास प्रजाति नहीं होती। हममें से ही जो सत्य की खोज की दिशा पकड़ लेते हैं, उसके रास्ते पर चल पड़ते हैं, वही ज्ञानी, महात्मा और ऋषि-मुनि बन जाते हैं। किसी को साधारण और विशेष के वर्गीकरण में विभक्त करना ठीक नहीं है। साधारण आदमियों ने तो बड़ी-बड़ी खोजें की हैं। जितने भी बड़े आविष्कार हुए हैं, उनके आविष्कारक कोई अरबपति, खरबपति या सत्ता पर बैठे प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति नहीं हैं, अत्यंत गरीब और साधारण लोग रहे हैं। कभी-कभी बड़े लोग जहां अटक जाते हैं, छोटे लोग वहां रास्ता सुझा देते हैं।

बालादपि सुभाषितम्

प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री अपने सहयोगियों से किसी विषय पर चर्चा करते। कई बार अपने किसी नौकर या माली से भी पूछते–'क्यों भाई! तुम्हारी इस विषय में क्या राय है या तुम्हारा क्या ख्याल है?'

एक बार जब अपने किसी मित्र से वे गंभीर विषय पर चर्चा कर रहे थे तो यही बात अपने नौकर के सामने दोहराई और पूछा–'क्यों, तुम्हारी क्या राय है?'

मित्र ने कहा–'शास्त्रीजी! मुझे आपका यह व्यवहार आज तक समझ में नहीं आया। मैं आपसे एक मसले पर चर्चा कर रहा हूं और आप नौकर से राय मांग रहे हैं।' इस पर शास्त्रीजी ने उस मित्र को एक घटना सुनाई कि गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत के जनक न्यूटन के घर उनकी बिल्ली ने बच्चे दिए। रात को जब घर के सारे दरवाजे बंद हो जाते तो बिल्ली और उसके बच्चे बाहर निकलने के लिए उत्पात मचाते।

न्यूटन ने नौकर को बुलाकर कहा–'इस दरवाजे में दो छेद कर दो, एक छोटा, एक बड़ा।'

नौकर ने कहा–'सर, दो छेद की तो जरूरत ही नहीं है, एक ही बड़ा छेद काफी है, क्योंकि जिस छेद से बिल्ली निकल जाएगी, उस छेद से उसके बच्चे भी बड़ी आसानी से निकल जाएंगे।'

यह बात सुनकर न्यूटन हैरान रह गए कि इतनी छोटी-सी बात उनकी

समझ में क्यों नहीं आई?यह घटना बताकर शास्त्रीजी ने कहा–'कभी-कभी छोटे व्यक्ति की सलाह भी बड़े काम की साबित होती है।'

कहीं-कहीं छोटे आदमी भी बड़े काम की बात सुझा देते हैं। इसलिए संस्कृत साहित्य में एक कहावत चल पड़ी–बालादपि सुभाषितम्। अच्छी बात बच्चे से सीखी जा सकती है। इसलिए हर व्यक्ति के मन में यह जिज्ञासा जागे कि मुझे सत्य की खोज करनी है। उसी की दिशा में मुझे चलना है और भ्रांतियों के चक्रव्यूह को मुझे तोड़ना है। इसके लिए आवश्यक है धर्मध्यान का प्रयोग। यह प्रयोग हमारे कष्ट को, हमारी बेचैनी और मूर्च्छा को बहुत कम कर देगा।

छोटे-बड़े का ख्याल छोड़ें। प्रयोग की भूमिका पर न कोई बड़ा है और न कोई छोटा।

जो महिला रसोईघर में खाना बनाती है, वह एक बड़ी दार्शनिक बन सकती है। रसोई में काम करना एक बड़ा दर्शन है। वहां हर चीज में एकाग्र होना पड़ता है। रोटी तवे पर कितनी देर में सिक जाएगी, उसे ध्यान देना पड़ता है।

ध्यान और एकाग्रता का यह अभ्यास अगर नित्यप्रति वह अपने आम जीवन में करती है तो उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन घटित हो सकता है, किंतु अक्सर ऐसा नहीं होता। रसोईघर से बाहर फिर उसकी दूसरी दुनिया होती है

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि कोई आदमी जो दुःख को कम करना चाहता है, सुख का जीवन जीना चाहता है, उसे आर्त्तध्यान से मुक्त होकर धर्मध्यान का अभ्यास करना चाहिए। वह सत्य की खोज करे, नियमों की खोज करे।

खोज करते-करते एक दिन ऐसा आ सकता है कि वह सचाई को ढूंढ़ लेगा। ऐसा होने पर उसका सारा व्यवहार बदल जाएगा। व्यवहार बदल जाने पर सब लोग स्वतः उसकी ओर आकर्षित होंगे।

3. दुःख के हेतु

'एवं दुक्खा पमोक्खसि'–अध्यात्म के अनुभवी लोग कहते हैं कि यह आचरण करो, तुम दुःख से मुक्त हो जाओगे। केवल अध्यात्मविद् ही नहीं, सामाजिक लोग भी सुझाव देते हैं कि तुम ऐसा करो तो तुम्हारा दुःख दूर हो जाएगा। डॉक्टर कहते हैं कि यह दवा लो, तुम ठीक हो जाओगे, स्वस्थ हो जाओगे। इसका तात्पर्य यह है कि सुख और दुःख–इन दोनों के बीच में हमारा सारा चिंतन चल रहा है। अभिलाषा सभी की यही है कि सुख हो, दुःख न हो, किंतु स्थितियां ऐसी हैं कि दुःख होता है।

इस सचाई को हम स्वीकार कर चलें कि पूर्ण दुःखमुक्ति कभी नहीं हो सकती। बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्य बतलाए गए हैं। उनमें पहला है–अस्ति दुक्खं–दुःख है। दुःख है, दुःख का हेतु है। निर्वाण है, निर्वाण का हेतु है। हम दुःख और दुःख के हेतु–इन दोनों पर विचार करें।

दुःख के प्रकार

दुःख दो प्रकार का होता है–1. शारीरिक 2. मानसिक।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया–

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो! दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो॥

जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग और मृत्यु दुःख है। इस तरह यह संसार ही दुःखमय है। प्रश्न हो सकता है कि जन्म दुःख कैसे है? यह एक शोध का विषय है। हमें अथवा आपको इस तरह की अनुभूति नहीं हो सकती, किंतु कहा जाता है कि जन्म के समय बच्चे को बहुत तीव्र वेदना के दौर से गुजरना पड़ता है। उस समय यदि बच्चा बोलने की स्थिति में हो तो उस दारुण वेदना को वह शब्दों में व्यक्त कर सकता है, किंतु वाणी की शक्ति न होने के कारण वह उस घोर पीड़ा को मात्र रोकर व्यक्त करता है।

शारीरिक दु:ख

रोग दु:ख है, इसमें कोई दो राय नहीं। बीमार आदमी इसका भुक्तभोगी है। वृद्धावस्था का दु:ख कम पीड़ादायी नहीं होता। लकड़ी के सहारे धीरे-धीरे चल रहे किसी वयोवृद्ध से पूछें कि उसे कैसा अनुभव होता है, वह अपनी पीड़ा बयान कर देगा। मृत्यु के समय भी असह्य वेदना होती है, किंतु आदमी की वाक्शक्ति उस समय प्राय: चली जाती है। अंतिम सांस ले रहे आदमी की सारी वेदना उसकी आंखों में दिखाई देगी। प्राण बहुत मुश्किल से निकलता है। अंतिम हिचकी आने के बाद ही इस वेदना से मुक्ति मिलती है।

इस तरह संसार में दु:ख के अनगिनत अवसर आते हैं। आप कह सकते हैं कि जो पहले चले जाते हैं युवावस्था में, वे बुढ़ापे के दु:ख से बच जाते हैं, किंतु पहले चले जाना अपने आप में स्वयं दु:ख है। सामान्यत: आदमी की आयु सौ वर्ष मानी गई है। आदमी यदि चालीस-पचास वर्ष की आयु में चला जाता है तो मानना चाहिए कि उसकी अकालमृत्यु हुई है। अकालमृत्यु के कई कारण हैं।

दुर्घटनाग्रस्त हो जाना, यह तो आकस्मिक मृत्यु है। एक अकालमृत्यु धीरे-धीरे होती है। आदमी तिल-तिल कर मौत की ओर अग्रसर होता है। आयुर्वेद के जानकार कहते हैं कि सफेद दानेदार चीनी स्लो पोइजन है, धीमा जहर है। आप इसका सेवन शुरू करें, यह क्रिस्टल शुगर आपको धीरे-धीरे मौत के मुहाने पर पहुंचा देगी। तीव्र नशा करने वाले भी धीरे-धीरे अकालमृत्यु की ओर अग्रसर होते हैं।

अकालमृत्यु का कारण अल्प-आयुष्य भी हो सकता है। इसे अकालमृत्यु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मरने वाले का इतना ही आयुष्य था। आयुष्य लंबा लेकर आने वाला यदि बीच में ही चला जाता है तो वह अकालमृत्यु कही जाएगी।

मानसिक दु:ख

अशांति का सबसे बड़ा कारण मानसिक दु:ख है। मन यदि मजबूत है तो आदमी शारीरिक दु:ख की परवाह ही नहीं करेगा। ऐसे मनोबली मिल जाएंगे कि दुर्घटना में हाथ या पैर कट गए, फिर भी मुंह से उफ नहीं निकलेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी इतने प्रबल मनोबली थे कि एक सौ दो डिग्री बुखार में भी पट्ट पर विराजे रहते थे। जिसका मनोबल कमजोर है, वह थोड़ी-सी भी शारिरिक वेदना सहन नहीं कर पाएगा, चारपाई पकड़ लेगा। मानसिक दु:ख आदमी को भीतर से तोड़ देता हैं।

प्रिय का वियोग और अप्रिय का संयोग आदमी को मानसिक रूप से व्यथित कर देता है। कभी-कभी संयोग में भी दु:ख होता है। बड़ी विचित्र है आदमी की मनोवृत्ति और उसका मन। विदाई के समय दुल्हन रोती है। कहा जाता है कि अपने प्रियजनों से उसका विछोह हो रहा है, इस दु:ख में वह रोती है, किंतु वियोग के साथ-साथ संयोग भी तो किसी से होने जा रहा है, फिर रोने की क्या बात? किंतु प्रिय से संयोग में भी मानसिक दु:ख की स्थिति का प्रक्षेप निहित होता है, फिर भी मानसिक दु:ख की स्थिति वहां निर्मित नहीं होती है। वह दु:ख का हेतु बन जाता है। कभी-कभी हेतु सामने आता है, किंतु दु:ख प्रकट नहीं होता।

दोनों स्थितियां बनती हैं। प्रिय के संयोग में कभी-कभी दु:ख छिपा रहता है और प्रिय के वियोग के समय तो दु:ख सामने आता ही है। प्रिय का वियोग हुआ तो आदमी रोता है, विलाप करता है, आर्त्तध्यान करता है। यह सारा मानसिक दु:ख है, शारीरिक दु:ख नहीं है। कुछ लोग तो भयंकर दु:खी बनते हैं। यहां तक कि कोमा में चले जाते हैं। उन्हें अपना भान भी नहीं रहता। ठीक इसी तरह अप्रिय का वियोग भी दु:ख दे जाता है। बीमारी सबको अप्रिय है। उसे मिटाने में भी दु:ख का अनुभव होता है। बीमारी के निदान में भी कष्ट सहना पड़ता है। ऑपरेशन के समय भारी कष्ट सहना पड़ता है। चीड़फाड़ के समय बेहोशी की स्थिति में भले ही दर्द न हो, किंतु उसके बाद जब मरीज होश में आता है तो दर्द बहुत होता है। अप्रिय व्यक्ति भी दु:ख देकर ही जाता है। बुरा आदमी यदि पिंड छोड़कर जाएगा तो कुछ न कुछ कष्ट देकर ही जाएगा। चोर-लुटेरे लूटपाट करने के बाद जाते समय जान से नहीं मारेंगे तो दो-चार डंडा जरूर लगाकर जाएंगे।

एक भाई ने बताया कि किराए पर कमरा दिया तो किराएदार ने रोज मुसीबत खड़ी कर दी। बाद में तो कमरा खाली करने से ही इनकार कर दिया। चालीस हजार रुपये देकर किसी तरह कमरा खाली कराया। अप्रिय का वियोग भी सहज नहीं होता। वह भी कुछ न कुछ तकलीफ जरूर देता है। इस तरह जन्म आदि ये चारों अवस्थाएं मानसिक दु:ख की हेतु और उसकी अभिव्यक्ति हैं।

दु:ख मुक्ति के उपाय

मानसिक दु:ख पर सूक्ष्मता से विचार करते हुए एक और चिंतन प्रस्तुत किया गया—क्या प्रिय का वियोग होने पर सबको दु:ख होता है? क्या अप्रिय

का संयोग होने पर दु:ख होता है? नहीं, यह समग्र सत्य नहीं है। यह सापेक्ष सत्य है। समग्र सत्य की बात तो हमारे लिए बहुत जटिल है। एक बात के अनेक पक्ष और पहलू होते हैं।

पहला उपाय है शुद्ध बुद्धि

जो अल्पबुद्धि वाला है, वह दु:खी बनता है। जो निर्मल और शुद्ध बुद्धिवाला है, वह दु:खी नहीं बनता। कहा गया–शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः–शुद्ध बुद्धि कामधेनु होती है। वह दु:ख नहीं देती। दु:ख का कारण बनती है अल्पबुद्धि।

मां ने अल्पबुद्धि बेटे से कहा–'जाओ बाजार से चीनी लाओ।'

लड़का बाजार गया। लौटकर आया तो मां ने कहा–'चीनी कहां है?'

बेटे ने कहा–'थोड़ी देर बाद मिलेगी।'

मां ने कहा–'थोड़ी देर बाद क्यों, उसकी तो अभी जरूरत है।'

बेटे ने कहा–'बाजार से लाते समय थैला हाथ से छूट गया और चीनी धूल में गिर गई। मैंने उसे इकट्ठा कर पानी की बाल्टी में डाल दिया है। चीनी घुल जाने के बाद निकाल लूंगा।'

अल्पबुद्धि को सचाई समझ में नहीं आती। वह यथार्थ को पकड़ नहीं पाता, क्योंकि सूक्ष्म सत्य स्थूलबुद्धि से कभी पकड़ा नहीं जा सकता। बहुत से सत्य ऐसे हैं, जिन्हें समझने के लिए सोचना पड़ता है। पता लगाना पड़ता है कि यह कैसे हुआ? या यह कैसे हो सकता है?

बहुत वर्ष पहले हम भिवानी आए थे। वहां एक वैद्यजी नाड़ी विशेषज्ञ थे। आयुर्वेद में नाड़ीविद्या एक विद्या है। कुशल नाड़ीवैद्य सैकड़ों मील दूर से ही मात्र रोगी के दूत का परीक्षण कर दूर बैठे रोगी के रोग को जान लेता है। यह बात सामान्य आदमी की समझ में नहीं आएगी कि ऐसा कैसे हो सकता है, किंतु यह सत्य है और प्राचीन समय में भी इस तरह से रोगी का इलाज किया जाता था।

रोगी भिवानी में है और वैद्य दिल्ली में बैठा हैं। भिवानी से रोगी का दूत वैद्यजी के पास दिल्ली गया। वैद्य दूत को दो थप्पड़ मारकर भिवानी में बैठे रोगी का इलाज कर देगा। ऐसे लोग भी हुए हैं और आज भी हैं। सूक्ष्म जगत के ऐसे सूक्ष्म नियम हैं, जिन्हें स्थूलबुद्धि का आदमी पकड़ नहीं सकता। शरीर के किसी अवयव में दर्द है। टेबलेट पानी के साथ निगल ली। अब वह दवा

उसी अवयव पर असर करेगी, दूसरे पर नहीं, इसका क्या नियम है, यह सब नहीं जान सकते।

शुद्ध बुद्धि वाला कभी मानसिक दु:ख में नहीं जाता। प्रिय के वियोग में वह दु:खी नहीं बनेगा। दु:ख के प्रसंग में कई परिवार मेरे पास आते हैं। हम उन्हें यही प्रतिबोध देते हैं कि प्रकृति के नियम को समझो। इस दुनिया में कुछ भी शाश्वत नहीं है। शाश्वत है एक हमारी आत्मा। इसके अतिरिक्त किसी और चीज को शाश्वत समझोगे तो दु:ख पाओगे। जो इस बात को गहराई से समझ लेते हैं, वे शोकमुक्त हो जाते हैं।

प्रिय का वियोग हो गया तो कुछ लोग उसे जीवनभर भुला नहीं पाते और दु:खी बने रहते हैं। फायदा क्या मिला? कुछ भी नहीं। दु:खी बनने से प्रकृति के नियम तो नहीं बदल जाएंगे। गया हुआ वापस नहीं आएगा और उसकी स्मृति में अपने शरीर को सुखा डाला तो तुम्हारा ही नुकसान है। शुद्ध बुद्धि वाला सत्य के साथ चलता है, नियम को स्वीकार करके चलता है।

दूसरा उपाय है स्थान परिवर्तन

राजस्थान के कुछ संभाग ऐसे हैं जहां यह प्रथा है कि पति के दिवंगत हो जाने के पश्चात् उसकी पत्नी असूर्यंपश्या बन जाती है। घर के किसी अंधेरे कक्ष के कोने में बैठ जाती है। उसे वहीं भोजन आदि दे दिया जाता है। वह जीवनभर कभी बाहर नहीं निकलती। किसी आयोजन, प्रयोजन और शुभ कार्य में उसकी उपस्थिति अशुभ मानी जाती है। वर्षों-वर्षों तक अंधेरे कोने में बैठी रहने के कारण उसके घुटने जाम हो जाते हैं। नारकीय यातना सहती हुई एक दिन वह स्वयं इस दुनिया से विदा हो जाती है। यह एक तरह की धीमी आत्महत्या है।

एक बार ऐसा ही प्रसंग बना। गुरुदेव विहार कर रहे थे। गांव का एक आदमी आया और बोला–'आप गांव के अमुक घर में एक बहिन को दर्शन दें।' गुरुदेव ने सोचा–बहिन बीमार होगी। अनुकंपा कर उस घर के सामने पधारे। कहा–'उस बहिन को बुलाओ।' बताया गया कि वह बाहर नहीं आ सकती।

गुरुदेव ने कहा–'इतनी अशक्त बीमार है?'

लोगों ने कहा–'बीमार नहीं है। छह महीने पहले पति का स्वर्गवास हो गया था। अब वह घर से नहीं निकल सकती।'

गुरुदेव ने आश्चर्य के साथ कहा–'छह महीने से वह घर के भीतर बैठी है? पति दिवंगत हो गया तो उस बहिन का क्या दोष? उसे बाहर लाइए। मैं

उससे बात करना चाहता हूं।' इसके बावजूद वह बहिन घर से बाहर निकलने को तैयार नहीं हुई।

गुरुदेव ने कहा–'यदि बहिन बीमार होती तो मैं घर के भीतर उसके पास जाकर दर्शन दे सकता था, किंतु जिस बुराई और कुप्रथा के खिलाफ मैं चालीस वर्षों से संघर्ष कर रहा हूं, उसे प्रश्रय कैसे दूं?' और यह कहकर गुरुदेव आगे बढ़ गए।

स्थान और परिस्थितियां भी दुःख को बढ़ाने वाली होती है। घटना वाले स्थान पर रहने से बार-बार घटना की स्मृति बनी रहती है। उस स्थान को बदल कर दूसरे स्थान पर चले जाएं तो मानसिक दुःख का बहुत कुछ शमन हो जाता है, उसमें बहुत परिवर्तन आ जाता है।

तीसरा उपाय है सहनशीलता

अप्रिय का संयोग होने पर भी दुःख का वेदन न हो, यह प्रयोग और अभ्यास हर आदमी को करते रहना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसीलिए लिखा–

निंदक नियरे राखिए, आंगन कुटी छवाय।

निंदक को नजदीक में रखिए, चाहे इसके लिए अपने आंगन में ही कुटी छवानी पड़े। इसके बड़े फायदे हैं। बार-बार अपना आत्मविश्लेषण करने के अवसर मिलेंगे।

दूसरा जो बड़ा फायदा है वह यह कि अप्रिय के निरंतर आंखों के सामने रहने से एक अभ्यास हो जाएगा, फिर आप बार-बार दुःख में नहीं जाएंगे। आप अप्रिय व्यक्ति के संसर्ग के अभ्यस्त हो जाएंगे। उसके व्यवहार से दुःखी नहीं बनेंगे। अप्रिय का संयोग होने पर भी दुःखी नहीं बनना बहुत बड़ी बात है।

जिनका मन और बुद्धि शुद्ध है, वे हर चीज को सकारात्मक रूप में लेते हैं। किसी के द्वारा सताए जाने पर भी उनका चिंतन यही होता है कि अच्छे और बुरे हर तरह के लोग इस दुनिया में हैं। किसी ने मुझे गाली दी और निंदा की तो वह मेरे शरीर से चिपकी तो नहीं है, फिर उसके लिए मैं अपने-आप को भारी क्यों बनाऊं। आज की भाषा में सोचेगा कि मैं क्यों फालतू टेंशन लूं?

कोई जरूरी नहीं है कि इस दुनिया में सबकुछ हमारे अनुकूल ही हो। प्रतिकूल को भी सहन करने और उसे झेलने की क्षमता स्वयं में पैदा करनी चाहिए। दुःखों को कसौटी का क्षण माना जाना चाहिए। भोजन में मिष्ठान

को हम पसंद करते हैं तो तिक्त और कड़वी चीज का भी अपना स्वाद होता है। यदि न होता तो मिर्च और करेला व्यर्थ की चीज मानी जाती है। मूल्य हर चीज का है।

अप्रिय को सहन करने वाला कभी मानसिक दुःख नहीं पाता। हमारे सामने भी कभी-कभी ऐसे प्रसंग आते हैं। संघ में इतने साधु-साध्वियां हैं। अमुक के साथ नहीं रहूंगा या अमुक को अपने साथ नहीं रखूंगा, कभी-कभी इस तरह की बातें सामने आती हैं। हमारी ओर से यही प्रतिबोध होता है कि सहन करने से क्षमता बढ़ती है। एक एंटीबॉडी का निर्माण होता है, जो साधना में बहुत सहायक होती है। एक बात यहां और कह दूं कि सहन करने का अभ्यास यदि नहीं है, क्षमता नहीं है तो साधना के क्षेत्र में उतरने से पहले कई बार सोच लेना चाहिए। धर्म और अध्यात्म का रास्ता इतना सरल और सपाट नहीं है। कई तरह के आरोह-अवरोह और अवरोध आते हैं। बात-बात पर दुर्वासा बनेंगे तो यह रास्ता बीहड़ और कठिनाई भरा हो जाएगा।

हमारे संघ में ऐसे शुद्ध बुद्धि वाले साधु भी थे, जो आचार्यप्रवर से प्रार्थना करते थे कि गुरुदेव! जो साधु कहीं भी नहीं जम पा रहा हो, उसे हमारे साथ भेजें। साध्वियों में से भी कई साध्वियां इतनी सहनशील और शुद्ध बुद्धि की थीं। प्रार्थना करतीं–जो साध्वी कहीं भी सेट नहीं हो रही हो, आप हमारे साथ कर दें। यह है शुद्ध बुद्धि की क्षमता। कठिनाई और प्रतिकूलता को जो चुनौती मान कर उसे झेलने के लिए तैयार हो, वही क्षमतावान और समतावान है, इसलिए यह सूक्ति बहुत सुंदर है–मानसै दुःखैः खिद्यन्ते स्वल्पबुद्धयः।

स्वल्प बुद्धि वाला मानसिक दुःखों से पीड़ित होता है। यदि पूछा जाए कि हमारी दुनिया में शारीरिक दुःख ज्यादा है या मानसिक दुःख ज्यादा है? तो शायद यही सही उत्तर होगा कि मानसिक दुःख ज्यादा हैं। सही बात यह है कि शारीरिक दुःख भी ज्यादातर मानसिक दुःख के कारण पैदा होते हैं।

मन स्वस्थ नहीं है, हर समय तनावग्रस्त रहता है तो कहीं न कहीं ट्यूमर जरूर बनेगा। टी.बी., कैंसर जैसी बड़ी बीमारियां पैदा हो जाती हैं। ऐसा भी देखने में आता है कि कुछ लोग स्वयं को बहुत अस्वस्थ महसूस करते हैं, जबकि सभी तरह की डॉक्टरी जांच में कोई नेगेटिव रिपोर्ट नहीं आती। डॉक्टर कहते हैं कि इसके कोई बीमारी नहीं है और आदमी कहता है कि मैं मरा जा रहा हूं। इसका तात्पर्य बहुत साफ है कि शरीर की बीमारी नहीं है, उसकी बीमारी पूर्णरूप से मन की बीमारी है।

बुद्धि को हम शुद्ध बनाएं। जो स्वल्प है, उसे दूरगामी सूक्ष्म बनाएं। सूक्ष्म को खोजने का प्रयत्न करें तो फिर प्रिय का वियोग और अप्रिय का संयोग हमें ज्यादा प्रभावित नहीं कर पाएगा, इसलिए जरूरी है कि हम मानसिक दु:खों को यथासंभव कम करें। कम करने का तात्पर्य यह है कि उनसे अप्रभावित रहने का प्रयत्न करें।

सर्दी, गर्मी, बरसात–सब जीवन में आते रहेंगे। यदि इन ऋतुओं को हम स्वीकार कर उनके अनुकूल स्वयं को ढ़ाल लेते हैं तो जीवन की कठिनाइयों को क्यों नहीं सह सकते? शरीर के दु:ख को भी मन तक न पहुंचने दें। उसे शरीर तक ही सीमित रहने दें। मन में इतना दर्द न पालें कि पागलपन की स्थिति में पहुंच जाए। आदमी पूरा पागल भी नहीं है, किंतु मानसिक दु:खों से आधा पागल बना हुआ है।

एक लड़का पड़ोसी के मकान पर पत्थर मारकर उसकी खिड़की का कांच तोड़ दिया करता था। पड़ोसी उस लड़के के पिता के पास गया और नाराजगी व्यक्त करता हुआ बोला–'संभालो अपने लड़के को, इसकी हरकत मैं ज्यादा दिन तक बर्दाश्त नहीं कर पाऊंगा।'

लड़के का बाप बोला–'आप नाराज न हों। वह पागल है।'

'पागल है तो आपके मकान पर पत्थरबाजी क्यों नहीं करता? शीशा और कांच तो आपके घर में भी लगा है?' पड़ोसी ने प्रतिवाद किया।

'वह इतना पागल नहीं है', लड़के के पिता ने कहा और घर के अंदर चला गया।

मानसिक दुश्चिंताएं आदमी को आधा पागल और कभी-कभी तो पूरा पागल बना देती हैं। पूरे पागल के लिए तो आगरा और रांची के बड़े-बड़े पागलखाने हैं, किंतु जो आधे, तिहाई और चौथाई पागल हैं, वे कहां जाएं? वे तो घर, गली, कूचे, दुकान, ऑफिस में ही मिलेंगे। बहुत आवश्यक है कि शुद्ध बुद्धि का विकास करें, सत्य का ज्ञान और प्रकृति के नियमों का ज्ञान करें तथा सचाई को समझने का प्रयत्न करें, जिससे मानसिक दु:खों से छुटकारा मिले।

4. दुःख है आकांक्षा का विस्तार

जिस व्यक्ति के मन में करुणा है, संवेदनशीलता है, वह सोचता है कि दुनिया का कोई भी प्राणी दुःखी न रहे, कष्ट न पाए। चिंतन अच्छा है, पर हमें दुःख के बारे में विवेचन करना है। जब तक किसी वस्तु का विभज्यवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण नहीं किया जाता, तब तक समस्या नहीं सुलझती।

दुःख के प्रमुख दो कारण हैं। पहला कारण है अभाव। इसके कारण आदमी दुःखी बनता है। खाने के लिए रोटी नहीं है, रहने को मकान नहीं है, पहनने को कपड़ा नहीं है, इलाज कराने के लिए पैसा नहीं है, ऐसी स्थिति में आदमी दुःखी बन जाता है। दुःख का दूसरा कारण है असंतुष्टि। इसके कारण दुःख उत्पन्न होता है। सबकुछ मिल गया, सारी प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी हो गईं, कोई कमी नहीं है, पर उतना नहीं है, जितना पड़ोसी के पास है। यह अभाव से उत्पन्न दुःख नहीं है, यह असंतोष से, अतृप्ति से उत्पन्न होने वाला दुःख है।

बीमारी अतृप्ति की

अभाव का इलाज संभव है। उसकी पूर्ति की जा सकती है। अभाव की समस्या को सुलझाया जा सकता है। इस समस्या को दूर करने का प्रयत्न सरकारी स्तर पर भी होता है, सामाजिक स्तर पर भी होता है, किंतु असंतोष, अतुष्टि या अतृप्ति के कारण पैदा होने वाले दुःख का इलाज न तो किसी राजनेता के पास है और न किसी चिकित्सक के पास। यह दुःख मात्र आध्यात्मिक चिंतन के द्वारा मिट सकता है, धार्मिक चिंतन के द्वारा मिट सकता है, अन्यथा इस रोग का और कोई उपाय नहीं, कोई दवा नहीं है। आज हॉस्पिटल, डॉक्टर, दवाइयां–ये सब प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं और रोग के शमन में सहायक बनते हैं, किंतु जिस व्यक्ति के मन का रोग है, वह औषधि या दवा से नहीं मिटाया जा सकता। मन की बीमारियों के लिए मेंटल हॉस्पिटल हैं, जहां मनोवैज्ञानिक तरीके से मनोरोगियों का इलाज किया जाता है। पागलों का इलाज पागलखाने में किया जाता है, किंतु समझदार आदमी के मन का इलाज बहुत मुश्किल है।

जिसे अतृप्ति की बीमारी हो, असंतुष्टि की बीमारी हो, उसका क्या इलाज हो सकता है? ऐसे आदमी को कुबेर का खजाना मिल जाए तो भी वह संतुष्ट नहीं होगा। अतृप्ति को भरना बहुत कठिन है।

राजा के राजकोष में ऐसा बर्तन या पात्र रखा गया, जो कभी भरता नहीं था। कितना भी डालते जाओ, वह अपूर्ण या खाली ही रहता था, क्योंकि उसमें नीचे छेद था। राज्य सभा में चर्चा हुई कि राज्य में इतने नागरिक हैं, इतने सेठ-साहूकार और धनी लोग हैं, व्यापारी हैं और बड़े-बड़े सामंत हैं, किंतु राजा की इच्छा पूरी करने वाला अभी कोई आदमी नहीं है। एक सभासद ने खड़े होकर पूछा–'ऐसी कौन-सी इच्छा है महाराज! वह हमें बताएं। हम उसे पूरा करने का प्रयत्न करेंगे।' उसे बताया गया कि राज्य का राजकोष या भंडार कभी भरता नहीं है। अगर वह भर जाए तो महाराज संतुष्ट हो सकते हैं, पर अभी तक कोई उसे भरने वाला सामने नहीं आया। कई लोगों ने एक साथ खड़े होकर कहा–'राजा प्रजापालक और हम सबका रक्षक है, स्वामी है। उसको संतुष्ट रखना हम सबका परम कर्तव्य है। हम इस काम को पूरा करने का दायित्व स्वयं पर लेते हैं। जैसे भी होगा, हम भंडार को भरकर अपने राजा को संतोष प्रदान करेंगे।' राज्य के पांच श्रेष्ठ धनिक राजा के पास गए और बोले–'महाराज! आपकी प्रसन्नता में ही हम सबकी प्रसन्नता है। हमें पता चला है कि आपके मन में असंतोष है और उसका कारण है राजकोष की रिक्तता। हम राजकोष को भरने की जिम्मेदारी लेते हैं, अब आप संतुष्ट हो जाएं।' इतना कहकर वे लोग चले गए।

दूसरे दिन वे बहुत सारे हीरे-जवाहरात और स्वर्ण मुद्राएं बोरों में भरकर लाए और राजकोष प्रभारी के पास जाकर बोले–'हमारे द्वारा लाए गए धन को आप राजकोष में जमा कराएं। हम कोष भरना चाहते हैं।' राजकोष के प्रभारी ने भंडार का दरवाजा खोला और कहा–'आप जो कुछ भी लाए हैं, इस पात्र में डाल दें।' श्रेष्ठियों ने लाए गए बोरों के मुंह पात्र में खोलकर सारी अशर्फियां उस पात्र में उंडेल दीं। एक-एक कर बोरे में से सारा धन उस पात्र में डाल दिया गया, किंतु थोड़ी देर में ही पात्र खाली हो गया।

जिसके नीचे छेद है, उसे कैसे भरा जा सकता है? मनुष्य के मस्तिष्क में भी छिद्र है। जैन दर्शन में उस छिद्र का पारिभाषिक नाम है आश्रव। जब आश्रव है, दरवाजा खुला है, पात्र के नीचे छेद है, तब तक उसे भरा नहीं जा सकता। जब तक इस छिद्र को बंद नहीं किया जाता, तब तक उसे भरा नहीं जा सकता। जो कुछ भी ऊपर से डाला जाता है, तत्काल नीचे चला जाता है।

प्रश्न है–आश्रव का निरोध कैसे करें? अतृप्ति और अतुष्टि है, उसका परिष्कार कैसे करें? जब तक अतुष्टि का परिष्कार नहीं होता, कोई भी आदमी सुखी नहीं बनता, वह दुःखी बना रहता है। एक आदमी ने सोचा–अगर मेरे पास सौ रुपए हो जाएं तो कितना अच्छा हो, मेरी जरूरतें उससे पूरी हो जाएंगी। पुराने जमाने में सौ रुपए कम नहीं होते थे। एक रुपए में पूरे महीने का खर्च निकल जाता था। उस आदमी ने सौ रुपए की आकांक्षा की। संयोग से उसे सौ रुपए मिल गए। उस आदमी के मन में हजार रुपए की आकांक्षा जागी। उसकी यह इच्छा भी पूरी हो गई, फिर उसने सोचा हजार रुपये वाले तो बहुत से लोग हो गए हैं, अगर लाख रुपये हो जाएं तो इस पूरे इलाके में मैं ही एक लखपति कहलाऊंगा।

किस्मत की बात कि एक दिन वह लखपति भी बन गया। फिर उसने सोचा? लखपति मेरे गांव में नहीं तो क्या हुआ, पास वाले नगर में तो कई लखपति हैं, हां करोड़ रुपए हो जाएं तो मैं करोड़पति बन जाऊंगा। करोड़पति तो यहां आस-पास कोई ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। वह आदमी आगे से आगे अपनी आकांक्षा का विस्तार करता गया। आखिर यह क्यों नहीं सोचा जाता कि रुकना कहां है? स्टोपेज कहां है? वह कौन-सा बिंदु है, जहां पहुंचकर हमें रुक जाना है, थम जाना है? उसे आखिरी सीमा मान लेनी है। गति इतनी तेज है कि इस पर ब्रेक नहीं लगाया गया तो दुर्घटना हो सकती है। वह स्टेशन कहां है, जहां पहुंचकर ट्रेन रुक जाए? वह बस अड्डा कहां है, जहां पहुंचकर बस रुके? बस, ट्रेन, हवाईजहाज के स्टेशन या रुकने के अड्डे भी हैं, किंतु अनियंत्रित मन या इच्छा के रुकने का स्टेशन कहां है, किसी को पता नहीं है। न आज तक इसकी हवाई पट्टी पकड़ में आई, न कोई स्टॉप और स्टेशन दिखाई पड़ा।

क्या चाहिए?

हमें उसे पकड़ना है, जो हमारे भीतर है। हमें उसे पकड़ना है, जो भीतर बैठा अनगिन चाह पैदा कर रहा है। यह चाह ही दुःख का कारण बनती है। आदमी के मन में चाह है और फिर उसे निमित्त भी मिल जाए तो वह बेलगाम हो जाती है। किसी के पास सुंदर आभूषण है, उससे वह संतुष्ट है, किंतु जैसे ही उससे सुंदर या वैसा ही आभूषण किसी दूसरे के पास वह देख लेता है, उसकी सारी प्रसन्नता काफूर हो जाती है, गायब हो जाती है।

पदार्थ को देखते-देखते चाह पैदा होती है और वह चाह दुःख पैदा करती है। इस चक्र का अंत कहां है, उसे खोजना है। जब तक सीमा का पता नहीं चलेगा, कोई सुखी नहीं हो सकेगा।

एक महात्मा प्रवचन कर रहे थे। सामने विशाल परिषद प्रवचन सुन रही थी। प्रश्न आया सुख और दुःख का। एक आदमी ने खड़े होकर पूछा–'महाराज! इस दुनिया में इतने सारे लोग दुःखी क्यों हैं? छोटे और अभावग्रस्त लोग दुःखी होते तो समझ में आने वाली बात होती है, किंतु बड़े-बड़े महलों में रहने वाले लोग भी दुःखी हैं, इसका कारण क्या है? क्या आपकी दृष्टि में कोई ऐसा आदमी है, जो पूर्णरूप से सुखी है?'

महात्मा ने उसके उत्तर देने का प्रायोगिक तरीका अपनाया, वाचिक स्तर पर उत्तर नहीं दिया। उन्होंने कहा–'तुम जाओ और पहली पंक्ति में बैठे लोगों से पूछो कि उन्हें क्या चाहिए?' वह आदमी पहली पंक्ति में बैठे लोगों के पास गया और प्रत्येक आदमी से पूछना शुरू किया कि बताओ भाई! तुम्हें क्या चाहिए? पहला आदमी जिससे यह प्रश्न पूछा गया, बहुत धनी आदमी था। उसने कहा–'ऐसा क्यों पूछा जा रहा है?' उसने कहा–'मुझे तो मालूम नहीं, महात्माजी ने कहा है, इसका उत्तर पूछकर बताओ।'

वह धनी आदमी बोला–'और तो मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरे पास सबकुछ है, पर एक कमी मुझे खलती है। व्यापार में अभी मैं दो नंबर पर हूं। मेरी इच्छा एक नंबर का उद्योगपति बनने की है।' दूसरे से पूछा, तीसरे से पूछा, पांचवें, दसवें, बारहवें आदमी से क्रमशः पूछता गया। सबने अपनी कुछ न कुछ इच्छा बताई और अंत में वह आखिरी आदमी के पास पहुंचा। उससे भी यही सवाल किया–'तुम्हें क्या चाहिए?'

'मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।'

'कुछ तो बताइए। इसमें संकोच की कोई बात नहीं है।'

'मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।'

बहुत आग्रह के बाद भी उस व्यक्ति का यही उत्तर रहा–'मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।' महात्माजी के पास आकर सबके उत्तरों की रिपोर्ट दी। कहा–'महाराज! यह सबकी मांगों की तालिका है। सभी को कुछ न कुछ चाहिए, किंतु इनमें से एक आदमी बड़ा विचित्र है। वह कहता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। बहुत आग्रह के बावजूद भी उसने कुछ नहीं मांगा।'

महात्माजी ने कहा–'अब मैं तुमसे एक सवाल पूछता हूं, तुम उसका उत्तर दो।'

'पूछें महाराज!'

'तुमने जिन-जिन व्यक्तियों से उनकी इच्छाएं पूछी, उनके चेहरों को ध्यान से देखा?'

'मैंने उन्हें बहुत ध्यान से देखा।' 'उन व्यक्तियों के चेहरे में, जिन्होंने किसी न किसी चीज की मांग की और उस व्यक्ति के चेहरे में जिसने किसी चीज की आकांक्षा नहीं की, तुमने कोई अंतर देखा?'

'एक बहुत बड़ा अंतर देखा महाराज! उस निरपेक्ष आदमी के चेहरे पर संतोष और प्रसन्नता की जो आभा, जो चमक देखी, उसका चौथाई हिस्सा भी उनके चेहरों पर नहीं दिखाई दिया।'

महात्माजी ने कहा–'यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। तुमने अभी पूछा कि लोग इतने दुःखी क्यों हैं? क्या कोई ऐसा आदमी है जो पूर्णरूपेण सुखी और प्रसन्न हो? जिसके मन में कोई चाह है, आकांक्षा की बीमारी है, उसका चेहरा अलग प्रकार का होगा और जिसके मन में कोई कामना नहीं है, उसका चेहरा अलग तरह का होगा, उसका आभामंडल भिन्न प्रकार का होगा। बहुत कठिन है चाह को छोड़ना, अतृप्ति को छोड़ना। इस गड्ढे को भरना बहुत कठिन है, किंतु यह भी सचाई है कि जब तक तृप्ति नहीं मिलती, तब तक आदमी सुखी नहीं हो सकता। आज की समस्या यह है कि पदार्थों का अंधाधुंध निर्माण हो रहा है। उनकी गणना करना बहुत मुश्किल है। बाजार उपभोक्ता सामग्री से भरे पड़े हैं। बाजार में भी जो सुपर बाजार हैं, उसमें प्रवेश करो तो आंखें चुंधिया जाती हैं। भव्य शोरूम को देखने से लगता है जैसे किसी अद्भुत लोक में पहुंच गए हों। ग्राहक को आकर्षित करने के सारे साधन वहां मौजूद हैं। आदमी भ्रमित हो जाता है कि कौन-सी चीज लूं, कौन-सी न लूं। जल्दी से वह कोई निर्णय नहीं ले पाता।

विज्ञापन : उपभोक्ता

आदमी को विकास के नाम पर जान-बूझकर दुःखी बनाया जा सकता है। इतने पदार्थों का निर्माण आवश्यक नहीं है। जीवन चलाने के लिए आवश्यक पदार्थ हैं–रोटी, कपड़ा और मकान, पर आज तो रोटी के हजारों सब्सटिट्यूट हो गए हैं। खाद्य पदार्थों की संख्या की गणना करें और किसी बड़े होटल का मेन्यू देखें तो आपकी आखें खुली की खुली रह जाएगी। कपड़े के नाम पर परिधानों की अनेक किस्में विकसित हो गई हैं। मकानों का रूप भी बदल गया है। शहरों में हर मकान का नक्शा आपको एक-दूसरे से अलग मिलेगा। आजकल आर्किटेक्ट एक बंगले की डिजाइन, मॉडल या नक्शा बनाने के लाखों रुपए लेते हैं।

आदमी के खान-पान, रहन-सहन का सारा सिस्टम ही बदल गया है। पहले ऋतु के अनुसार खाद्य वस्तुएं मिलती थीं। अब कोई भी सब्जी, कोई भी फल आप बारह महीनें प्राप्त कर सकते हैं। आयुर्वेद का यह नियम है कि जिस ऋतु का जो फल है, वह उस ऋतु में खाने पर लाभ देता है और दूसरी ऋतु में खाने पर वही फल नुकसान करता है। फ्रीज का आविष्कार होने के बाद ताजा और बासी का अंतर ही समाप्त हो गया। सुविधा के नाम पर हानि-लाभ की बात गौण हो गई। आज से सौ-पचास वर्ष पहले क्या लोग आनंद से नहीं जीते थे? तब न कोल्ड स्टोर थे, न फ्रीज था, फिर भी वे आज के आदमी से कम सुखी या कम मजबूत नहीं थे। जितना-जितना पदार्थों का विस्तार हुआ है, उसी अनुपात में इच्छा का भी विस्तार होता जा रहा है, आकांक्षा बढ़ती जा रही है। आदमी एक साथ क्या-क्या पा लेना चाहता है। यह अनियंत्रित और उद्दाम लालसा ही आदमी को दुःखी बना रही है।

इस विषय पर हम आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें कि संयम का अभ्यास कैसे कर सकते हैं? वर्तमान वातावरण में पदार्थ के विस्तार को रोका नहीं जा सकता। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में इतनी स्पर्धा है कि चाह कर भी इस विस्तार को कम नहीं किया जा सकता। हर देश में इसके अलग-अलग विभाग हैं, अलग मंत्रालय हैं। उत्पादक कंपनियां बड़े-बड़े वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों की इस संदर्भ में सेवाएं ले रही हैं। वे नित नए किस्मों की खोज करती हैं, धूम-धड़ाके के साथ उन्हें बाजार में उतारती हैं, विज्ञापनों के द्वारा उपभोक्ता को उन चीजों का आदी बनाती हैं और फिर मनमाना पैसा वसूलती हैं। यह है आज के बाजार की कहानी।

अनावश्यक चीजें आ रही हैं। कल ही मैंने सुना कि एक वैज्ञानिक ने पशु की कोशिका लेकर एक नई तरह का मांस तैयार किया है। उसे शाकाहारी मांस कहा जा सकता है। मांस के लिए पशु को नहीं मारा जाएगा, वह कृत्रिम रूप से तैयार किया जाएगा, किंतु वह मांस है तो प्राणिज ही न? इसे अनावश्यक खोज ही कहा जा सकता है। सुखी जीवन के लिए जिसकी कोई अपेक्षा नहीं है, किंतु इस युग में प्रतिस्पर्धा के कारण नई-नई चीजें खोजी जा रही हैं। ये सब आदमी के दुःख का कारण बन रही हैं।

एसी. हटने से स्वस्थ

एक धनी आदमी बीमार हुआ। बहुत इलाज कराया, किंतु स्वस्थ नहीं हुआ। आमतौर पर जब आदमी दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई, बैंगलौर, चैन्नई के बड़े अस्पतालों में इलाज कराके थक जाता है, कोई विकल्प उसके सामने

नहीं रहता, फिर वह प्राकृतिक चिकित्सा की शरण में जाता है। सच बात यह है कि प्राकृतिक जीवन हो, प्राकृतिक भोजन हो और प्राकृतिक जीवनशैली हो तो बीमारी को प्रवेश पाने का कोई अवसर ही नहीं मिलेगा, किंतु आज का आदमी कृत्रिम साधनों का आदी हो गया है।

कृत्रिमता जीवन पर इतनी हावी हो गई है कि अब उससे सहज छुटकारा मिलना कठिन हो रहा है। आदमी सब उपाय करके हार जाता है तो फिर प्रकृति की शरण में जाता है। आजकल अंतिम शरण है 'योगा'। जो पहले ली जाने वाली चीज है, वह अंत में ली जाती है। वह धनी आदमी अस्पताल और डॉक्टरों से जवाब पाकर किसी प्राकृतिक चिकित्सक की शरण में गया। प्राकृतिक चिकित्सक ने कहा–'तुम बहुत देर से आए हो, अब कुछ नहीं किया जा सकता, फिर मरीज के बार-बार आग्रह करने पर उसने उससे कुछ बातचीत की।

चिकित्सक ने पूछा–'क्या तुम सचमुच स्वस्थ होना चाहते हो?' स्वस्थ होने की तुम्हारी प्रबल इच्छा है?' सब जगह से निराश उस आदमी ने कहा–'हां, मैं स्वस्थ होना चाहता हूं।' उस चिकित्सक ने अपना परामर्श देते हुए कहा–'तुम सबसे पहले एक काम करो। तीन घंटे तक किसी गर्म पानी के टब में बैठकर या लेटकर वाष्प स्नान करो।'

आजकल प्राकृतिक चिकित्सा में 'स्टीम बाथ' आदि चलते हैं। चिकित्सक के परामर्श को स्वीकार कर उसने वाष्पस्नान की प्रक्रिया शुरू कर दी। एक सप्ताह बाद सुधार की स्थिति बनीं, उसे लगा कि इससे कुछ फायदा हो रहा है। अनेक दवाइयों और इंजेक्शनों से जो फायदा नहीं हुआ, वह वाष्पस्नान से होता दिखाई दिया। दो सप्ताह में उसे बहुत ज्यादा फायदा हुआ और अंततः वह स्वस्थ हो गया।

एक दिन पानी के टब में लेटे-लेटे उसके मन में विचार आया कि यह क्या मूर्खता है। दिन भर मैं ए.सी. में रहता हूं और तीन घंटा गरम पानी में। यह समझदारी नहीं है। उसके चिंतन को झटका-सा लगा। उसने सोचा–फिर क्यों नहीं, यह ए.सी. सिस्टम ही बदल दूं। गरम पानी में बैठने के बजाय बिना ए.सी. के रह जाऊं तो उसकी पूर्ति हो जाएगी। अपने निर्णय को उसने क्रियान्वित भी कर डाला। सारे एयरकंडीशनर हटवा दिए और इसी के साथ गरम पानी के टब में बैठने से भी मुक्ति मिल गई।

यह सोचने की बात है कि कृत्रिम साधनों के द्वारा हमारा जीवन कितना प्रभावित हो रहा है। ये साधन शरीर पर विपरीत असर डाल रहे हैं। इनके जो

इफेक्ट्स हो रहे हैं, उन्हें मिटाने के उपाय खोजने की बजाय क्यों न उन साधनों से ही मुक्ति ले ली जाए? समझदारी किसमें है? यह सोचने की बात है। बीमार होने का उपाय करने के बाद, फिर उस बीमारी को दूर करने का उपाय खोजा गया, यह कितनी हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण बात है।

यह बात समझ में आ जानी चाहिए कि रोग हम स्वयं पैदा कर रहे हैं, दुःख हम पैदा कर रहे हैं। दुःख उतना नहीं है, किंतु अपने प्रमाद के कारण, अपनी भूलों के कारण दुःख और बीमारी को हम पैदा कर रहे हैं। उनका सुधार किया जाए तो बहुत अच्छा हो सकता है। हमें इस बात पर विचार करना है कि अभावजनित दुःख को मिटाने का उपाय कठिन तो है, फिर भी किया जा सकता है, किंतु अतृप्ति और असंतुष्टि से होने वाले दुःख को मिटाने का कोई उपाय बाहर की दुनिया में नहीं है। इस संदर्भ में संतोष की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज के जो विकासवादी लोग हैं, वे संतोष को गलत मानते हैं, उसे विकास के मार्ग में बाधा मानते हैं। वे कहते हैं कि हमें कहीं रुकना नहीं है, ठहरना नहीं है। संतोष उनकी दृष्टि में विकास के मार्ग का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है। उनका विचार अर्थ की दृष्टि से ठीक हो सकता है, किंतु आदमी के मन में अगर संतोष नहीं है तो वह अविराम गति उसे कभी न कभी किसी गर्त में पहुंचाकर रहेगी।

संतोष का मतलब ही है एक स्थान पर पहुंचने के बाद रुक जाना। 'बस, इतना काफी है, अब और नहीं'—यह उसका निर्णायक बिंदु है। 'मुझे ओर नहीं चाहिए'—यह उसकी सीमा है। एक विराम तो लेना ही पड़ेगा। आदमी भोजन करता है। इस प्रक्रिया में एक जगह पर ठहराव आता है। एक सीमा के बाद उसे कहना ही पड़ता है बस, अब ओर नहीं चाहिए। अगर खाता ही चला जाए तो? फिर वहां पहुंचेगा, जहां से लौटकर आना संभव नहीं है।

नो हाउ

सबकी सीमा है। रोटी की सीमा है, पानी की सीमा है, नींद की सीमा है। एक निश्चित मात्रा के बाद ये सारी चीजें, जो जीवनदायिनी हैं, वे प्राणघातक भी बन सकती हैं। हमें सीमा और संतोष का मूल्यांकन करना है। कहीं न कहीं तो रुकें। अंधी दौड़ में शामिल न हों। प्रसिद्ध उद्योगपति साहू शांतिप्रसादजी से मैंने पूछा—'आपके पास अनेक कारखाने हैं, फिर आप आगे से आगे नए कारखाने क्यों लगाते जा रहे हैं?'

उन्होंने उत्तर दिया—'महाराज! आप 'नो हाउ' को नहीं जानते। आज का व्यापारिक सिद्धांत है—नो हाउ' आपको शायद पता नहीं है। हम रुक नहीं

सकते। हर नया कारखाना पहले वाले कारखाने की जरूरत बन जाता है। एक लगाया, कुछ दिन बाद वह दूसरे की अपेक्षा पैदा कर देता है। मजबूर कर देता है कि इसके लिए एक और कारखाना लगाया जाए।'

मैंने कहा–'आखिर कितना लगाओगे? एक दिन तो रुकना ही पड़ेगा।' विराम एक दिन अवश्यंभावी है। 'नो हाउ' फिर वहां काम नहीं आएगा। हम इस सचाई को ध्यान में रखें कि अतुष्टि आदमी को कभी सुखी नहीं होने देती। विकास की कैसी भी अवधारणा या मान्यता हमारे सामने आए, किंतु अतुष्टि हमेशा समस्या पैदा करती रहती है।

शत्रु उतना दुःख नहीं देता, जितना दुःख मनुष्य के भीतर जमी हुई अतुष्टि देती है, इसलिए हम सुख और दुःख पर विचार करते समय इस पर अवश्य विचार करें कि अगर अभाव की स्थिति है तो उसे मिटाया जा सकता है, उसे दूर किया जा सकता है, किंतु पर्याप्त होने पर भी 'नहीं होने' की जो अतृप्ति है, उससे होने वाले दुःख को कभी कोई मिटा नहीं सकता। उसके लिए धार्मिक चिंतन अथवा आध्यात्मिक चिंतन प्रस्तुत करें, जिससे वह अतृप्ति को समाप्त करने की साधना करे। अभ्यास के द्वारा इस वृत्ति को बदला जा सकता है।

सबसे सुखी कौन?

एक बार प्रेक्षाध्यान के शिविर में एक शिविरार्थी ने प्रश्न पूछा–'आप क्रोध को शांत करने का प्रयोग कराते हैं, अहंकार को शांत करने का प्रयोग कराते हैं। मुझे लोभ को शांत करने का कोई प्रयोग कराएं, जिससे मेरी समस्या समाहित हो सके।'

मैंने कहा–यह बहुत कठिन है। क्रोध को शांत करना कठिन है, पर उतना नहीं, जितना लोभ को शांत करना। यह इतनी गहरी वृत्ति है, इतनी गहरी भावना है कि इसे पकड़ना, इसे शांत करना आसान नहीं। जिस व्यक्ति ने लोभ पर नियंत्रण कर लिया, वह इस दुनिया का सबसे सुखी आदमी है।

अगर आपसे कोई पूछे कि सबसे सुखी आदमी कौन? सीधा उत्तर दें कि जिसने अपनी अतृप्ति पर, अपनी आकांक्षाओं पर नियंत्रण पा लिया, वह सबसे सुखी आदमी है। अगर आप दुःख को मिटाना चाहें और सुखी बनना चाहें तो सबसे पहले अपनी लोभ की वृत्ति का परिष्कार करें और उसे मिटाने का प्रयत्न करें।

5. दुःख है अज्ञान

प्राचीन भारतीय समाज पहले चार वर्णों में विभाजित था–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह एक उपयोगी विभाग था। एक वर्ग विद्या के विकास के लिए उत्तरदायी था। दूसरा सुरक्षा के लिए सचेष्ट था, तीसरा व्यापार और वाणिज्य के द्वारा अर्थव्यवस्था को चलाने में सहयोग करता था और चौथे वर्ग के ऊपर सेवा का दायित्व था। ये चारों वर्ग अपने दायित्व के प्रति सजग थे और उसका सम्यक् निर्वाह करते थे। चारों में अच्छा समन्वय भी था।

समय के साथ जैसे हर चीज में परिवर्तन होता रहता है, वैसे ही व्यवस्था में भी परिवर्तन आता गया और आज तो बहुत ज्यादा अंतर आ गया। अब व्यवस्था के फिक्स्ड या रिजर्व जैसी बात नहीं रह गई। ब्राह्मण और हरिजन भी सेना में जा रहे हैं, व्यापार के क्षेत्र में भी जा रहे हैं। राजपूत और वैश्य समाज भी अपने परंपरागत पेशे में सीमित नहीं है, दूसरे क्षेत्रों में भी कार्य कर रहे हैं।

वर्तमान का चिंतन यह है कि हर व्यक्ति में ये चारों बातें होनी चाहिए। कोई स्पेशलिस्ट क्यों बने? ऑलराउंडर क्यों न बने? इस आधार पर वर्गभेद समाप्त हो जाएगा। न तो किसी में हीनभावना पैदा होगी और न ही अहंकार के लिए कोई अवकाश रहेगा।

विद्यालय की पढ़ाई को मैं शिक्षा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं मानता। पढ़ाई से अज्ञान जरूर मिटता है, किंतु मूढ़ता नहीं मिटती। पढ़ाई से जीविकोपार्जन में सुविधा हो जाती है, किंतु जीवन का ज्ञान नहीं मिलता।

संस्कृत की एक सूक्ति है–अज्ञानं खलु कष्टं। अज्ञान बहुत बड़ा कष्ट है। भगवान महावीर की वाणी है–अन्नाणी किं काही किं वा नाहिइ छेय पावगं। जो श्रेय और पाप को नहीं जानता, वह अज्ञानी भला क्या करेगा? जो श्रेय को नहीं जानता, वह अच्छा जीवन नहीं जी सकता।

श्रेय और प्रेय

भारतीय चिंतन में दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं–श्रेय और प्रेय। उपनिषद् में भी ये शब्द बार-बार आए हैं और महावीर-वाणी में भी बार-बार इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये दोनों शब्द सुख और दुःख के संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। श्रेय सुख की सृष्टि करता है और प्रेय दुःख की सृष्टि करता है। आज ऐसा लगता है कि प्रेय में आदमी उलझ गया है। श्रेय को वह उतना महत्त्व नहीं दे रहा है। अगर श्रेय को महत्त्व देता तो कभी अति संग्रह नहीं करता। अति उपभोग नहीं करता।

अति संग्रह आदमी में विक्षेप या पागलपन पैदा करता है। कमाना एक अलग बात है और संग्रह बिल्कुल दूसरी बात। व्यक्तिगत संग्रह में अगर सीमा का अतिक्रमण होता है तो उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। जिन लोगों ने अति संग्रह किया और अपनी कृपणवृत्ति के कारण उसका उपभोग नहीं किया, उनका क्या हाल हुआ, इसे आप इतिहास के आइने में देख सकते हैं। जीवन भर कंगाली का जीवन जीया और तिजोरी की चाबी सीने से चिपकाए हुए इस दुनिया से चले गए। उनका धन उनके किसी काम में नहीं आया।

धन के प्रति अति आसक्ति एक अज्ञान है और यह अज्ञान दुःख देने वाला होता है। आज उपभोग की सीमा अतिक्रांत हो रही है और यही बीमारी का सबसे बड़ा कारण बन रहा है। इस दुनिया में भूख से मरने वालों से ज्यादा संख्या खाकर मरने वालों की है। आप इसे मजाक न समझें, यह बहुत बड़ी वास्तविकता है और यह बात मैं बड़ी गंभीरता से और जिम्मेदारी से कह रहा हूं। आंकड़े बता रहे हैं।

आज के खाद्य पदार्थों की संख्या इतनी ज्यादा है कि अब अंगुलियों पर उनके नाम भी नहीं गिनाएं जा सकते। कितने ही तरह के फास्ट फूड, जिनके नाम गिनाने लग जाएं तो दिमाग चकरा जाए। आदमी क्या-क्या खाए? इन खाद्य पदार्थों में तरह-तरह के मसालों और स्वाद बढ़ाने वाली चीजों का प्रयोग होता है। आदमी हर बार भोजन के साथ जहर तुल्य अवांछित चीजें अपने पेट के भीतर पहुंचा रहा है। क्या उसका कुप्रभाव नहीं पड़ेगा?

आधार है श्वास

अति उपभोग से शरीर की शक्ति क्षीण होती है। प्राचीन ऋषि-मुनि लगातार तपस्या कर अपनी आयु को लंबी कर लिया करते थे। एक बार

समाधि लगाई तो पचास वर्ष बाद उनके चक्षु खुलते थे। इस बीच वे किस आधार पर जीवित रहते थे, सामान्य आदमी यह सोचकर उलझन में पड़ जाता है। पता नहीं आदमी ने क्यों यह मान लिया कि भोजन ही जिंदा रहने का मुख्य आधार है। आप इस बात को नोट कर लें कि यह मान्यता बिल्कुल गलत है। भोजन शरीर को आवश्यक पोषण देता है, प्राण नहीं देता। शरीर का आधार है श्वास। भोजन के बिना आप महीने भर से ज्यादा समय काट सकते हैं, किंतु प्राणवायु के अभाव में, बिना श्वास लिए आप पांच-सात मिनट से ज्यादा समय नहीं निकाल सकते। दम घुट जाएगा, मृत्यु हो जाएगी। श्वास का प्रयोग ऐसा है, जिसके सहारे कितने ही दिन तक बिना भोजन-पानी के रहा जा सकता है। प्राचीन भारत में ध्यान और प्राणायाम के प्रयोग इतने विकसित थे कि उनके द्वारा व्यक्ति आश्चर्यजनक काम कर लेता था।

आज के युग में ज्ञान-विज्ञान की अनेक प्रणालियों का विकास हुआ है। एक छोटा बच्चा भी तमाम तरह की जानकारियां रखता है। देश-दुनिया में कहां, क्या हो रहा है, इसकी पल-पल की जानकारी लोगों को उपलब्ध कराई जा रही है। पांच मिनट पहले दुनिया के किसी कोने में कोई घटना घटी, हम उसी समय उसे टीवी के पर्दे पर देख लेते हैं। संचार माध्यमों ने दुनिया को बहुत छोटा कर दिया है। दो-तीन दिन में आदमी पूरी दुनिया का भ्रमण कर लेता है, लेकिन अपने जीवन के बारे में आदमी बहुत अनभिज्ञ है। एक बहुत पढ़ा-लिखा आदमी भी इस बात से अनजान है कि अच्छा और सुख का जीवन कैसे जीया जा सकता है? श्वास की कला जान लें तो जीवन जीने का प्रशस्त पथ मिल सकता है।

हम कहीं भी जाते हैं, लोगों से यही सुनने को मिलता है कि बहुत दुःखी हूं। मैं पूछता हूं, कहां से आ रहा है इतना दुःख? कहीं बाहर से इम्पोर्ट तो नहीं हो रहा है? देश में दुःख की कोई खान भी तो नहीं है। यह दुःख आ रहा है स्वयं के भीतर से। भीतर की फैक्ट्री में इसका उत्पादन हो रहा है। हमारे नकारात्मक भावों का ईंधन ही इस फैक्ट्री को चला रहा है।

दुःख पैदा होता है अपने अज्ञान के कारण। अज्ञान के कारण आदमी अच्छे काम को भी गलत तरीके से कर लेता है। मोह, अज्ञान, मूढ़ता, आवेश ये सब दुःख के सर्जक हैं। सुख को भी इन्हीं कारणों से हम दुःख में परिवर्तित कर लेते हैं।

मैंने अहिंसा यात्रा में गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और विशेषकर पंजाब में लोगों को सामूहिक रूप से यह संकल्प करवाया कि मैं कभी दुःखी नहीं बनूंगा। अगर आप 'मैं कभी दुःखी नहीं बनूंगा'–इस सूत्र को पकड़ लेते हैं तो आपके जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आ जाएगा।

आचार्य तुलसी की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है–आत्मा के आसपास। अगर कोई उस पुस्तक को पढ़ें, मनन करें तो उसे दुःखमुक्ति का एक रास्ता जरूर मिलेगा। हर स्थिति में सम रहना कोई मामूली साधना नहीं है। आप चाहे इसे स्थितप्रज्ञता की स्थिति कहें या और कुछ यह स्थिति अगर आप अपने जीवन में किसी न किसी रूप में अपना लेते हैं अभ्यास के द्वारा तो आपका जीवन आनंद की अनुभूति से भर उठेगा।

6. दुःख है आसक्ति

बौद्धिक लोगों और साहित्यकारों की एक संगोष्ठी में आचार्य तुलसी से एक प्रश्न किया गया–'आचार्यजी! आपको सबसे कठिन काम कौन-सा लगता है?' आचार्यश्री कभी किसी प्रश्न का उत्तर देने में समय नहीं लगाते थे। मैंने उनसे बड़ा हाजिरजवाब दूसरा नहीं देखा, लेकिन इस प्रश्न पर उन्होंने क्षण भर चिंतन किया, फिर बहुत गंभीरता से बोले–'सबसे कठिन काम है आदमी के स्वभाव को बदलना। मैं इस काम में चालीस-पचास वर्ष से लगा हुआ हूं और अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि आदमी के स्वभाव को बदलना बहुत दुरूह काम है।

समय के साथ देश बदलता है, आदमी का वेश बदलता है, परिवेश बदलता है, लेकिन मन का क्लेश ज्यों का त्यों रह जाता है। और जब तक यह नहीं बदलता, आदमी सुख और शांति का जीवन नहीं जी सकता। मन का क्लेश नहीं बदलता, इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि आदमी के पास दृष्टि नहीं है। मेरी इस बात पर चौंकिए नहीं। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि हर आदमी दृष्टिहीन है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आदमी के पास भीतर को देखने वाली आंख नहीं है। जिसके पास एक आंख नहीं है, वह काना कहलाता है। जिसके पास दोनों नहीं है, वह अंधा कहलाता है, किंतु दोनों आंखें होते हुए भी जो देख पाने में असमर्थ हैं, उन्हें आप क्या कहेंगे?

ज्ञान : भीतरी आंख

आंख वाले अंधों की इस दुनिया में कमी नहीं है। जिस व्यक्ति ने ज्ञान प्राप्त नहीं किया या अपने अज्ञान को नहीं मिटाया, वह आंख होते हुए भी अंधा है। ज्ञान एक भीतरी आंख है। ज्ञान प्राप्ति के लिए स्कूल में भर्ती होना जरूरी नहीं है। इस दुनिया में जो महाज्ञानी हुए, उन्होंने कहीं से कोई स्कूली शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। ज्ञान अपने आसपास के अनुभव से भी प्राप्त किया जा सकता है।

विद्या बहुत बड़ी चीज है। कहा गया–नास्ति विद्यासमं चक्षुः। विद्या के समान कोई चक्षु नहीं है। यह सही-गलत, उचित-अनुचित का विवेक करना सिखाती है। इसी क्रम में कहा गया–नास्ति सत्यसमं तपः। सत्य से बड़ा कोई तप नहीं है। जो सत्य के प्रति निष्ठा रखते हैं, मृषावादी नहीं हैं, उन्हें उपवास आदि तपस्या करने की जरूरत नहीं है। केवल सत्य बोलना ही पर्याप्त नहीं है, सत्य के प्रति समर्पण और निष्ठा भी होनी चाहिए। जो सत्य के प्रति समर्पित हो गया, माया और मिथ्यावाद उसके जीवन में हो ही नहीं सकता। किसी भी स्थिति में वह असत्य को स्वीकार नहीं करेगा।

फिर कहा गया–नास्ति रागसमं दुःखं। राग के समान कोई दुःख नहीं है। प्रथम दृष्ट्या राग में सुख की प्रतीति हो सकती है, किंतु राग की निष्पत्ति है दुःख। यह पूर्णतया सच है। संस्कृत कवि ने राग से होने वाले दुःख को एक संस्कृत श्लोक में बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट किया है–

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहारः॥

प्रसंग है सन्ध्या के समय का। सरोवर में विकसित कमल। उस कमलकोष में बैठकर पराग का रसपान कर रहा पुष्पप्रेमी भ्रमर। पराग की आसक्ति में बेभान बना उस भ्रमर को समय का ध्यान नहीं रहा। सूर्यास्त हुआ, कमल की पंखुड़ियां सिमटीं और वह भ्रमर उस कमलकोष में बंदी होकर रह गया।

कमलकोष में बंदी बना वह भ्रमर सोच रहा है–रात्रि बीतेगी, सूर्योदय होगा, कमलिनी पुनः विकसित होगी और मैं कैद से मुक्त हो जाऊंगा, लेकिन ऐसा हुआ नहीं, उसके भाग्य में कुछ और लिखा था। सवेरा होने की नौबत ही नहीं आई। अंधेरा अभी पूरी तरह से छंटा नहीं था। तभी एक मदमस्त हाथी जल पीने की इच्छा से सरोवर के किनारे आया। जल में तैर रही कमलनाल को अपनी सूंड में लपेटा और भ्रमर सहित कमलपुष्प को उदरस्थ कर लिया। राग के कारण भंवरे ने अपने प्राण गंवाए।

दुःख है आसक्ति

जीवन की आवश्यकता के लिए आदमी किसी वस्तु का उपभोग करता है। यह शरीर की अनिवार्यता है, लेकिन वह उसमें आसक्त हो जाए, उसके बिना जीवन चलाना दुष्कर लगे, यह स्थिति निश्चित रूप से दुःख को ही जन्म देगी।

मुझे शराब के आदी हो चुके एक आदमी ने बताया कि समय पर वह नहीं मिल पाती है तो मेरी स्थिति पागलों जैसी हो जाती है। हैसियत से बड़ा आदमी था वह। उसने बताया कि कहीं यात्रा पर या दूर जगह पर जाना होता है तो मेरा ड्राइवर आवश्यक मात्रा में शराब साथ में लेकर चलता। एक बार ऐसा हो गया कि उससे भूल हो गई। बोतल साथ में लेना भूल गया। रास्ते में मेरी हालत खराब हो गई। ड्राइवर को बुरा-भला कहा और अंततः कुछ नहीं मिला तो कार की टंकी से थोड़ा पेट्रोल निकाल कर पीना पड़ा, तब कहीं जाकर कुछ राहत मिली। आसक्ति दुःख का मूल है

जब ऐसी स्थिति में पहुंच जाएं तो दुःख के दलदल से निकल पाना बहुत कठिन हो जाता है। आसक्ति के समान इस दुनिया में कोई दुःख नहीं है। आसक्ति केवल मनुष्यों में ही नहीं पाई जाती। पशु-पक्षियों में भी किसी न किसी चीज के प्रति आसक्ति होती है।

आचार्य तुलसी कलकत्ता की ओर जा रहे थे। हम लोग साथ में थे। उत्तरप्रदेश में हम बनारस के आसपास के किसी क्षेत्र में विहार कर रहे थे। हमने सड़क के किनारे मिट्टी के घड़े जैसे पात्र देखे, जिनके मुंह संकरे थे, लगभग सुराही के आकार के। निर्जन स्थानों में उन पात्रों का औचित्य हमारी समझ में नहीं आया। आसपास दृष्टि दौड़ाने पर कोई दिखाई भी नहीं दिया, लेकिन जब उन पात्रों को हम ध्यान से देखने लगे तो न जाने कहां से एक आदमी वहां प्रकट हुआ। हमने उससे उन पात्रों के वहां रखे जाने का प्रयोजन पूछा तो उसने कहा–'यहां बंदरों की बहुतायत है। बंदर आसपास खड़ी चने और मटर की फसलों को बहुत नुकसान पहुंचाते हैं। उन्हें पकड़ने के लिए ये पात्र यहां रखे गए हैं।'

हमने जिज्ञासा की–'मिट्टी के इन संकरे पात्रों में बंदर कैसे समा सकता है?'

उसने कहा–'महाराज! इन पात्रों में भीगे हुए चने हैं। बंदर को चना बहुत पसंद है। अभी थोड़ी देर ठहर जाइए। आप देखेंगे कि बंदर आएगा। चने खाने के लिए बर्तन के संकरे मुंह में अपना हाथ डालेगा। मुट्ठी भरकर चने निकालेगा, लेकिन मुट्ठी बंद होने के कारण हाथ निकलेगा नहीं। यद्यपि बंदर चालाक प्राणी है, लेकिन चने का लालच उसे मुठ्ठी खोलने नहीं देगा। हमारे लिए इतना ही समय काफी है। हम दौड़कर उसे इस जाल में बांध लेंगे।' आसक्ति का बंधन बहुत गाढ़ बंधन है। बंदर तो जानवर है। इस धरती का

सबसे बुद्धिमान प्राणी मनुष्य भी आसक्ति के बंधन में बंधकर दुःख उठाता है। मन की चंचलता आसक्ति के बंधन में बांधती है और उस बंधन को मजबूत करती है।

आसक्ति और मोह सबसे बड़ा दुःख है। समाचार पत्रों में हत्या, लूट, डकैती, दुर्घटना आदि के कितने ही समाचार छपते रहते हैं। आप उन्हें सरसरी नजर से पढ़ लेते हैं, उसका कोई असर आपके मन पर नहीं पड़ता, लेकिन अगर पता चल जाए कि दुर्घटना में मृत और घायल व्यक्ति आपके परिवार का या निकट संबंधी, परिजन है तो आपको एक गहरा झटका लगेगा। आप विषादग्रस्त इसलिए हो जाएंगे कि उसके साथ आपकी आसक्ति जुड़ी हुई है। उसके प्रति ममत्व का भाव है।

अब अंतिम बात। आगे कहा गया—नास्ति त्यागसमं सुखं। त्याग के समान कोई सुख नहीं है। सुखी होना है तो त्याग की चेतना जागृत करनी होगी। व्यक्ति अधिकाधिक प्राप्त करने का आकांक्षी होता है। एक ही मां के बेटे भी धन-संपत्ति के मामले में ईमानदार नहीं रह पाते। सहोदर भाइयों में भी संपत्ति को लेकर असंतोष उत्पन्न हो जाता है। संयुक्त और सुखी परिवार त्याग और संतोष की बुनियाद पर ही एक रह सकता है।

अंतर : भोग और त्याग में

किसी भोगी को दुःखी बनाया जा सकता है और वह बनता भी है, लेकिन त्यागी को कोई दुःखी नहीं बना सकता। जो सुख-सुविधा को किसी भी क्षण छोड़ने के लिए तैयार है, उसे कोई दुःखी कैसे बना सकता है? वह प्राप्त सुविधा के छिन जाने पर दुःखी नहीं होगा।

नगर में एक साधु आया। साधु तेजस्वी और निराकांक्षी था। उसकी पूरी नगर में चर्चा फैल गई। उसकी चर्चा राज्य के राजा तक पहुंची। उसने सम्मानपूर्वक साधु को अपने महल में आमंत्रित किया। साधु राजा के महल में पहुंचा। राजा ने बहुत आतिथ्य किया और कुछ दिन महल में विराजने की प्रार्थना की। संन्यासी ने स्वीकार कर लिया।

महीनों तक वह संन्यासी राजमहल में रहा, राजसी सुविधाओं का उपभोग किया। उसने वहां से जाने की एक बार भी इच्छा नहीं जताई। राजा ने सोचा—बाबाजी तो यहां जम गए, जाने का नाम ही नहीं लेते। इन्हें यहां से रवाना करने का हमें ही कोई उपक्रम करना होगा। राजा ने एक दिन संन्यासी

से कहा–'आपको अपना आश्रम छोड़े हुए काफी दिन हो गए। आपके शिष्य आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। राज्य की व्यवस्था के लिए हमें भी कुछ दिनों के लिए बाहर जाना पड़ेगा। मेरे साथ रथ में बैठिए, मार्ग में जहां कहेंगे, आपको छोड़ दूंगा।' राजा ने सोचा था, महल छोड़ने की बात पर साधु उदास हो जाएगा, कुछ दिन और रुकने की इच्छा व्यक्त करेगा, लेकिन आश्चर्य! साधु प्रसन्नता से तैयार हो गया।

राज्य की सीमा के एक छोर पर जंगल में राजा ने रात्रिवास के लिए अपना शिविर लगाया। सोने का समय हुआ तो संन्यासी ने अपना उत्तरीय बिछाया और आराम से सो गया। क्षण भर में ही उसे नींद आ गई। सवेरा हुआ तो राजा ने साधु को प्रणाम कर कहा–'आश्चर्य है, आपको निरावरण भूमि पर लेटते ही गहरी नींद आ गई। मुझे तो रात्रि जागरण करना पड़ा। भले ही परिकरों ने मखमली शय्या का प्रबंध यहां भी कर दिया हो, लेकिन जंगल तो जंगल ही है। ऐसी जगह में किसी को नींद कैसे आ सकती है? महाराज! मेरे मन में एक जिज्ञासा है। आप महीने भर से ज्यादा मेरे महल में रहे। वहां सब तरह की सुविधा रही। आपको वहां और इस जंगल में कुछ भी अंतर नहीं लगा?'

साधु मुस्कराया। उसने कहा–'राजन्! मुझे कोई अंतर नहीं लगा। वहां भी सुख से रहा और यहां भी सुख में हूं। अंतर महल और जंगल में नहीं, संन्यासी और राजा में होता है। भोग और त्याग में होता है। मुझे कोई फर्क नहीं पड़ा और आपको फर्क पड़ा, इसलिए कि मैं महल में रहा और आपके मन में महल रहा। मेरा न कोई आश्रम है और न कोई कुटी। रमता जोगी हूं। कभी दैवयोग से आपके महल की शय्या मिल जाती है तो कभी पत्थर की तप्त शिला को शय्या बना लेता हूं। जहां तक नींद की बात है, हर स्थिति में सम रहने का अभ्यास डालिए, आपको भी सुख की नींद आएगी।' इतना कहकर संन्यासी अपने मार्ग पर चल पड़ा।

धर्म त्याग में है, भोग में नहीं। धर्म से सुख मिलता है, क्योंकि वह बंधनमुक्त करता है, तनाव से छुटकारा दिलाता है। तपस्या धर्म है, अनासक्ति धर्म है, त्याग धर्म है। राग और द्वेष नहीं तो तनाव होगा कहां से? तनाव पैदा करती है आसक्ति। मैंने एक ऐसे करोड़पति को देखा, जो दस-पांच रुपये खो जाने पर दुःखी और तनावग्रस्त हो जाता था। राग का बंधन इतना तीव्र होता है कि छोड़ने की कल्पना मात्र से आदमी सिहर उठता है।

तू रो मत

एक कृपण आदमी थैला लेकर सब्जी लाने के लिए बाजार गया। हर दुकान पर वह सब्जी के भाव पूछता, लेकिन लेता कुछ भी नहीं। यही करते-करते पूरे मार्केट के कई चक्कर लगा लिए। आखिर कुछ खरीदने का चिंतन किया, लेकिन मुट्ठी में बंद पांच रुपए का नोट पसीने में गल चुका था। उसने गले हुए नोट को बड़ी ममता से निहारा और उसे संबोधित कर कहा–

पैसा म्हे घट भांजस्यूं, तनैं न भांजू वीर।
क्यूं रोवै तू रंग में, तुझ मुझ साचो सीर॥

पैसा! तू रो मत, मैं तुझे खर्च नहीं करूंगा। तेरा-मेरा सच्चा साथ और संबंध है। तुम्हारी और मेरी मैत्री बहुत प्रगाढ़ है। मैं भूखा रह जाऊंगा, पर तुझे किसी दूसरे को नहीं दूंगा। और सचमुच वह खाली थैला लेकर घर लौट आया। बाजार में कुछ भी नहीं खरीदा। पत्नी ने पूछा सब्जी कहां है? तो उसने कहा–सब्जी क्या लेता, बेचारा पैसा रोने लगा, इसलिए मैंने उसे खर्च करना उचित नहीं समझा। छोड़ो, हम बिना सब्जी के ही काम चला लेंगे।'

कोई भी व्यक्ति हो, सुख पाना चाहता है तो उसे रागात्मकता के भाव से छुटकारा पाना होगा। इस बात को अच्छी तरह से समझ लें कि शुद्ध आचरण धर्म है, अनासक्ति धर्म है, त्याग धर्म है। आचार्य भिक्षु की इस परिभाषा को कंठस्थ कर लें–जितना-जितना त्याग, उतना-उतना धर्म और जितना-जितना भोग, उतना-उतना सांसारिक कर्म। इस परिभाषा को समझने के लिए दिमाग पर बहुत जोर नहीं डालना पड़ेगा। बहुत छोटी, किंतु बड़ी सटीक परिभाषा है। ऐसे त्यागयुक्त धर्म में ही सुख निहित है।

अगर त्याग की शक्ति लोगों में हो तो गरीबी इतनी नहीं हो सकती। इतनी ज्यादा बेरोजगारी नहीं हो सकती। अनैतिकता की कुछ ऐसी हवा चल पड़ी है इस देश में कि अवांछित कमाई के अवसर को कोई खोना नहीं चाहता। समाज में, राष्ट्र में सुख की सृष्टि कहां से होगी? स्मरण रहे–'मनुष्य जीवन बहुत पुण्ययोग और भाग्य से मिला है। इसे आनंद और सुख से व्यतीत करने में ही जीवन की सार्थकता है।

7. दुःख कांटे : सुख पदत्राण

मुनि जीवन के प्रारंभ से ही हम पदयात्रा कर रहे हैं। गांवों, नगरों और शहरों में हम समान रूप से अपेक्षानुसार प्रवास करते हैं। इस दौरान सभी तरह के लोग हमारे संपर्क में आते हैं। कभी उनसे सीधा संवाद होता है, कभी प्रवचन सभाओं के माध्यम से। सबकी अपनी-अपनी समस्याएं हैं। हमें आजतक कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला, जिसका जीवन समस्यामुक्त हो।

मुम्बई प्रवास में कई बड़ी संस्थाओं के प्रतिनिधि और अधिकारी मिले। वार्ता के दौरान मैंने उनसे पूछा–'आप लोग बड़ी संस्थाएं और बड़ी कंपनियां चलाते हैं। इसमें कौन-सी समस्या मुख्य रूप से आपके सामने आती है?'

उन लोगों ने कहा–'यों तो छोटी-मोटी बहुत-सी समस्याएं आती हैं, किंतु मुख्य समस्या एक ही है और वह है–इगो प्रोब्लम, अहं की समस्या।'

विनम्रता बहुत सारी समस्याओं का समाधान है। बल्कि यों कहें कि विनम्रता है तो समस्या जन्म ही नहीं लेगी, लेकिन अहंकार ऐसी चीज है जो बहुत सारी समस्याओं की सौगात हमें देता है। बहुत कठिन काम है विनम्रता को बनाए रखना।

साधक और सिद्ध

एक संत थे। बहुत ही विनम्र और भद्र। विनम्रता और भद्रता तो संत जनों का सहज-स्वाभाविक गुण हैं। वे संत भी बड़े विनम्र थे। लोग दूर-दूर से उनके उपदेश सुनने के लिए आते थे। श्रोताओं में अच्छे लोग भी होते और बुरे लोग भी। अच्छे-बुरे की किसी पर कोई छाप नहीं लगी होती। मन, वाणी और हृदय से जो सरल हैं, वे ही अच्छे कहे जाते हैं। जिनके मन में ईर्ष्या, द्वेष, लोभ और मोह का प्राबल्य है, सामान्य रूप से वे बुरे लोगों की श्रेणी में आते हैं।

एक दिन एक दुर्जन आकर संतजी के पास बैठ गया। उसके मन में न तो श्रद्धा थी, न कोई जिज्ञासा। वह संतजी को परेशान करने के उद्देश्य से आया

था। संत को उत्तेजित करने के लिए वह ऊटपटांग प्रश्न करने लगा। संत शांत भाव से उसके प्रश्नों का उत्तर देते रहे, लेकिन जिसका उद्देश्य ही माया और कपट का हो, उसके प्रश्नों को कौन समाहित कर सकता है? वह दुर्विनीत जब अतिशय आग्रही हो गया और धृष्टता की सारी सीमाएं तोड़ दीं तो संत को क्रोध आ गया। तुलसीदासजी ने कहा भी है–

अतिशय रगर करै जब कोई।
अनल प्रकट चंदन ते होई॥

ज्यादा रगड़ चंदन जैसी शीतल वस्तु से भी आग पैदा कर देती है। संत ने गुस्से में आकर उसे आश्रम से बाहर निकाल दिया। रात्रि में जब संत निद्राधीन हुए तो भगवान ने स्वप्न में उन्हें दर्शन दिए और बोले–'मैं तुमसे प्रसन्न नहीं हूं। तुमने उस अज्ञानी व्यक्ति को आश्रम से क्यों निकाल दिया?'

संत ने कहा–'भगवन्! मैं क्या करता। वह दुष्ट था और कुछ समझने वाला नहीं था।'

भगवान ने कहा–'तुम्हारी साधना अभी अधूरी है। तुम अभी साधना में कच्चे हो। अगर साधना में तुमने प्रगति की होती तो अपनी स्थिति से कभी विचलित न होते। तुम एक अज्ञानी से हार गए और अज्ञानी से हारने वाला सिद्ध साधक कैसे हो सकता है? अगर तुम उसे रास्ते पर ले आते तो सिद्ध की भूमिका पर होते। तुम अपनी साधना में अभी और निखार लाओ। तुम स्वयं विचार करो–अगर मेरी सृष्टि में ऐसे लोगों के लिए जगह है तो तुम्हारे आश्रम में क्यों नहीं?'

क्रोध और अहंकार विकास में सबसे बाधक तत्त्व हैं। इन्हें इमोशनल प्रोब्लम भी कहा जा सकता है। केवल अहंकार ही नहीं, बाहर की और भी कई समस्याएं हैं। भीतर और बाहर–दोनों ओर की समस्याएं हैं। बेकारी, बेरोजगारी, अन्न-पानी और धन के अभाव की समस्या–ये सब बाहरी समस्याएं हैं। इनकी सूची बनाना चाहें तो दिन भर गिनाने पर भी पूरी नहीं होंगी। प्रश्न है कि इतनी सारी समस्याओं के होते हुए आदमी सुखी कैसे हो सकता है? अहिंसा का सूत्र तो यह है कि मनुष्य को कभी दुःखी और निराश नहीं होना चाहिए। आशा का दामन कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

अभिवादन किसको?

राही यात्रा कर रहा था। रास्ते में उसे चार वृद्धाएं मिलीं। पथिक उनके पास से गुजरा तो शिष्टाचार के नाते अभिवादन की मुद्रा में कहा–मां! राम-राम।'

'राम-राम भाई!' चारों ने एक साथ कहा।

राही जब आगे निकल गया तो चारों आपस में बहस करने लगीं। चारों का यही कहना था कि पथिक ने अभिवादन मुझे किया है, तुम्हें नहीं। एक ने कहा–'इस बात पर हम लड़ें क्यों? राही वह सामने ही तो जा रहा है। उससे ही पूछ लेते हैं कि अभिवादन किसे किया है।'

चारों तेजी से चलकर पथिक के पास पहुंची और पूछा–'बेटे! अभी तुमने अभिवादन हममें से किसे किया?'

'आपमें जो सबसे बड़ी है, मैंने अभिवादन उसे किया। पथिक ने कहा।

'लेकिन भाई, हम चारों ही अपने को एक दूसरे से बड़ी मानती हैं।'

पथिक ने उनमें से एक बुढ़िया से पूछा–'मां! तुम्हारा नाम क्या है और तुम स्वयं को दूसरों से बड़ी क्यों मानती हो?'

वह बोली–'बेटा! मेरा नाम भूख है। इस दुनिया में भूख से बड़ी ताकत दूसरी कोई नहीं।'

पथिक बोला–'आपकी इस बात से मैं सहमत नहीं हूं। आज दुनिया में एक बड़ी आबादी रोज भूखे पेट सोती है। भूख आदमी की ताकत नहीं, उसकी कमजोरी है, उसकी हार है।'

पथिक ने दूसरी वृद्धा से वही सवाल किया तो वह बोली–'मेरा नाम प्यास है। आदमी भूखा रहकर भी दस-बीस दिन आसानी से निकाल सकता है, किंतु प्यास वह दो दिन भी झेल नहीं पाता। प्यास बुझाने के लिए ही आदमी ने कुएं, तालाब और बांध बनवाए हैं।'

पथिक ने मुस्कुराकर कहा–'आप बड़े भ्रम में हैं। मनुष्य ने पानी के इतने सारे प्रबंध किए हैं, किंतु उसकी प्यास बुझी कहां? लाखों लोग आज भी प्यासे हैं। पानी के लिए मारामारी हो रही है। प्यास कौन-सी ताकत है?'

तीसरी वृद्धा ने कहा–'मेरा नाम नींद है। आदमी भूख-प्यास से लड़ सकता है, किंतु नींद से नहीं। बड़े-बड़े योद्धा भूखे-प्यासे रहकर कई दिन तक लड़ते रहते हैं, किंतु नींद के आगे वे भी हथियार डाल देते हैं।'

पथिक ने कहा–'बड़ा होने का यह भी कोई सटीक आधार नहीं है। तुमने आदमी को इतनी गहरी नींद में सुलाया कि अपने ऊपर हजारों वर्ष से हो रहे अत्याचार को भी वह भूल गया। इसे तुम अपनी शक्ति भले ही मानों, मैं तो

नहीं मानता।' अब चौथी बुढ़िया की बारी थी। उसने कहा–'बेटा, मेरा नाम आशा है। कमजोर और हारे हुए को मैं शक्ति प्रदान करती हूं। जब वह चारों ओर से हताश और निराश हो जाता है तो मैं ही उसे सहारा देती हूं। जीवन के समर में फिर से जूझने की प्रेरणा और प्रोत्साहन देती हूं।' उसकी बात सुनकर पथिक प्रसन्नता से उछल पड़ा और बोला–'बस, मां! और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे ही सहारे तो मैं दस दिन से भूखा-प्यासा रहकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा हूं। आपके सहारे ही तो मेरे जैसे लाखों लोग जीवित हैं, अन्यथा वे कब के मौत को गले लगा चुके होते। आदमी भूखा है, नंगा है, फुटपाथों पर सोता है, लेकिन आशा ही वह ज्योति है, जिसके सहारे वह जीवित रहता है, इसलिए मेरी समझ में आप ही सबसे बड़ी हैं और आपको मैं फिर से प्रणाम करता हूं।' इतना कहकर पथिक आगे बढ़ गया और मैंने सुना है कि उसने अपनी मंजिल भी प्राप्त कर ली।

सुख कहां?

आदमी को पल-पल अपने भाव नहीं बदलने चाहिए। कभी दुःखी, निराश और हताश नहीं होना चाहिए। मैंने अहिंसा यात्रा में लाखों लोगों को यह संकल्प करवाया, लेकिन आदमी का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि सुख-दुःख के झूले में झूलता रहता है। कुछ लोग तो हर समय, हर घड़ी दुःख का ही वेदन करते हैं। एक उदास महिला से किसी दूसरी महिला ने पूछा–'बहिन, उदास क्यों हो?' वह बोली–'क्या बताऊं, सुख तो जैसे मेरे प्रारब्ध में लिखा ही नहीं है।' 'आखिर बात क्या है?' महिला ने बड़े अपनत्व के साथ पूछा। उसने कहा– दुःख मेरे जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। जब मैं बहू थी तो मुझे सास अच्छी नहीं मिली। अब सास बनी हूं तो बहू अच्छी नहीं मिली।' कहकर उस महिला ने अपना सिर थाम लिया।

ऐसे चिंतन करने वालों के नसीब में सुख कहां? हमारी समस्या यह है कि मन और भावों पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। दुःख स्वयं चलाकर नहीं आता। उसे हम आमंत्रण देकर बुलाते हैं। बाहरी परिस्थितियों का सामना करना भी कोई सरल काम नहीं है। आजादी के बाद आज तक के इतिहास को देखें तो पाएंगे कि पहली सरकार से लेकर आज तक जितनी भी सरकारें आईं, सबका वादा रहा कि हम गरीबी का उन्मूलन करेंगे, लेकिन वादा पूरा हुआ कहां? उन्मूलन की बात छोड़ें, कम से कम इतना ही कर देते कि गरीबी और ज्यादा न बढ़ती, किंतु यह भी नहीं हो सका।

पहले गरीब दस-पांच करोड़ ही थे, अब उनकी संख्या चालीस करोड़ से अधिक हो गई है। अमीरी बढ़ी है तो उसी के अनुपात में गरीबी भी बढ़ी है। गरीब को आजादी का कोई लाभ नहीं मिला। जिन्होंने गरीबी मिटाने की बात कही, उन्होंने अपनी गरीबी तो काफी हद तक मिटा ली, किंतु दूसरों की गरीबी की ओर से उन्होंने आंख मूंद ली।

सरकारें आती-जाती रहती हैं। उनमें शामिल मंत्री से लेकर संतरी तक अपना भाग्योदय कर लेते हैं और जनता को उसके हाल पर छोड़ देते हैं। अगले चुनाव में फिर किसी न किसी आकर्षक नारे के साथ मैदान में आ जाते हैं।

एक बार ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल से किसी ने पूछा–'सबसे अच्छा राजनीतिज्ञ किसे माना जाए?'

चर्चिल ने कहा–'उसे माना जाए, जो लुभावने वादे कर सत्ता में आए और वादे पूरे न होने पर अगली बार जनता को यह समझा सके कि वादे पूरे क्यों नहीं हुए?'

आज के राजनीतिज्ञों ने इस सूत्र को अपना मूलमंत्र बना लिया है। उनकी मुखमुद्रा उस समय देखने योग्य होती है, जब वे पूरी हमदर्दी के साथ जनता को यह समझाते हैं कि चुनाव के समय किए गए वादे पूरे क्यों नहीं हुए?

समस्या के कांटे

सुखी रहने का सबसे बड़ा सूत्र है संयम। जो संयम करना जानता है, वह हर स्थिति में सुखी रह सकता है। हर व्यक्ति का यह संकल्प होना चाहिए कि मैं कभी दुःखी नहीं बनूंगा। जीवन में संयम का अभ्यास करूंगा। समस्या को सुलझाने का व्यावहारिक तरीका काम में लिया जाए। पैर में कांटा चुभ गया तो सारी धरती को बुहारने का काम हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण है।

राजा नंगे पांव बाग में टहल रहा था, तभी एक कांटा उसके पांव में चुभ गया। उसे अत्यधिक पीड़ा का अनुभव हुआ। जीवन में उसने पहली बार कांटे की चुभन का अनुभव किया था। परिचर ने तत्काल पैर से कांटा निकाला।

दूसरे दिन राजा ने राज्यसभा में सभासदों से कहा–'कांटे इतने कष्टदाई होते हैं, यह मैंने कल जाना। मेरे प्रजाजन तो आए दिन इसकी पीड़ा भुगतते होंगे। आप लोग बताएं कि कांटों से छुटकारा पाने के लिए क्या किया जाए।'

एक सभासद ने राय दी–राज्य में जहां भी कांटे उत्पन्न करने वाले पौधे हैं, उन्हें जला दिया जाए।'

दूसरे ने कहा–'कांटे हमेशा अनुपयोगी ही नहीं होते, उनका उपयोग भी होता है। किसान अपने खेतों की सुरक्षा के लिए कांटेदार बाड़ लगाते हैं और भी दूसरे कामों में कांटों का उपयोग होता है। मेरी राय में उन्हीं कांटों को नष्ट किया जाए, जो अनुपयोगी हों।'

तीसरे ने कहा–कांटों को समूल नष्ट करना संभव नहीं है। इतना बड़ा राज्य है, कांटों को कहां खोजते फिरेंगे? सबसे अच्छा उपाय यही है कि राज्य की धरती को चमड़े से मढ़वा दिया जाए, कांटों की समस्या का समाधान हो जाएगा।' सबसे अंत में वृद्ध मंत्री की राय ली गई तो उन्होंने कहा–'राजन्! ये सभी सुझाव अव्यावहारिक हैं। कांटों से बचने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि सभी लोग पदत्राण का उपयोग करें। वृद्ध मंत्री का सुझाव सबको पसंद आया।

समस्या कोई भी हो, उसे सुलझाने के लिए व्यावहारिक तरीका अपनाया जाए। समस्यारूपी कांटों से बचने के लिए संयमरूपी पदत्राण का उपयोग होना चाहिए। इस सृष्टि में हर चीज के लिए अवकाश है। जिन्हें हम अपने लिए अनुपयोगी और खतरनाक मानते हैं, वे भी बहुत काम की चीज साबित होते हैं। इस धरती पर आज तक बहुत से पीर, पैगम्बर और अवतार जन्म ले चुके हैं। कोई भी मनुष्य को समस्यामुक्त नहीं कर सका। सबने समस्या से बचने का उपाय ही बताया। वह उपाय है–संयम।

आदमी दुःखी बनता है अपने असंयम के कारण। योग्यता कम और महत्त्वाकांक्षा बहुत बड़ी, ऐसे में दुःखी बनना ही है। ईर्ष्या-द्वेष, अंधानुकरण, होड़, प्रतिस्पर्धा–ये सब आदमी को दुःखी बनाने वाले तत्त्व हैं। मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्ति कुछ ऐसी है, जो उसके पास है, उससे वह सुखी नहीं बनता, जो उसके पास नहीं है, उसे लेकर वह दुःखी बनता है। सुखी बनने के लिए हम अपनी वृत्तियों और आदतों में बदलाव क्यों न लाएं?

आचार और चरित्र को इतना उदात्त और उन्नत बनाएं, जिससे बात-बात पर दुःखी बनने का प्रसंग न आए। हम अपनी कमियों को देखें, उनमें सुधार करें, इससे प्रगति का रास्ता खुलेगा। अध्यात्म का सूत्र भी यही है कि अपने आपको देखो, अपनी समीक्षा करो। वे सब महापुरुष, जो लोक मानस में स्थापित हुए उन्होंने यही रास्ता अपनाया।

इस धरती पर ऐसे भी लोग पैदा हुए, जो कुबेर की संपदा के स्वामी थे, किंतु समय ने उन्हें कूड़ेदान में फेंक दिया। आज उनका कोई नाम भी नहीं लेता।

उनकी हवेलियां और किले खंडहरों में तब्दील हो गए। समय किसी को माफ नहीं करता। वह उन्हें ही जीने का अधिकार देता है, जो जीवन की सचाई को समझकर उसके अनुकूल आचरण करते हैं।

प्रश्न है कि चरित्र-निर्माण कैसे हो? चरित्र किसी कारखाने में बनने वाली चीज नहीं है। इसकी फैक्ट्री है व्यक्ति के भीतर। उस फैक्ट्री को चलाता है हमारा भाव। भाव पर अंकुश रहे तो सच्चरित्र का निर्माण होगा। भावों पर नियंत्रण नहीं है, वे नकारात्मक हैं तो भीतर की फैक्ट्री दुःख का उत्पादन करती रहेगी।

प्रेक्षाध्यान में सिखाया जाता है कि समस्या और दुःख एक नहीं है। समस्या को सुलझाना है। हमारा पुरुषार्थ तो दो हाथ, दो पैर, दस अंगुलियां और परिष्कृत मस्तिष्क का स्वामी होकर हम दुःखी क्यों बनें? स्वयं को अतुलनीय संपदा का स्वामी मानें। यह अनुभूति आपको कभी दुःखी और निराश नहीं होने देगी।

हमने ऐसे लोगों को देखा, जो साधारण स्थिति में थे तो बहुत सुखी थे, किंतु धन-संपत्ति के स्वामी बने तो दुःखी हो गए। यह बहुत विरोधाभासी बात है, किंतु सच है। धन चरित्र को प्रभावित करता है और चरित्र प्रभावित हुआ तो दुःख की स्थिति आनी तय है।

चिंतन की दरिद्रता आदमी को दुःखी बनाती है। अहिंसा सकारात्मक सोच का ही परिणाम है। अनिष्ट चिंतन और असंतुष्टि का भाव तो कभी मन में लाएं ही नहीं। हर स्थिति में प्रसन्न रहने का अभ्यास आज से ही शुरू कर दें। अभ्यास करते-करते एक स्थिति ऐसी आएगी कि परिस्थितियां आपको ज्यादा प्रभावित नहीं कर पाएंगी। निरंतर अभ्यास आपको एक दिन उस भूमिका पर खड़ा कर देगा, जहां आप दुःख से परे एक अलौकिक आनंद की अनुभूति करेंगे।

8. दुःख की दवा

सुख और दुःख–ये दो ऐसे शब्द हैं, जिनके आधार पर आदमी के व्यक्तित्व को समझा जा सकता है। सुख के अभिलाषी सब हैं, दुःख कोई नहीं चाहता, लेकिन चाह के साथ राह की खोज भी जरूरी है। कोरी चाह है, राह नहीं है तो चाह कभी पूरी नहीं होती। कोई रास्ता जरूर होना चाहिए। सुख का रास्ता क्या है और दुःख का रास्ता क्या है, इसकी खोज होनी चाहिए।

शरीरं रोगमंदिरं

दुःख अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे–शारीरिक दुःख, मानसिक दुःख, भावात्मक दुःख, कर्मज दुःख। शारीरिक रोग दुःख है। शरीर अगर व्याधिग्रस्त हो गया तो दुःख देता है। आज की दुनिया में बड़ी संख्या उन लोगों की है, जो किसी न किसी बीमारी से पीड़ित हैं। कहा गया–शरीरं रोगमंदिरं। शरीर रोगों का घर है। कोई विरला ही होगा, जो रोगमुक्त होगा, लेकिन अच्छा पुरुषार्थ हो, विवेक हो, जानकारी हो और जागृति हो तो रोगों से बचा जा सकता है।

आज का पढ़ा-लिखा आदमी जानता है कि रोग के कीटाणु-जर्म्स या वायरस/वैक्टीरिया प्रत्येक आदमी के शरीर में विद्यमान हैं। एक स्वस्थ आदमी है, उसके शरीर में भी यक्ष्मा या टी. बी. के कीटाणु मिल जाएंगे, किंतु जब तक रोग-प्रतिरोधक शक्ति मजबूत है, ये कीटाणु या वायरस सक्रिय और प्रभावी नहीं हो पाते। कोई शरीर से मजबूत और बलिष्ठ है तो दूसरा उस पर प्रहार करने की हिम्मत नहीं कर पाता। हमारी रोग-प्रतिरोधक शक्ति मजबूत है तो शरीर के लिए वह मजबूत किले और सक्षम प्रहरी का काम करती है।

प्रश्न है–रोग-प्रतिरोधक शक्ति कब मजबूत बनती है और कब कमजोर बनती है? हमारा इम्यून-सिस्टम कमजोर कब होता है? इसके कमजोर होने का एक कारण है कषाय की प्रबलता। क्रोध, अहंकार, घृणा, लोभ, वासना–ये सब हमारी रोग-प्रतिरोधक शक्ति को कमजोर बनाते हैं। शरीर विज्ञानी बताते हैं कि एक बार का तीव्र गुस्सा हमारी नौ घंटे की जीवनीशक्ति को समाप्त कर

देता है। अब गुस्सा करने वाले सोच लें कि वे अपने जीवन को कितना छोटा बना रहे हैं?

गुस्सा जिनके स्वभाव का अंग बन जाता है, वह आदमी अपना मूल्य बहुत कम कर लेता है। एक समय वह आता है कि ऐसे आदमी की परवाह करना लोग छोड़ देते हैं। कोई वर्ष में दो-चार बार गुस्सा करे तो उसका प्रभाव भी पड़े, लेकिन दिन भर में पांच बार आप गुस्सा करेंगे तो लोग यही कहेंगे कि उसकी बात छोड़ो, वह तो गुस्सा अपनी नाक पर रखता है। उसका स्वभाव ही ऐसा है।

गुस्सा करना अपने वेल्युएशन को कम करना है, अपना अवमूल्यन करना है, लेकिन कुछ लोग इसे अपनी इमेज के साथ जोड़ लेते हैं और समझते हैं कि इससे व्यक्तित्व रोबीला बनता है। प्रशासन के क्षेत्र में काम करने वाले अधिकारी तो जानबूझकर क्रोध का प्रदर्शन करते हैं। उनका मानना है कि मिजाज सख्त नहीं रखेंगे तो अधीनस्थ कर्मचारी बात नहीं सुनेंगे।

यह बिल्कुल गलत धारणा है। स्नेह, प्रेम और सौहार्द अपने जीवन में लाएं, उनका प्रयोग करें और फिर देखें कि लोगों का उस पर कितना असर पड़ता है? कठोर स्वभाव के अधिकारी की बात अधीनस्थ मान तो लेगा, लेकिन उसके प्रति कोई अपनत्व का भाव नहीं रहेगा। दूसरों के सामने उसकी आलोचना ही करेगा। हमेशा उसका अहित ही सोचेगा।

इन वर्षों में कई ऐसी घटनाएं घटीं, जिनमें कर्मचारी ने अपने अधिकारी की हत्या कर दी। कारण एक ही रहा–क्रोध में अधिकारी द्वारा उसे गाली दी गई, अपमानजनक बातें कही गई। मन में भयंकर प्रतिक्रिया हुई और अधिकारी को गोली मार दी।

अपने कनिष्ठ सहयोगियों के साथ प्रेम और मृदुता का व्यवहार करने वाले अधिकारियों को सेवानिवृत्त होने के अवसर पर देखा गया कि अधीनस्थ कर्मचारियों ने उसे भावभीनी विदाई दी, उसे तमाम तरह के उपहार भेंट किए। आजीवन उस अधिकारी को अपने परिवार के वरिष्ठ सदस्य जैसा सम्मान दिया, इसलिए यह धारणा निर्मूल है कि गुस्से के द्वारा अपने कर्मचारियों पर अनुकूल प्रभाव डाला जा सकता है।

धर्म शरीर के लिए रोग-प्रतिरोधक शक्ति का काम करता है। वह केवल आत्मा का ही कल्याण नहीं करता, अपितु शरीर का भी बहुत संरक्षण करता है।

धर्म दवा है

बहुधा एक प्रश्न होता है कि धर्म करने का उद्देश्य क्या है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है–कषाय को शांत करना, क्रोध, मान, माया, लोभ का अल्पीकरण ही धर्म का उद्देश्य है। ऐसे उद्देश्य के लिए धर्म की अनुपालना होती है तो शरीर भी स्वस्थ रहता है, इसलिए धर्म करते समय आपके मन में यह बात होनी चाहिए कि धर्म के द्वारा हम अपना आत्मकल्याण ही नहीं कर रहे हैं, अपने शरीर का भी कल्याण कर रहे हैं। धर्म का दोहरा लाभ हमें मिल रहा है। शारीरिक दुःखों से बचना चाहते हैं तो धर्म को दवा के रूप में प्रयोग करें।

पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के एक बार साइटिका का दर्द हो गया। बीकानेर से विशेषज्ञ डॉक्टर आए। जांच की और सात दिन तक बेडरेस्ट (पूर्ण विश्राम) की सलाह दी। गुरुदेव ने कहा–'बेडरेस्ट कहने में ही नहीं, प्रयोग में भी अच्छा नहीं लगता। मेरी प्रवृत्ति भी ऐसी नहीं है। मैं बेडरेस्ट नहीं कर सकता। आप कहते हैं तो मैं कायोत्सर्ग कर लूंगा।'

आचार्यश्री ने कायोत्सर्ग का प्रयोग शुरू किया। डॉक्टर ने सात दिन की बात कही थी। आचार्यश्री ने तीन दिन में ही स्वयं को स्वस्थ कर लिया। गुरुदेव ने इस पर एक संस्कृत में एक पद्य भी लिखा–

आनन्दो में रोमणि रोम्णि,
प्रवहतु सततं मनः प्रसत्तिः।
स्वस्थः स्वस्थोऽहमिति च मन्ये,
कायोत्सर्गे सुखं शयानः॥

कायोत्सर्ग में मैं कितने आनंद का अनुभव कर रहा हूं। इससे एक ओर ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना हो गई, वहीं दूसरी ओर शरीर को स्वस्थता भी मिल गई।

धर्म और स्वास्थ्य के संदर्भ में वरिष्ठता और कनिष्ठता का कोई विचार नहीं किया जाना चाहिए। यह भावना ही नहीं होनी चाहिए कि मैं परिवार का मुखिया हूं, वरिष्ठ हूं, इसलिए सबको डांटना, फटकारना, गुस्सा करना मेरा अधिकार है। कोई अगर ऐसा सोचता है तो यह उसके हित की नहीं, अहित की बात होगी। इसमें तो हानि ही हानि है। सामने वाले के मन में प्रतिक्रिया होगी और आपका स्वास्थ्य बिगड़ेगा। आखिर फायदा क्या हुआ?

अहंकार शरीर पर बहुत बुरा असर डालता है। मेरुरज्जु या रीढ़ की हड्डी हमारे स्वास्थ्य का मूल है। शरीर का पूरा ढांचा इसी पर अवलंबित है। मोटर

गाड़ी में जो स्थान चेसिस का है, वही हमारे शरीर में रीढ़ की हड्डी का है। अहंकारी में लचीलापन नहीं, अकड़न होती है।

विनम्र व्यक्ति अपना आत्मकल्याण तो करता ही है, अपने शरीर का भी बहुत हित करता है। छल-कपट, धोखाधड़ी और ठगी करने वाले को आप स्वस्थ बहुत कम पाएंगे। उसके शरीर में कई प्रकार के विकार आ जाते हैं। अच्छी कमाई हो रही है, इस बात की प्रसन्नता के बावजूद मन ही मन वह एक अज्ञात-सी पीड़ा और बेचैनी का अनुभव करता है।

आज मेडिकल साइंस केवल शरीर पर ही अटका नहीं है। मन और भावों पर भी वहां विमर्श चल रहा है और इसके आधार पर जो निष्कर्ष आ रहे हैं, वे चौंकाने वाले हैं। अब पता चल रहा है कि शरीर को स्वस्थ रखने में भाव अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अब रिसर्च इस बात की हो रही है कि किस तरह का भाव कौन-सा रोग पैदा करता है?

द्वेष, घृणा, निंदा-चुगली–ये सारे नकारात्मक भाव हैं और किसी न किसी बीमारी के जनक हैं। कुछ रोग ऋतुजनित हो सकते हैं। कुछ संक्रमण का परिणाम होते हैं, किंतु अधिकांश रोग हमारी वृत्तियों और कषायों के परिणाम हैं।

दुःख का हेतु : कल्पना

मन के तीन काम हैं–स्मृति, चिंतन और कल्पना। आदमी अपनी कल्पना से भी बहुत दुःखी बनता है। सामने है कुछ भी नहीं, किंतु बेलगाम कल्पना दौड़ लगा रही है और दुःख पैदा कर रही है। दो पड़ोसी बैठकर आपस में बातचीत कर रहे थे।

एक ने कहा–'सोचता हूं इस बार फसल अच्छी हो जाए तो एक भैंस खरीद लूं।'

दूसरे ने कहा–'खरीद लो, लेकिन सार-संभाल रखनी पड़ेगी। तुम्हारे घर के पास ही मेरा खेत है। मेरी फसल को अगर तुम्हारी भैंस ने नुकसान पहुंचाया तो मैं पड़ोसी का धर्म भूल जाऊंगा।'

यह बात किसान को कुछ कटु लगी। उसने कहा–'पशु कभी-कभी खड़ी फसल में मुंह मार ही देते हैं। फसल की इतनी ही चिंता है तो बाड़बंदी या तारबंदी करवा लो।'

इस कथन ने पड़ोसी को उत्तेजित कर दिया। उसने कहा–'तुम्हारी नीयत ठीक नहीं है। लगता है तुमने मुझे नुकसान पहुंचाने की पहले से ही सोच रखी है। हम इसे बर्दाश्त नहीं कर सकते।' इतना कहकर उसने लाठी संभाल ली और दोनों में भिड़ंत हो गई।

भैंस तब खरीदी जाती, जब फसल अच्छी होती और नुकसान भी वह तभी करती, जब सामने खेत होता, लेकिन कल्पना और संवेग से आदमी कितने ही हवाई किले बना लेता है। इस तरह के भाव और संवेग आदमी को दुःखी बनाते हैं।

धर्म को अगर सही अर्थ में समझ लिया जाए तो दुःखी बनने के प्रसंग बहुत कम आएंगे या आएंगे ही नहीं। धर्म के बराबर सुखी बनाने वाला कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। मेरी दृष्टि में कषायमुक्ति से बड़ा और कोई धर्म नहीं है। आत्मधर्म के साथ कोई विशेषण नहीं लगता। असली धर्म है आत्मा की पवित्रता। राग-द्वेष से मुक्त धर्म। शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अगर यह धर्म आपके जीवन में है तो आपके विचार कभी नकारात्मक नहीं होंगे। सदा विधायक और पॉजेटिव रहेंगे।

वाचिक हिंसा से मुक्ति

आज वाचिक हिंसा बहुत ज्यादा चल रही है। भारतीय संस्कृति का एक आदर्श रहा है। वहां कहा गया–संसदि परदोषं न प्रकाशयेत्–सभा में दूसरे के दोष का उद्घाटन नहीं करना चाहिए, लेकिन आज का वातावरण तो कुछ ऐसा है कि भरी सभाओं में दूसरों के लिए ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है कि सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए वे शब्द गाली की श्रेणी में आएंगे। सुनने वाले निंदा और आलोचना को चटखारे लेकर सुनते हैं, हंसते हैं और तालियां बजाते हैं।

आज तो वक्ता भी श्रोता का मूड भांपकर बोलते हैं। लोग क्या सुनना चाहते हैं, उसी के अनुसार बोलते हैं। वाचिक हिंसा पर ध्यान दिया जाना चाहिए। कहा जाता है कि कमान से छूटा हुआ तीर और मुंह से निकली हुई बात लौटकर वापस नहीं आती और फटी हुई चीजें सिलकर जोड़ी जा सकती हैं, किंतु जबान की कैंची से फाड़े हुए हृदय को साधना बहुत कठिन होता है।

एक प्रयोग यह भी

आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है कि बचपन में मुझे गुस्सा आता तो मां मेरे मुंह में मिश्री की डली रख देती। मां के इस प्रयोग ने क्रोध शांति की दिशा

में मेरी बहुत मदद की। कुछ समय बाद गुस्सा आना ही बंद हो गया। अब कोई वैसा प्रसंग आता है तो बिना मिश्री के ही मुंह में मिठास का अनुभव करने लगता हूं।' आज मनोविज्ञान का बहुत विकास हुआ है। बिहेवियर साइकोलोजी एक अलग विषय बन रहा है। वहां पूरे विस्तार से बताया गया है कि किसके साथ कैसा व्यवहार किया जाए? मेरा विश्वास है कि वाचिक अहिंसा की साधना कर ली जाए तो शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थता का अनुभव किया जा सकता है। क्रोध के दो रूप बनते हैं–सफलीकरण और विफलीकरण। गुस्सा आया और मुंह से गाली निकाल दी, हाथापाई शुरू कर दी, लाठी-डंडा चल गया तो समझें कि क्रोध सफल हो गया। क्रोध आया, लेकिन कोई शारीरिक प्रतिक्रिया न हुई, मौन रह गए तो समझें कि क्रोध का विफलीकरण हो गया। अहिंसा का यह बड़ा सूत्र है।

अनुकरण किसका करें?

कायिक अहिंसा का एक रूप है–अनावश्यक हिंसा से बचा जाए। उपलब्धता हो तो भी ऐसे पदार्थों का अनावश्यक व्यय न हो, जो सबकी जरूरत हैं। अन्न-पानी, खनिज, वनस्पतियां–ये सब हैं तो धरती पर जीवन है। ये समाप्त हो गए तो जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिस तीव्रता से पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है, पहाड़ों का क्षरण, जंगलों की कटाई, वन्य जीवों का सफाया और खनिजों का अनावश्यक दोहन हो रहा है, वह सब इसी तरह चलता रहा तो प्रकृति में बहुत बड़ा असंतुलन पैदा होने में देर नहीं है, फिर एटमबम की जरूरत ही नहीं होगी, दुनिया की आबादी वैसे ही विनष्ट हो जाएगी।

त्याग के द्वारा जो मानसिक प्रसन्नता और आत्मिक सुख हमें मिलता है, वह भोगों से प्राप्त नहीं हो सकता। समाज में बड़े कहे जाने वाले लोग भोगों के आदी हो रहे हैं। शास्त्रों में कहा गया है–महाजनो येन गतः स पन्थाः–महाजन (बड़े लोग) जिस पथ पर चलें, उसी का अनुसरण सबको करना चाहिए, लेकिन आज तो बड़े लोगों का कार्य अनुकरणीय रहा ही नहीं है। उनका अनुकरण और अनुसरण करना बुद्धिमानी नहीं है। आदर्श बनाना है तो किसी त्यागी-तपस्वी को बनाएं। उन्हीं का अनुकरण और अनुसरण करें।

हिंसा को बढ़ावा देने वाले जितने भी उपाय और साधन हैं, उनको कम कर सकें तो अहिंसाप्रधान, स्वच्छ और स्वस्थ समाज की रचना हो सकती है। ऐसा समाज, जिसमें हर आदमी सुख और शांति से जी सकेगा। यही दुःख से निजात पाने की दवा है।

9. कहां है सुख का स्रोत?

हर प्राणी यात्रा कर रहा है। इस यात्रा का नाम है–जीवन-यात्रा। यह यात्रा जन्म के साथ शुरू होती है और मृत्युपर्यंत चलती रहती है। यात्रा ही एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक पहुंचाती है। यात्रा करते हुए हम शैशव अवस्था से बाल्यावस्था तक, यौवन तक और फिर वृद्धावस्था तक पहुंचते हैं। मार्ग तय करने वाली यात्रा में तो विश्राम भी मिल जाता है, किंतु जीवन यात्रा तो अनवरत चलती है, बिना रुके। एक क्षण का भी इसमें विश्राम नहीं है।

इतनी महत्त्वपूर्ण यात्रा के बारे में अगर हमारी जानकारी सही नहीं है या आधी अधूरी है तो मंजिल पर पहुंच नहीं पाएंगे। साधन का और दिशा का चुनाव बहुत चिंतनपूर्वक होना चाहिए। दिल्ली जाने वाली गाड़ी आपको दिल्ली पहुंचाएगी, मुम्बई नहीं। मुम्बई जाने के लिए तो आपको मुम्बई वाली गाड़ी ही पकड़नी पड़ेगी। जीवन-यात्रा में तो चुनाव और भी मुश्किल हो जाता है। वहां तो और ज्यादा सावधानी की अपेक्षा होती है। आपको जाना कहां है, इसका निर्धारण आपको करना है।

कैसी मृगमरीचिका?

एक समझदार व्यक्ति यह निर्णय कर लेता है कि मुझे अच्छी गति में जाना है। इसके लिए वह सही साधन का चुनाव करेगा। अच्छी गति में जाने के लिए साधन या माध्यम भी अच्छा होना चाहिए, लेकिन आज भ्रांति पैदा हो रही है। साहित्य में 'मृग-मरीचिका' शब्द चलता है। कच्छ के रण में हमने देखा कि सूर्य की किरणें जब धरती पर पड़ती हैं तो चमकीली भूमि पानी का भ्रम कराती है। कहते हैं मृग उसे पानी समझकर उसकी ओर दौड़ लगाता है, लेकिन पानी उसे मिलता नहीं और प्यास का मारा वह बेचारा दौड़ता हुआ भूमि पर गिरता है और मर जाता है। मृग ही भ्रमित नहीं होता, आदमी भी भ्रमित होता है। कुछ लोग जीवन भर भटकते रहते हैं, उनका प्राप्य उन्हें नहीं मिल पाता। उनकी जीवन यात्रा निष्फल रह जाती है।

जीवन यात्रा सफल उसी की होती है, जो इस भ्रम को तोड़ देता है। भ्रांति पैदा करती है तृष्णा। यह कभी समाप्त नहीं होती। तृष्णा पर हम समाजशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय दृष्टि से विचार करें। अर्थशास्त्र कहता है खूब दौड़ो, तुम्हें लक्ष्य मिल जाएगा। अध्यात्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र कहता है–दौड़ो मत, रुक जाओ, तुम्हें लक्ष्य मिल जाएगा। दोनों की परस्पर विरोधी बातें हैं, लेकिन ठहर जाओ की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है।

केवल दौड़ते-भागते ही नहीं रहना है। कहीं ठहरना भी जरूरी है, लेकिन तृष्णा आदमी को कभी कहीं ठहरने नहीं देती। वह ऐसी मरीचिका है, जो आदमी को निरंतर दौड़ाती रहती है। आस्तिकवादियों का यह विश्वास है कि आदमी को भ्रमित करने और भटकाने वाली यह तृष्णा ही है। नास्तिक लोग, जिनका आत्मा-परमात्मा, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं है, वे कहते हैं कि जितनी तृष्णा होगी, समाज का उतना ही विकास होगा। बिना आकांक्षा और तृष्णा के समाज प्रगति नहीं कर सकता। इसके बिना कोई आविष्कार भी नहीं हो सकता। दोनों दृष्टियों में बड़ा अंतर है।

सामाजिक दृष्टि से विचार करते हैं तो विकास के लिए आकांक्षा कोई बुरी बात नहीं लगती, किंतु निरंतर आकांक्षा का विस्तार अंततः विनाश की ओर ले जाता है। जरूरत की पूर्ति हो जाने पर आकांक्षा को विराम मिल जाना चाहिए, लेकिन इस पर सवार होने के बाद सबकुछ इसकी इच्छा पर छोड़ देना पड़ता है। इस पर लगाम एक ही कारगर होती है और वह है धर्म या अध्यात्म की लगाम। वही इस पर नियंत्रण रख सकता है। धोखा, छल-प्रपंच, कपट आदि सब तृष्णा के जगत में ही होते हैं। तृष्णा के जगत में सबकी यही आकांक्षा रहती है कि सबकुछ मुझे ही मिल जाए तो कितना अच्छा हो। संविभाग और बंटवारा यहां मान्य नहीं होता। दूसरे का हिस्सा देने में यहां बहुत कष्ट होता है।

एक राष्ट्र को अपनी सुरक्षा करने का अधिकार तो है, किंतु सैन्य बल और अर्थ बल से दूसरे राष्ट्र को डराने, धमकाने का अधिकार नहीं है। साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति आदमी की बहुत पुरानी प्रवृत्ति है। दूसरे के स्वत्व को हरण करने की बात युगों-युगों से चली आ रही है। आकांक्षा का उपयोग रचनात्मक काम में कम और ध्वंसात्मक काम में ज्यादा होने लगा है।

एकमात्र उपाय

आज के विचारकों, विद्वानों, साहित्यकारों और विशेषकर राजनीतिक क्षेत्र के लोगों को इस बात पर विचार करना है कि अगर आकांक्षा इसी तरह

विस्तार लेती रही तो एक दिन यह सारी दुनिया को विनाश के गर्त में डाल देगी। भ्रांति को तोड़ने का एकमात्र उपाय है अध्यात्म। अध्यात्म की चेतना जाग गई तो भ्रम, संशय जैसा कुछ रह ही नहीं जाता। दुःख की स्थिति उत्पन्न होने से भी वह दुःख का वेदन नहीं करता। पारसमणि प्राप्त होने पर वह प्रसन्न नहीं होता। वह उस चीज की मांग करता है, जिसे पाकर पारसमणि को फेंक देने या किसी को दे देने का मानस बन जाए। उसकी दृष्टि का सारा विपर्यास मिट जाएगा और वह सम्यग्दृष्टि बन जाएगा। यह भ्रांति ही तो है कि आदमी पदार्थ को सभी तालों की एकमात्र चाबी मान बैठा है। अगर कोई अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में यह आकलन करे कि जन्म के बाद जब से मैं बालिग या मेच्योर बना, तब से लेकर आजतक मेरे जीवन में कितनी बार सुख के प्रसंग आए और कितनी बार दुःख के प्रसंग आए? कितनी बार मैं समस्यामुक्त बना और कितनी बार समस्यायुक्त बना?

पूरा आकलन और विश्लेषण करने के बाद, सारा गणित लगा लेने के बाद उसे पता चलेगा कि जीवन में वह दुःखी ज्यादा रहा है, सुख के प्रसंग कम आए हैं। सब तरह से संपन्न होने के बावजूद बीमारी ने इतना त्रस्त किया कि धन उसे बहुत सुख नहीं दे सका। करोड़ों का स्वामी होते हुए भी परिवार का कलह उसे हर समय व्यथित किए रही। राजनीतिक समीकरण हर बार गड़बड़ा गए और शीर्ष पद पर पहुंचने से वह वंचित रह गया। कहने का मतलब यह कि नाकामी का पलड़ा उसे भारी मिलेगा, कामयाबी कम।

मेरे पास धन है–यह अनुभूति भी आदमी को कम सुख नहीं देती, किंतु यह खुशी या प्रसन्नता उस समय काफूर हो जाती है, जब धन उसकी शारीरिक वेदना को कम करने में अक्षम सिद्ध होता है। एक सौ तीन डिग्री बुखार में हलवा, खीर और मनपसंद मिठाई भी रोगी को जहर जैसी लगेगी। मन में पीड़ा और व्यथा है तो सुरीला संगीत किसे भाएगा? साफ बात है कि पदार्थ में आदमी को सुख देने की क्षमता नहीं है। एक आदमी के पास दौलत भी है और अच्छा स्वास्थ्य भी हैं, किंतु बेटा कपूत निकला तो सुख सपने में भी नहीं आएगा। पत्नी लड़ाकू और जिद्दी है तो भी जीवन नरक बन जाएगा। सुख के अनेक साधन उपलब्ध होने पर भी आदमी की प्रवृत्ति कुछ ऐसी है और निमित्त भी उसे ऐसे मिल जाते हैं कि वह सुख का अनुभव नहीं कर पाता। निर्बाध सुख चाहिए तो तृष्णा और लोभ को कम करना होगा। सुख पाना है तो एक ही सूत्र को काम में लें। वह सूत्र है–अपने भीतर रहो। अपने भीतर रहने की कला आ गई तो बाहर की समस्याएं सताएंगी नहीं।

तीन कोटियां

भगवान महावीर ने मनुष्य की तीन कोटियां कीं–अल्पेच्छ, महेच्छ और अनिच्छ। अनिच्छ यानी जिसके कोई इच्छा नहीं, यह सबसे उत्कृष्ट कोटि है, किंतु इस स्थिति तक कोई बहुत मुश्किल से ही पहुंच सकता है। महेच्छ निकृष्टतम स्थिति है और यह आदमी को कहीं का नहीं रखती। आदर्श स्थिति है अल्पेच्छ। उतने की ही इच्छा करना, जितना जीवन के लिए जरूरी है। काम चल जाए, बस, उतना ही। अगर हमने अध्यात्म को, धर्म को अच्छी तरह से समझा है तो हमारी गति महेच्छ से अल्पेच्छ की ओर होनी चाहिए अन्यथा जहा लाहो तहा लोहो वाली स्थिति बनेगी। थोड़ा-सा लाभ हमें बड़े लोभ की ओर ले जाएगा। लाभ और लोभ का क्रम बराबर चलता रहेगा। आदमी उसका परिणाम भी भुगतता रहेगा।

कमाई के फेर में पड़े सेठ का सारा जीवन पैसे के हिसाब-किताब में बीता। असाध्य बीमारी से ग्रस्त होकर खाट पकड़ ली। अंतिम समय आ पहुंचा। परिवार के सभी सदस्य शय्या के इर्द-गिर्द खड़े थे। पीड़ा से कराहते सेठ ने क्षीण स्वर में पूछा–'मोहनलाल कहां है?'

बड़े लड़के ने सामने आकर कहा–'आपके सामने ही तो खड़ा हूं पिताजी।'

'सोहन कहां है?'

'यहीं तो हूं।' दवा की शीशी हाथ में लिए दूसरा बेटा बोला।

'दयाराम कहां गया?'

'मैं भी यहीं हूं।' सिरहाने खड़ा तीसरा लड़का भी सामने आया।

'.....और हरसू?'

'यह देखिए, आपके सामने' चौथे बेटे ने निकट आकर कहा।

'सब यहीं आ गए तो दुकान पर कौन है? लगता है मेहनत से खड़ा किया गया मेरा सारा कारोबार तुम सब डुबो कर रहोगे।' सारी पीड़ा भूलकर सेठ ने नाराजगी भरे तीखे स्वर में कहा। अध्यात्म के संदर्भ में हम सचाई को समझें और निश्चय करें कि महेच्छ हमें किसी भी स्थिति में नहीं बनना है। हम स्वयं को अल्पेच्छ की स्थिति में ले जाएंगे। अपनी इच्छाओं को इतना विस्तार नहीं देंगे कि वह हमारे लिए समस्या बन जाए। दुःख में ही अगर जीवन की यात्रा चलती रही तो यह जीवन की सार्थकता नहीं होगी। अपने अज्ञान से कष्टमय जीवन जीना इस दुर्लभ मनुष्य जीवन का एक प्रकार से अनादर करना है। हमें मध्यममार्गी बनना है। सुख का स्रोत इसी मार्ग से खुलेगा।

10. सबसे बड़ा सुख समभाव

दो शब्द हैं–व्यक्ति और समाज। व्यक्ति अकेला होता है, जबकि समाज व्यक्तियों का समूह। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से हमें व्यक्ति पर विचार करना चाहिए। कुछ बातें व्यक्तिगत होती हैं। सुख और दुःख व्यक्तिगत होते हैं। मैं बहुत बार एक प्रश्न करता हूं कि बताओ, सुख या दुःख की दुकान कहां है? लेकिन मुझे आजतक कोई नहीं बता सका। हिन्दुस्तान में ही नहीं, दुनिया के किसी भी शहर में सुख या दुःख का क्रय-विक्रय करने वाला कोई केन्द्र आपको नहीं मिलेगा।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सुख और दुःख का स्रोत व्यक्ति के अपने भीतर है। आदमी अपने ज्ञान से सुख और अज्ञान से दुःख की उत्पत्ति कर लेता है। यह खरीदी या बेची जाने वाली वस्तु नहीं है। इसका संबंध हमारी अनुभूति से है। अनुकूल वेदन को सुख और प्रतिकूल वेदन को दुःख कहते हैं।

सुख-दुःख का संवेदन

सामुदायिक जीवन में सुख और दुःख की अनुभूति सामूहिक होती है। स्वादिष्ट चीज पूरे गांव को मिली तो सबने उसे खाकर सुख की अनुभूति की। अकाल से पूरा क्षेत्र प्रभावित हो तो दुःख किसी अकेले को नहीं, पूरे क्षेत्र के लोगों को होगा, क्योंकि उससे सब प्रभावित हैं।

व्यक्तिगत सुख और दुःख का आवंटन नहीं किया जा सकता। द्रव्य और पदार्थ का विभाग अथवा बंटवारा हो सकता है। परिवारों में अलगाव होता है तो धन-संपदा, खेत, खलिहान सब बंट जाते हैं, लेकिन व्यक्तिगत क्षति का बंटवारा नहीं हो सकता। बेटे या भाई की मौत पर दूसरा कोई शोक और संवेदना व्यक्त कर सकता है, किंतु वह दुःखी व्यक्ति के दुःख को बांट नहीं सकता। सुख-दुःख के शमन और उभार में कषायों का बड़ा योग है।

जब-जब कषाय जागृत और उद्दीप्त होता है, आदमी का चेहरा विद्रूप हो जाता है, बिगड़ जाता है। कषाय शांत होता है तो आदमी शांत समुद्र की तरह हो जाता है। चेहरे पर एक अद्‌भुत कांति आ जाती है। यहां इस बात को समझ

लेना है कि आंतरिक सुंदरता का बाह्य सौंदर्य के साथ कोई संबंध नहीं है। आप देख सकते हैं कि कुछ लोग चेहरे से सुंदर होते हुए भी स्वभाव और आदत के अच्छे नहीं हैं। इसी तरह यह भी जरूरी नहीं कि कुरूप व्यक्ति चरित्र की दृष्टि से न्यून हो। इतिहास में ऐसे बहुत से लोग हुए, जिन्हें चेहरे की सुंदरता नहीं मिली थी, किंतु अपने कर्तृत्व से वे अमर हो गए।

दिगम्बर परंपरा के महान आचार्य कुन्दकुन्द के बारे में कहा जाता है कि शरीर से वे सुंदर नहीं थे। हमारे धर्मसंघ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य भी आकृति से सुंदर नहीं थे। रंग सांवला और कद के ठिगने थे, किंतु आभामंडल इतना सुंदर और बुद्धि इतनी तीक्ष्ण कि उसकी कोई सानी नहीं। उन्होंने कालजयी ग्रंथ लिखे। आचार्य भिक्षु के जीवन-चरित्र और उनके दर्शन को पहली बार दुनिया के सामने रखा।

सौंदर्य नहीं, मुख्य होता है आभामंडल। यह मूलतः लेश्या से संबंधित है। जिनकी लेश्या पवित्र है, उनका आभामंडल भी पवित्र होता है। सुख परिलक्षित होता है आदमी के चेहरे पर और वह आभामंडल के रूप में सामने आता है। आभामंडल वाले चेहरे के चारों ओर एक मेग्नेटिक फील्ड बन जाता है। वह अपने चुंबकीय क्षेत्र के दायरे में आने वाली हर चीज को अपनी ओर खींचता है, आकर्षित करता है।

सनाथ या अनाथ

अनाथी बहुत छोटी वय में मुनि बने। दीक्षित होने के बाद उनका जीवन बदल गया। वे एक ही स्थान पर खड़े-खड़े समाधिस्थ हो जाते और कई दिनों तक समाधि में लीन रहते। एक दिन भगवान महावीर के दर्शन के लिए जा रहे सम्राट श्रेणिक ने उन्हें ध्यानावस्था में देखा तो बस, देखता रह गया। उनके चेहरे की अद्भुत कांति और शांति से खींचा श्रेणिक उनके निकट गया। घंटों बाद मुनि का ध्यान टूटा। सम्राट ने वंदना की और कहा–'आपके चेहरे की आभा बता रही है कि आप किसी बड़े और कुलीन घराने से संबंध रखते हैं, फिर ऐसी क्या विवशता रही, जिससे आप संन्यास के बीहड़ मार्ग पर चल पड़े?'

मुनि ने कहा–'राजन! मैं अनाथ था, इसलिए संन्यास के मार्ग पर प्रस्थित हुआ। मेरे सामने कोई विवशता नहीं थी। मैंने स्वेच्छा से यह रास्ता लिया है।'

सम्राट को मुनि पर दया आई, कहा–'तो फिर इसी वक्त आप स्वयं को सनाथ समझें। मेरे साथ चलें, मैं आपको वह हर चीज दूंगा, जिसकी आपको अपेक्षा होगी।'

मुनि ने कहा–'आप मुझे क्या देंगे, जबकि आप स्वयं अनाथ हैं।'

सम्राट श्रेणिक को एक झटका-सा लगा। अकिंचन मुनि मुझे अनाथ समझ रहे हैं। शायद ये मुझे पहचान नहीं पाए। इन्हें व्यक्ति की पहचान नहीं है और शायद व्यवहार का ज्ञान भी नहीं है, अन्यथा मेरे राजसी तामझाम को देखकर इतना तो समझ ही जाते कि मैं साधारण आदमी नहीं हूं।

सम्राट का दर्प जाग उठा, किंतु उसे दबाकर वे संयत स्वर में बोले–'शायद आपने मुझे पहचाना नहीं। मैं सम्राट श्रेणिक हूं और मेरे पास वह सबकुछ है, जिसे इस धरती पर बहुमूल्य कहा जाता है। समस्त निधियों का मैं स्वामी हूं, फिर आपने मुझे अनाथ क्यों कहा?' 'बहुत कुछ तो मेरे पास भी था राजन्! लेकिन वह मेरे किसी काम नहीं आया। मेरे पिता की अकूत संपदा भी मेरी आंख का दर्द दूर नहीं कर सकी। उस दिन मैंने स्वयं को अनाथ ही समझा। सनाथ तो उस दिन हुआ, जिस दिन प्रव्रज्या ग्रहण की। मेरी आंखों का दर्द भी उसी दिन दूर हो गया। आप भ्रम में हैं और किसी दिन आपको भी अपनी वास्तविक स्थिति का पता चल जाएगा। उस दिन आप अनुभव करेंगे कि आप अनाथ हैं या सनाथ?' मुनि के कथन से सम्राट निरुत्तर हो गया। बात समझ में आ गई। वह मौन भाव से सोच रहा था, सचमुच अभी मैं किसी को सनाथ बनाने की हैसियत में नहीं हूं।

भीतर में बहुत गहरे जाकर हर व्यक्ति अपना आकलन करे। वह कितना अनाथ है, कितना सनाथ? समझ में आ जाएगा। बाहर की संपदा अहंकारी बनाती है, जबकि भीतर की संपदा विनय और सहिष्णुता की क्षमता प्रदान करती है। हम भीतर से इतने समृद्ध बन जाएं कि जीवनपर्यंत यह भीतर का खजाना भरा रहे, कभी खाली न हो। सुख और परम शांति का रहस्य भी यही है। सुखी वही रह सकता है, जिसने भीतर की समृद्धि अर्जित कर ली। अन्यथा इस अशाश्वत दुनिया में आकर कोई सुखी कैसे रह सकता है?

जिसके पास भीतर की संपदा नहीं होती, उसके सुख-दुःख की चाबी हमेशा दूसरों के पास होती है। अक्लमंदी इसी में है कि चाबी अपने हाथ में रखी जाए। साधु हो या गृहस्थ, भीतर से समृद्ध बनने का प्रयत्न हर किसी को करना चाहिए।

तप, योग, संयम, उपशम आदि को निर्ग्रंथ का धन कहा गया है। धनहीन गृहस्थ कभी सुखी नहीं रहता, किंतु धनहीन साधु सदा सुखी रहता है। गुरुदेव तुलसी ने गाया–

समता रा सागर संत सुखी संसार में।
निज आत्म उजागर संत सुखी संसार में॥

समता का सुख ही सबसे बड़ा सुख है। आत्मा में रमण करने का अभ्यास हो जाए तो दुःख का प्रसंग आने पर भी दुःखी नहीं बनेंगे। धन कमाना कठिन है, किंतु भीतर का धन कमाना तो बहुत ही कठिन है। भीतर की कमाई हर कोई नहीं कर सकता। जो बाहर से धन कमाने के अभ्यस्त हैं, उनके लिए तो महादुष्कर है।

आत्मा, इन्द्रिय, मन, चेतना–ये सब कोई साधारण विषय नहीं हैं। आज के पाठ्यक्रम में ये सब नहीं मिलेंगे। यह आज की अर्थकरी विद्या वाली फैकल्टी नहीं है। बहुत गूढ़ विषय हैं ये और इन्हें जानने के लिए ज्ञानी गुरु और कुशल मार्गदर्शक की जरूरत पड़ती है। बाहर का बहुत कुछ छोड़ने के बाद यह भीतर की संपदा हासिल हो पाती है।

सुख कहां है और दुःख कहां है? इसका पता लगाना पड़ेगा और फिर निर्णय के आधार पर सुख को प्राप्त करने का रास्ता खोजना पड़ेगा। वह रास्ता है समभाव। इस मार्ग को पकड़ लें तो समस्यारहित सुखी जीवन प्राप्त कर सकते हैं।

11. स्थायी सुख क्या है?

दुःखमुक्ति की अभीप्सा लेकर आए शिष्य का मार्गदर्शन करते हुए गुरु ने कहा–'सुख और दुःख व्यक्ति के अपने हाथ में है। वास्तविकता यह है कि कोई किसी को न सुखी बना सकता है, न दुःखी। मैं भी तुम्हें सुखी नहीं बना सकता, किंतु सुख का रास्ता दिखा सकता हूं। वह भी क्षणिक नहीं, शाश्वत सुख का रास्ता। क्या तुम शाश्वत सुख पाना चाहते हो?'

शिष्य ने प्रसन्न मन से कहा–'हां, मुझे शाश्वत सुख की ही तलाश है।'

शाश्वत या ऐकांतिक सुख कोई मामूली सुख नहीं है। जब क्षण भर का सुख ही आदमी को बहुत आनंद की अनुभूति करा जाता है तो चिरकाल का सुख, शाश्वत सुख की तो बात ही क्या। यह सुख आने के बाद फिर कभी जाता नहीं।

सुख का मार्ग

गुरु ने कहा–'ठीक है, मैं तुम्हें एकांत सुख का मार्ग बताऊंगा। तुम दत्तचित्त होकर ध्यान से सुनो।' इतना कहकर गुरु की वाणी फिर गूंजी–

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥

शाश्वत सुख का पहला उपाय है संपूर्ण ज्ञान। जब तक पूरा ज्ञान नहीं होता, भीतर का अंधकार मिटता नहीं। समग्र ज्ञान अंतर को पूर्ण रूप से प्रकाशित कर देता है। आदमी दुःखी इसलिए है कि उसे पूरा ज्ञान नहीं है। न उसे वर्तमान का ज्ञान है तथा न भूत और भविष्य का। न कार्य का ज्ञान, न परिणाम का ज्ञान। न प्रवृत्ति का ज्ञान, न निवृत्ति का ज्ञान। कुछ लोग प्रवृत्ति शुरू करते हैं, किंतु निवृत्ति का ज्ञान उन्हें नहीं होता। कार्य तो प्रारंभ कर देते हैं, किंतु समाप्त कब और कैसे करना है, यह नहीं जानते। इस संदर्भ में एक रोचक कथा है–

दो भाई थे। छोटा भाई आर्थिक दृष्टि से कमजोर था और बड़ा भाई संपन्न। यह सर्वविदित है कि धन आदमी को अहंकारी और स्वार्थी बना देता है। जहां धन की बात आती है, वहां नाते-रिश्ते कोई खास मायने नहीं रखते। धन की विशेषता यह है कि यह अपनों के बीच में भी दरार डाल देता है। बड़ा भाई स्वार्थी और अहंकारी था। सक्षम होते हुए भी वह अपने छोटे भाई की कोई मदद नहीं करता था।

छोटा भाई मेहनत-मजदूरी करके जैसे-तैसे अपना जीवन यापन कर रहा था। उसके सामने रोज कुआं खोदकर पानी पीने की बात थी। यात्राओं में विशेषकर मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र की यात्रा में गरीबी के दारुण दृश्य देखे हैं। आदमी को बदतर जीवन बिताते देखा है। उन्हें देखकर ऐसा लगा जैसे वे जीवन नहीं, जीने का अभिशाप भोग रहे हों। आप बताएं जिनका जीवन पेट की आग बुझाने में बीत रहा हो, वे जीवन के अन्य पक्षों के बारे में क्या सोच सकते हैं? उनके सामने धर्म और अध्यात्म का उपदेश देने में भी झिझक होती है।

गरीबी-अमीरी सभी वर्ग के लोगों में देखी जा सकती है। जैन समाज अपेक्षाकृत समृद्ध समाज माना जाता है, किंतु इस समाज में भी कुछ बहुत गरीब परिवार मिल सकते हैं। मेरे पास गरीबी से संघर्ष करके पला-बढ़ा एक युवक आया। आज तो वह अच्छी पोजीशन में है। उसने अपने संघर्ष के दिनों की कहानी बताते हुए कहा–'आचार्यश्री! वर्षों तक मेरे घर में दो बार चुल्हा नहीं जला। सवेरे नमक-मिर्च के साथ रोटी खाकर स्कूल चला जाता था। मेरी मां दूसरों के यहां छोटी-सी नौकरी कर किसी तरह दिन की दो रोटी का प्रबंध कर लेती थी।'

गरीबी सचमुच जीवन का अभिशाप है। छोटा भाई अनमने भाव से कहीं मजदूरी करने जा रहा था। मार्ग में उसे एक बूढ़ा आदमी मिला। उसके सिर पर लकड़ी का गट्ठर था। वह कोई देवदूत या फरिश्ता रहा होगा, जो उसकी गरीबी पर रहम खाकर दर्शन देने आ गया। उसने कहा–'बेटा, मेरी लकड़ियों का यह गट्ठर तुम सामने दिखाई दे रहे मेरे घर तक पहुंचा दो। तुम्हें तुम्हारी मजदूरी मिल जाएगी।'

गरीब आदमी स्वभाव से ही दूसरों का मददगार होता है। उसने कहा–'बाबा! मजदूरी की क्या बात, उधर ही तो जा रहा हूं। आपका बोझ घर तक पहुंचा दूंगा।' यह कहकर उसने बोझ उठाया और बूढ़े के घर तक पहुंचा दिया। बूढ़े ने उससे पूछा–'बेटा, दुःखी लग रहे हो। बोलो, क्या परेशानी है?'

युवक ने कहा–बाबा! गरीबी से बड़ी और कोई परेशानी या समस्या होती है क्या? मेरे लिए पेट पालना भी भारी पड़ रहा है।'

बूढ़े ने उसे पत्थर की एक चक्की देते हुए कहा–'इसे ले जाओ, यह तुम्हारी हर समस्या का समाधान है।'

युवक ने कहा–'बाबा! गरीबी का भार कम है क्या, जो एक पत्थर और थमा रहे हो।'

बूढ़े ने कहा–'बेटे, यह पत्थर नहीं, भूख और गरीबी के उन्मूलन की मशीन है। मन में जिस चीज की इच्छा धारकर इसे दाहिनी ओर घुमाओगे तो यह वही चीज उगलना शुरू कर देगी। बाईं ओर को घुमाओगे तो अभीप्सित चीज निकलना बंद हो जाएगी।'

युवक ने बाबा की बातों पर विश्वास कर चक्की उठाई और घर आकर उसे पत्नी के सामने रख दिया। पत्नी अप्रसन्नता से बोली–घर में अन्न के दाने नहीं और पीसने का सामान उठा लाए, इसका क्या करूं? अभाव और संतापग्रस्त आदमी वैसे ही स्वभाव से चिड़चिड़ा हो जाता है। पत्नी ने पत्थर की पटिया लेकर आए पति को बहुत जली-कटी सुनाई तो पति ने मार्ग में मिले बाबा और उनकी मदद से पुरस्कार स्वरूप मिली चक्की की पूरी दास्तान सुना दी और पत्नी को आदेश दिया–आंगन को साफ कर उस पर धुली हुई चादर बिछाओ। मैं बाबा की इस चक्की का इसी समय परीक्षण करूंगा। पत्नी ने अनिच्छापूर्वक पति के आदेश का पालन किया। चादर पर चक्की को स्थापित कर पत्नी से पूछा–बोलो तुम्हें क्या चाहिए? पत्नी समझ गई कि भूख ने इन्हें विक्षिप्त कर दिया है, इसलिए ऐसी हरकतें कर रहे हैं, लेकिन जब पति ने जोर देकर उत्तेजना में फिर वही प्रश्न दोहराया तो पत्नी खीजकर बोली–'मुझे तो एक मन चावल चाहिए। दे सकता है तुम्हारा यह भाटा?'

पति ने बाबा का स्मरण किया, फिर हुंकार भरी–'चक्कीरानी! दे चावल'–इतना कहकर उसने चक्की की मूठपर हाथ रखा और दाहिनी ओर उसे चक्राकार गति देना शुरू कर दिया, फिर तो जैसे चमत्कार हो गया। पत्नी फटी आखों से श्वेत चावल उगलती चक्की को एकटक देख रही थी। उसने तो व्यंग्यपूर्वक एक मन चावल की मांग की थी और यहां तो आंगन में चावल ही चावल दिखाई दे रहे थे। युवक जोश में भरा अभी भी चक्की को घूर्णन दिए जा रहा था। उसमें ताकत आ गई थी। चावलों का ढेर लग गया। पत्नी के मुंह से अनायास निकला–बस, अब और नहीं, इतना ही काफी है। पति को बाबा का

निर्देश याद आया। उसने चक्की के पाटों को उल्टी दिशा में गति दी तो चावल उत्पादन की प्रक्रिया बंद हो गई।

गरीब और दुःखी आदमी को चक्की क्या मिली, जैसे चिंतामणि रत्न हाथ में आ गया। देखते ही देखते सारे हालात बदल गए। जीर्ण झोंपड़ी की जगह कुछ दिन बाद तीन मंजिल इमारत खड़ी थी। कभी जो दूसरों के यहां मजदूरी करता था, अब उसके यहां नौकरों की कतार थी, लेकिन इतना सबकुछ होते हुए भी उसने अपना आपा नहीं खोया। उसकी विनम्रता और पुरुषार्थी वृत्ति अभी भी वैसी ही थी। यथासंभव दूसरों की मदद करना और दूसरों को सम्मान देने की भावना का लोप नहीं हुआ। सद्बुद्धि रहती है तो संपत्ति आती है और टिकती भी है। वह गरीब आदमी खुशहाल हो गया।

उस गरीब आदमी का ऐश्वर्य देखकर पड़ोसियों की छाती पर जैसे चक्की चलने लगी। सबसे ज्यादा ईर्ष्या और जलन हो रही थी बड़े भाई को, क्योंकि अब वह छोटे भाई की तुलना में नौकर जितनी हैसियत का भी नहीं था। उसने भाई की इस आकस्मिक समृद्धि का रहस्य जानना चाहा। अकारण, अनायास और अज्ञात स्रोत से जब किसी के पास धन-दौलत और समृद्धि आने लगती है तो लोग इस रिसर्च में लग जाते हैं कि आ कहां से रहा है?

अधूरा ज्ञान

बड़ा भाई खोज में लग गया कि इसकी मिल, फैक्ट्री या इंडस्ट्री कहां है, जो छप्पर फाड़कर दिए जा रही है? आखिर गुप्त रूप से उसने पता लगा ही लिया स्रोत का। देख लिया छिपकर कि यह सब एक चक्की का कमाल है, जो उसे मनचाहा देती जा रही है।

बड़े भाई के मन में विकट लोभ जाग गया। जैसे भी हो उसने उस चक्की को हासिल करने का निश्चय कर लिया। एक बार चक्की हाथ में आ जाए तो उसके सारे मनोरथ सफल हो जाएं। सबसे बड़ी बात तो यह कि भाई की समृद्धि का आधार छिन जाएगा और दूसरी बात अपनी समृद्धि का द्वार खुल जाएगा।

एक अंधेरी रात को अवसर पाकर चोरी छिपे वह छोटे भाई के घर में घुसा और चक्की को चुरा लाया। आगे का पूरा प्लान उसने पहले से ही बना लिया था। घर में चक्की को रखता है तो भेद खुल जाने का डर था, इसलिए चक्की सहित उसने दूर शहर में जाकर कुछ दिन रहने का निश्चय किया। कुछ दूर पैदल चला, फिर आगे का रास्ता जल मार्ग से होकर था। एक नौका पर चक्की सहित सारा सामान रखा और नौका पर आगे की यात्रा शुरू की। खाने का समय हुआ

तो साथ में लाया भोजन निकाला और भोजन करने लगा। खाने में उसे नमक कम लगा। उसे ध्यान आया कि नमक तो साथ में लाना ही भूल गया। चलो कोई बात नहीं, हर समस्या का समाधान चक्की तो उसके पास है। दो मिनट में नमक सुलभ करा देगी। 'मुझे नमक चाहिए' कहकर उसने चक्की स्टार्ट की तो नमक निकलना शुरू हो गया, लेकिन चक्की को बंद करने की प्रक्रिया वह जानता ही नहीं था। चक्की को शुरू करने की विधि देखते ही तो उस पर लोभ का भूत सवार हो गया था। इतना भी धैर्य नहीं था कि पूरी प्रक्रिया को समझ लेता। अब रुक जाओ, कहने से भला वह चक्की क्यों रुकती? नमक बनने की प्रक्रिया निरंतर जारी रही और नाव उसके भार से ओवरलोड होती जा रही थी। वह व्यक्ति बदहवास हालत में कभी चक्की के आगे हाथ जोड़ता, कभी भगवान को पुकार लगाता, लेकिन उसकी सुनवाई किसी ने नहीं की और कुछ देर बाद वह नौका चक्की, नमक और उस चोर भाई को लेकर नदी के तल में समा गई।

यह है लोभ, ईर्ष्या और अधूरे ज्ञान का परिणाम। अधूरा ज्ञान बहुत खतरनाक होता है। अधूरा ज्ञान एक और खतरा पैदा करता है अंधकाररूपी मोह का। यह अज्ञान का मोह जिस पर सवार हो गया, उसे फिर कुछ नहीं सूझता। आदमी जानता हुआ भी नहीं जानेगा। देखता हुआ भी नहीं देखेगा, सुनता हुआ भी नहीं सुनेगा। मोह का अंधकार बहुत घना होता है। औलाद बदचलन हो रही है। सारे अवगुण एक-एक कर उसमें आते जा रहे हैं। अटैची में रुपये भरकर रात को निकलता है। जुआघर और क्लबों में लुटाकर सवेरे लौट आता है, यह सब देखते हुए भी मोहग्रस्त बाप इकलौते बेटे के हर कुत्सित कर्म को अनदेखा कर देता है। यह मोह का मोतियाबिंद है, जिसे दुनिया का कोई भी आई स्पेशलिस्ट ठीक नहीं कर सकता। जब भीतर में पूर्ण ज्ञान का प्रकाश होगा, तभी यह मोह का पर्दा हटेगा।

देन किसकी?

आज भ्रष्टाचार की बात चारों ओर से सुनाई दे रही है। हिंसा, अनैतिकता, आतंकवाद, उपद्रव लगातार बढ़ता जा रहा है, लेकिन यह सब किसकी देन है, इस पर विचार करने का किसी के पास अवकाश नहीं है। इन सबका कारण अधूरा ज्ञान है। सड़क दुर्घटनाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। वाहनों की बहुतायत तो इसका कारण है ही, अधूरा ज्ञान मुख्य कारण है। पैसे की कमी किसी के पास है नहीं। नई गाड़ी खरीदी, उसी दिन ड्राइविंग सीखी और दूसरे दिन निकल पड़े गाड़ी लेकर यात्रा पर। सकुशल लौट आएं तो समझिए भाग्य के बली हैं। पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए न तो आज किसी के पास समय है तथा न उतना धैर्य।

शांति के आकांक्षी सभी हैं, फिर अशांति क्यों बढ़ रही है? इसलिए कि जो शांति दे सकता है, उसकी ओर पीठ की जा रही है और जो अशांति को बढ़ाने वाला है, उसे प्राप्त करने की होड़ मची है। पदार्थ आवश्यकता की पूर्ति तो कर सकता है, किंतु शांति का प्रदाता नहीं है, इस बात को हर व्यक्ति मानकर चले। पश्चिम के लोग आज भारत की ओर मुख कर रहे हैं, क्योंकि अब वे मानने लगे हैं कि शांति का सूत्र भारत से मिल सकता है, मिला है, लेकिन भारत के लोग हर बात में पश्चिम का अंधानुकरण कर रहे हैं। सुख और शांति का आधारसूत्र क्या है? यही कि पदार्थ को छोड़ते जाओ, शांति मिलनी शुरू हो जाएगी। पदार्थ में अगर सुख और शांति मिलती तो कुमार सिद्धार्थ और कुमार वर्द्धमान बुद्ध और महावीर बनने के लिए राजमहल कभी न छोड़ते।

सुख और शांति का एक मार्ग खोजा गया त्याग के रूप में। परिग्रह करो, इकठ्ठा करो, यह सुख का मार्ग नहीं हो सकता। इसके कारण को समझिए। परिग्रह और भय–इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। जहां परिग्रह है, संचय है, वहां भय अनिवार्य रूप से होगा। दूसरों की बात छोड़ें, कभी-कभी हमारे मन में यह आ जाता है कि यह चीज यों ही बाहर पड़ी है, कोई उठा न ले जाए। हमारे पास दो-चार पात्र, पोथियों के अलावा कुछ भी नहीं है, लेकिन लंबे प्रवास में हम कुछ चीजें गृहस्थों से मांग कर लाते हैं और उसका उपयोग करते हैं। लिखने-पढ़ने में सुविधा के लिए काष्ठ पेटिका, चौकी या पुस्तक स्टैंड हमारे काम में आ जाते हैं। ऐसी कोई चीज बाहर पड़ी रह जाए तो उसकी चिंता करनी पड़ती है, फिर जिन गृहस्थ लोगों ने परिग्रह के रूप में सीमातीत इकठ्ठा कर रखा है, उनकी चिंता और भय का अनुमान लगाया जा सकता है।

एक भाई बहुत बढ़िया घड़ी, जिसे आप अपनी भाषा में इंपोर्टेड कहते हैं, लेकर मेरे पास आया और कहा–'महाराज! आप इसे रख लें।' मैंने कहा–'नहीं यह समस्या बढ़ाने वाली चीजे हैं।' उसने कहा–'कैसे?' मैंने कहा–'साधारण घड़ी होती तो उसकी चिंता नहीं करनी पड़ती। कोई उसे उठाकर भी नहीं ले जाता। कीमती है तो उसे संभाल कर रखना पड़ेगा, बार-बार उसकी चिंता करनी पड़ेगी। आत्मा की चिंता छोड़ घड़ी की चिंता में लग जाऊं तो यह बड़ी हास्यास्पद बात होगी।' जिसे चिंता का रोग पालना हो उसके लिए सबसे बढ़िया उपाय यही है कि इकट्ठा करते जाओ। न संभले तो दो-चार चौकीदार और गार्ड रख लो, लेकिन पदार्थ को इकट्ठा करके कभी कोई चिंतामुक्त न तो हुआ है, न होगा–यह त्रिकाल सत्य है, यूनिवर्सल ट्रुथ है।

खतरा नाम में

हम क्यों कोई ऐसी चीज अपने पास रखें, जो हमारी नींद हराम करे। गुरुदेव का एक गीत है–सन्तां रा खुल्ला है बारणा। दरवाजा खुला रहे, कोई चिंता की बात नहीं, लेकिन कीमती चीज रख ले तो साधु के लिए भी वही बात होगी। रखवाली फिर उसे भी करनी पड़ेगी। बढ़िया और महंगी चीज, चाहे वह घड़ी हो, कपड़ा हो, पेन हो, कुछ भी हो सिर पर चिंता का बोझा डाल देती है। 'बढ़िया' नाम में ही खतरा है। वह भय को मोल लेने जैसा है। भयमुक्त और सुखी जीवन जीना है तो परिग्रह की सीमा करनी होगी, त्याग का सूत्र अपनाना होगा।

शाश्वत सुख का तीसरा उपाय है राग-द्वेष को मंद करो, पतला करो, क्षीण करो। एक जैनाचार्य हुए हैं रामसेन। उन्होंने योग पर एक ग्रंथ लिखा–तत्त्वानुशासनम्। उसके प्रारंभ की पंक्तियां हैं–मोह राजा है। उसके दो सेनापति है–राग और द्वेष। जब तक इन दो सेनापतियों से नहीं निपटते, मोहरूपी राजा को परास्त करना कठिन है।

मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों में राग-द्वेष का उल्लेख नहीं है। मोह हमारा स्थायी भाव है। राग-द्वेष पदार्थ, व्यक्ति या वस्तु के निमित्त से पैदा होते हैं। अच्छी और मन के अनुकूल चीज देखी, राग पैदा हो गया। मन के प्रतिकूल या खराब चीज देखी, द्वेष की भावना आ गई। यह राग-द्वेष का चक्र चलता ही रहता है। मोह राग-द्वेष का जनक है। मोहरूपी राजा को बढ़ते देखते ही उसके दोनों सेनापति आगे आ जाते हैं और अपना मोर्चा संभाल लेते हैं।

धर्माचार्यों ने राग की दो श्रेणियां कर दीं–प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग। धर्मानुराग प्रशस्त राग है। शिष्यों की गुरु के प्रति भक्ति होती है, गुरु का वात्सल्य होता है। भक्ति भी राग है, वात्सल्य भी राग है, पर यह प्रशस्त राग है। जरूरी है। इसके बिना काम नहीं चलता, किंतु अप्रशस्त राग को छोड़ना ही श्रेयस्कर है।

गुरु ने शिष्य को एकांत सुख का मार्ग बताते हुए कहा–कभी राग, कभी द्वेष, यह सुख का मार्ग नहीं है। एकांत सुख का मार्ग तो यही होगा कि कान में राग-द्वेष को बढ़ाने वाला शब्द पड़े ही नहीं। आंखों के आगे राग-द्वेष को बढ़ाने वाला दृश्य आए ही नहीं और आए भी तो साधना के द्वारा हम ऐसी स्थिति को प्राप्त करें कि उससे प्रभावित न हों।

12. स्थायी सुख का मार्ग (1)

एकांत सुख के रहस्य की बात सुनकर शिष्य के मन में जिज्ञासा हुई कि इसका उपाय क्या है, मार्ग क्या है? मार्ग की जानकारी बहुत जरूरी होती है। मार्ग के बिना गंतव्य तक पहुंचा नहीं जा सकता।

परेशान यात्री ने टिकट निरीक्षक से कहा–'श्रीमानजी! मुझे चौबीस घंटे से ज्यादा हो गए इस ट्रेन से यात्रा करते हुए, मुम्बई स्टेशन अभी आया नहीं। ट्रेन मुम्बई कब पहुंचेगी?' टिकट निरीक्षक ने यात्री को गौर से देखा और कहा–'यह ट्रेन मुम्बई कभी नहीं पहुंचेगी, क्योंकि यह कोलकाता जा रही है। शायद तुम गलत गाड़ी में बैठ गए हो।'

मंजिल तक पहुंचना है तो मार्ग का निर्धारण और साधन का चुनाव पहले कर लेना होगा। दिशा का ज्ञान नहीं है और यात्रा शुरू कर दी तो गंतव्य तक कभी नहीं पहुंच पाएंगे। लोग कह देते हैं कि दुनिया गोल है। कहीं से भी चलें, कोई भी दिशा लें एक दिन फिर उसी जगह पर पहुंच जाएंगे। ठीक बात है, अगर सिर्फ चलना और रास्ता तय करना ही उद्देश्य है जीवन का तो चलते रहो जीवन भर निरर्थक, किसी का क्या जाता है, लेकिन जिन्हें जीवन और समय की कीमत मालूम है, वे पल-पल का पूरा हिसाब रखते हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण है मार्ग की खोज। जैन साहित्य में एक शब्द आता है मार्गणा। मार्गणा करो, खोज करो, अन्वेषण करो। पता करो कि सही रास्ता क्या है? शिष्य ने कहा–'गुरुदेव! आपने एकांत सुख की बात तो बता दी, लेकिन इसका मार्ग क्या है? आप इस संदर्भ में मेरा मार्गदर्शन करें। तब गुरु ने कहा–

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य
सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य॥

गुरु ने जो मार्ग बताया, उसे राजमार्ग कहा जा सकता है। यह कोई संकरी पगडंडी नहीं है। यहां सामने वाले से टकरा जाने की गुंजाइश नहीं है। यहां घुमावदार तीखे मोड़ नहीं हैं न हर दस कदम पर अवरोधक हैं। इस रास्ते पर शान से चलो और निरापद मंजिल पर पहुंचो। संकरी पगडंडी पर समस्याएं बहुत हैं।

आचार्य भिक्षु ने कहा–पगडंडियों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। ये आगे जाकर बंद हो जाती हैं। हमारे अनेक साधु-साध्वियों को पगडंडी पर चलने का बड़ा शौक है। विहार के समय कोई शार्टकट देखा, पगडंडी दिखी और तत्काल उसे पकड़ लेते हैं। परिणाम कभी-कभी यह होता है कि दो-चार किमी. का चक्कर खाकर फिर सड़क पर आना पड़ता है।

गुरु होते हैं मर्मज्ञ

गुरु ने कहा–अगर एकांत सुख चाहते हो तो गुरु और वृद्धजनों की सेवा करो। इस एक वाक्य में कितनी सारपूर्ण बात कह दी गई। ज्ञान पुस्तकों से भी हो सकता है और दूसरी चीजों से भी हो सकता है, किंतु जो ज्ञान अनुभव प्राप्त व्यक्तियों के द्वारा हो सकता है, वह किसी और से नहीं हो सकता। गुरु यानी जिनके पास गुरुता है, गौरव है, अनुभव है, ज्ञानरूपी खजाने की चाबियां हैं, वह रास्ता दिखा सकता है। मर्म की बात बता सकता है।

मर्म को पकड़ना सब नहीं जानते। महाभारत की कथा है। अठारह दिनों के युद्ध का उत्तरार्द्ध काल। युद्ध का पटाक्षेप होने वाला था। फैसले की महत्त्वपूर्ण घड़ी आ पहुंची थी। कौरवों की लगभग सारी सेना समाप्त हो चुकी थी। सौ भाइयों में अकेला बचा था दुर्योधन। ज्येष्ठ पांडव युधिष्ठिर ने एक न्यायपूर्ण प्रस्ताव रखा–'दुर्योधन! तुम अकेले हो, हम पांच हैं। हममें से किसी एक को युद्ध के लिए चुन लो। इस अंतिम युद्ध में जो जीत जाए, हस्तिनापुर का राज्य उसका।'

महाभारत की शतरंज पर बिछी यह आखिरी बाजी थी। दुर्योधन चाहता तो पांडवों में अपेक्षाकृत कमजोर छोटे भाई नकुल या सहदेव को चुनकर युद्ध जीत सकता था, लेकिन एक योद्धा के रूप में उसकी प्रशंसा करनी होगी कि युद्ध के लिए चुना अपने जन्मजात वैरी भीम को। भीम के साथ उसकी प्रारंभ से ही प्रतिद्वंद्विता थी। भीम और दुर्योधन में गदायुद्ध शुरू हुआ। दोनों एक ही गुरु के शिष्य और समान रूप से गदायुद्ध के माहिर। भीम लगातार दुर्योधन पर गदा का प्रहार कर रहा था, किंतु दुर्योधन पर जैसे उसका कोई असर ही नहीं हो रहा था। भीम जैसे महाबली की गदा का प्रहार झेल पाना उस युग के बड़े-बड़े

राक्षसों के लिए भी संभव नहीं था। उसी भीम के प्रबल प्रहारों को दुर्योधन बड़ी सहजता से विफल कर रहा था। हताश भीम ने श्रीकृष्ण की ओर देखा।

श्रीकृष्ण जानते थे कि माता गान्धारी की योगदृष्टि से कटि के अतिरिक्त दुर्योधन का पूरा शरीर वज्रमय हो चुका है, जिस पर किसी शस्त्र का कोई असर नहीं होगा। कृष्ण परम नीतिज्ञ थे। द्रौपदी के चीर-हरण के समय की गई भीम की प्रतिज्ञा भी उन्हें याद थी। उन्होंने अपनी जंघा पर हाथ मारकर भीम को अव्यक्त संकेत कर दिया।

श्रीकृष्ण का संकेत पाकर भीम विद्युत गति से पलटा और अपनी गदा से दुर्योधन की जांघ पर भीषण प्रहार किया। दुर्योधन इस मर्मांतक प्रहार को विफल नहीं कर सका और इस तरह पांडवों ने विजयश्री का वरण कर लिया। मर्म को पकड़ने की कला ज्ञानी गुरु सिखाते हैं। गुरु का मार्गदर्शन बहुत जरूरी है। मार्ग का पहला चरण है गुरु की सेवा करना, मर्म को, रहस्य को प्राप्त करना।

आयुर्वेद के महान आचार्य सुश्रुत ने शरीर में एक सौ सत्तावन मर्मस्थान बताए हैं। इन मर्मस्थानों पर चेतना सघन होती है। जापान के शरीर विज्ञानियों ने सात सौ से अधिक मर्मस्थान खोज लिए हैं।ध्यान करने वाले जानते हैं कि मर्मस्थानों पर ध्यान किया जाए तो चित्त ज्यादा एकाग्र होता है। आयुर्वेद के मर्मस्थान, हठयोग के चक्र, प्रेक्षाध्यान के चैतन्यकेन्द्र और मनोविज्ञान के साइकिक सेंटर–ये सब मर्मस्थान के ही पर्याय हैं। ये हमारे शरीर में बहुत हैं और इनके अलग-अलग कार्य हैं। मेडिकल साइंस या शरीरशास्त्र की दृष्टि से अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्राव इन मर्मस्थानों से निकटता से संबद्ध हैं। जो इनके मर्म या रहस्य को समझ लेता है, उसके लिए दुनिया बदल जाती है। एकांत सुख के लिए ज्ञानी गुरु जरूरी है। भारतीय जीवन प्रणाली में गुरु की परंपरा रही है, लेकिन योग्य गुरु भी क्या इतनी सहजता से मिलते हैं? योग्य गुरु की प्राप्ति में भाग्य और पुरुषार्थ का योग चाहिए। गुरु मिल जाएं तो उनकी सेवा करो। अपनी सेवा-भक्ति से उन्हें प्रसन्न करो।

वृद्ध की सेवा

वृद्धों की सेवा का भी बड़ा महत्त्व रहा है। वृद्ध भी कई प्रकार के होते हैं, जैसे-अवस्था से वृद्ध, श्रुत से वृद्ध, अनुभव से वृद्ध। सेवा के संदर्भ में यहां तीनों को ही लिया जा सकता है। अवस्था से वृद्ध लोग अनुभवप्रवण होते हैं। कितनी ही घटनाओं के वे द्रष्टा होते हैं। कितनी ही बातें उन्होंने सुन रखी होती हैं और कितने लोगों से संपर्क में आए होते हैं। दीर्घ अनुभव के कारण उनमें पारिणामिकी बुद्धि होती है।

बुद्धि चार प्रकार की होती है–औत्पात्तिकी, वैनयिकी, पारिणामिकी और कार्मिकी। वृद्धों में पारिणामिकी बुद्धि होती है। परिणमन के साथ बहुत सारी बुद्धियां लोगों में विकसित हो जाती हैं। अवस्था के साथ बुद्धि का विकास होता जाता है। पुरानी धारणा है कि साठ वर्ष का होते ही बुद्धि सठिया जाती है। विज्ञान ने इस धारणा को उलट दिया है। वह कहता है कि बुद्धि से काम लेते रहो तो वह उम्र के साथ बढ़ती जाएगी। नब्बे और सौ तक पहुंचते-पहुंचते बुद्धि की धार प्रखर बन जाएगी और व्यक्ति ज्ञानी की कोटि में आ जाएगा। बुद्धि से काम न लो तो पचीस-तीस-चालीस की उम्र में भी उल्लू बने रहोगे। हम अपने जिस अंग को ज्यादा काम में लेंगे, वह ज्यादा सक्रिय रहेगा। लंबे समय तक एक जगह बैठे रहो, पैर निष्क्रिय हो जाएंगे। ज्यादा दिन तक हाथों से काम न लो, फ्रोजन सोल्डर हो जाएगा, हाथ जाम हो जाएंगे। औजार, उपकरण से काम न लो, उसमें जंग लग जाएगा। यही नियम बुद्धि पर भी लागू होता है।

हम इस धारणा को बदल दें कि अवस्था के साथ बुद्धि का ह्रास होने लगता है। यह सिर्फ हमारे यहां है कि पैंतालीस-पचास वर्ष का हो गया तो विद्यार्थी जीवन समाप्त, अन्यथा दूसरे देशों में तो अस्सी वर्ष का आदमी पी.एच.डी. करता है। वास्तव में देखा जाए तो अध्ययन का सही समय साठ वर्ष के बाद शुरू होता है। भारतीय मनीषा में वृद्ध का बड़ा महत्त्व रहा है। आज बूढ़ों को समस्या माना जा रहा है। यह धारणा बदलनी चाहिए। स्वयं बूढ़ों को अपने बारे में धारणा बदल देनी चाहिए कि अब हमारा क्या काम, हम तो निकम्मे होकर रह गए। निकम्मा कभी कोई नहीं होता। यह तो स्वयं के मन से निकली हुई हताशा और कुंठा है। अपनी उपयोगिता साबित करना हर व्यक्ति के अपने हाथ में है।

संस्कृत साहित्य में कहा गया है–वृद्धवाक्यं सदा कार्यं प्राणैः कंठगतैरपि। बूढ़ों के अनुभव का उपयोग करना चाहिए, उनके परामर्श को मानना चाहिए। उनकी शारीरिक शक्ति का नहीं, मानसिक शक्ति का उपयोग करना चाहिए। पंचतंत्र की कथाओं में जगह-जगह इस बात को प्रतिपादित किया गया है कि वृद्ध और अनुभवी की सलाह को ठुकराने का क्या परिणाम होता है और उनके परामर्श को मानने का क्या लाभ होता है?

महत्त्व सत्संगति का

गुरु ने उस शिष्य से एकांत सुख के दो सूत्रों को समझाने के बाद कहा–एकांत सुख का तीसरा सूत्र है–विवज्जणा बालजणस्स दूरा। यानी बालजनों से दूर रहो। यहां बालजन का तात्पर्य बालकों से नहीं, अज्ञानियों से है। चलती-

फिरती भाषा में जिन्हें हम नादान कहते हैं। कहावत है–नादान की दोस्ती जी का जंजाल। अज्ञानियों से दोस्ती खतरनाक होती है। काम बढ़ा देती है। उनकी संगति किसी न किसी विपत्ति में फंसा देती है। यह जानना बहुत जरूरी है कि किसकी संगति करें, किसकी न करें। नीतिकारों ने कहा–सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसां। सत्संगति क्या नहीं कर सकती। इसी भाषा में कहा जा सकता है–बुरे लोगों की संगति कौन-सी दुर्गति नहीं कर सकती? यह चुनाव जरूरी है कि साथी कैसा हो? सहयोग किसका लिया जाए? अक्सर सुनने को मिलता है कि अच्छे परिवार और खानदान का था, लेकिन शराब पीने लगा। अरे, शराब कोई एक दिन में मुंह से नहीं लगी होगी। पहले गलत लोगों की, बुरे लोगों की संगति की होगी, तभी बुराई के रास्ते पर गया।

संगति पर भारतीय साहित्य में बहुत लिखा गया। भर्तृहरि ने नीतिशतक में इस पर बहुत लिखा। चाणक्य ने लिखा, गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा– बिनु सतसंग विवेक न होई। बिना सत्संग के विवेक नहीं होता। इस बात का पूरा विवेक रहे कि मैं किसके साथ उठता-बैठता हूं, किसके साथ रहता हूं और साथ रहने से मुझ पर प्रभाव कैसा पड़ रहा है? दिशा कौन-सी ले रहा हूं?

आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने संगति पर बहुत विस्तार से लिखा और उसे विश्लेषित किया। जयाचार्य कहते हैं–गुरु ने शिष्य को उपालंभ दिया। किसी अविनीत के साथ उस शिष्य का संपर्क हो गया। शिष्य ने उसे बता दिया कि आज गुरुदेव ने जरा-सी बात पर मुझे फटकार लगाई तो वह अविनीत साथी उससे कहेगा–'बुजदिल हो। तुम्हारे मुंह में जबान नहीं थी क्या? उन्होंने एक कही तो तुम उसी समय पांच सुना देते। चुपचाप सुनते रहोगे तो सिर पर चढ़ते जाएंगे। अब फिर कभी कुछ कहें तो खरी-खरी तुम भी सुना देना।'

इस तरह की सीख कुटिल लोग ही देते हैं, कोई विनीत और समझदार आदमी कभी इस तरह की सीख नहीं देता। इस तरह की सीख का क्रियान्वयन करने वाला शिष्य निश्चित रूप से अपने जीवन को बर्बादी की ओर ले जाता है। आचार्य भिक्षु ने लिखा–कालिए साथ गोरियै नै बांध्यो। रंग नी आवै तो लक्खन आ ज्यावै। काले और सफेद रंग के दो बैलों को पास-पास बांधा गया। उनमें से एक बहुत सीधा-सादा था और दूसरा कुटिल, उद्दंड और चंचल था।

सीधे और शांत स्वभाव वाले बैल ने उससे सारे अवगुण और खोटी आदतें सीख ली, फिर दुर्भाग्य से उसे मिल गया गधे का योग। रही-सही कसर उसने पूरी कर दी। रंग तो नहीं बदला, किंतु लक्षण उसमें सारे खोटे आ गए।

इसलिए साथी का चुनाव करते समय पूरी सावधानी रखनी चाहिए। सलाह, मशवरा और परामर्श भी किसी सुपात्र से ही लिया जाना चाहिए। खोटा आदमी तो सलाह भी खोटी ही देगा। पता नहीं क्या बात है, उल्टी बात जितनी जल्दी और आसानी से गले उतरती है, सीधी बात उतनी जल्दी समझ में नहीं आती। इसीलिए कहा गया–खुड्डेहिं सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए। क्षुद्र के साथ क्रीडा मत करो, संसर्ग मत करो, हास्य मत करो। जब भी इस तरह का कोई प्रसंग मेरे सामने आता है, मुझे पूज्य कालूगणी की सीख याद आ जाती है। दीक्षा लिए थोड़े ही दिन हुए थे। बाल मुनि के रूप में हम गुरुदेव के साथ राजगढ़ से विहार कर टमकोर के पास किसी गांव में पहुंचे। गुरुदेव की प्रकृति ही कुछ ऐसी थी कि हम बाल मुनियों को कुछ न कुछ सिखाते रहते थे। उस दिन उन्होंने हमें एक श्लोक सिखाया–

बाल सखित्वमकारणहास्यं स्त्रीषु विवादमसज्जनसेवा।
गर्दभयानमसंस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति॥

छह बातें ऐसी हैं, जिनसे बड़ा आदमी भी छोटा बन जाता है–

1. बच्चों को ज्यादा मित्र मत बनाओ। उनके साथ मत खेलो, क्योंकि बच्चों के साथ रहने से बचपना ही आएगा। 2. बिना कारण या अकारण हंसो मत। बिना मतलब हंसने से छुटपन आता है। गंभीरता नहीं रहती। 3. स्त्रियों के साथ विवाद मत करो। विवाद करके जीत गए तो लोग कहेंगे–कौन-सी बड़ी बात है, स्त्री से ही तो जीते। और हार गए तो कहा जाएगा, एक स्त्री से पराजित हो गए, लज्जा की बात है। 4. दुर्जन आदमी की सेवा मत करो। करोगे तो कोई न कोई खोटी सीख ऐसी लगेगी कि जीवन का रास्ता भटक जाओगे। 5. गधे की सवारी मत करो। गधे की सवारी करने वाला आदमी छोटा या मूर्ख माना जाता है। 6. ऐसी वाणी न बोली जाए, जो सुसंस्कृत नहीं है। जिसमें शुद्ध वाक्य या भाषा का प्रयोग नहीं है।

ये छह ऐसी बातें हैं, जिनसे एक बड़ा आदमी भी छोटा बन जाता है। बालजन (अज्ञानी), खोटी सीख देने वालों से और मूर्खों से हमेशा दूरी बनाकर रखो। सूत्र को एक बार फिर से दोहरा लें–गुरु की सेवा, वृद्धों की सेवा, बालजनों से दूरी–इन तीन सूत्रों के प्रति जागरूक रहें तो एकांत सुख की ओर हमारा प्रस्थान हो सकता है।

13. स्थायी सुख का मार्ग (2)

गुरु ने शिष्य को एकांत सुख के तीन सूत्र बता दिए। चौथा सूत्र है स्वाध्याय। स्वाध्याय निर्जरा का, आत्मशुद्धि का और एकांत सुख का महत्त्वपूर्ण साधन है। स्वाध्याय और ध्यान–इन दोनों का एक युग्म है, जोड़ा है। स्वाध्याय के द्वारा हम वास्तविकता से परिचित होते हैं। इससे अज्ञान दूर होता है, जानकारी बढ़ती है।

हजारों-हजारों वर्ष की परंपरा में, अनगिनत विशिष्ट मनीषा वाले व्यक्तियों ने और विशिष्ट साधना करने वाले ज्ञानी पुरुषों ने जो कुछ अनुभव किया, खोजा, अर्जित किया, वह सारा स्वाध्याय के द्वारा। उसी के आधार पर ग्रंथ बने, शास्त्र बने। उनमें से कुछ आज भी सुरक्षित हैं। वे हजारों वर्ष पूर्व की संचित हमारी ज्ञान-संपदा के साक्षी हैं।

सहज ही एक प्रश्न मन में उठता है–एक अकेला व्यक्ति अपनी सीमित आयु में कितना ज्ञान अर्जित कर सकता है? निश्चित रूप से एक सामान्य आदमी अपने संपूर्ण जीवन में जितना ज्ञान अर्जित करता है, वह बहुत स्वल्प है, इसलिए ज्ञान के भंडारण की एक परंपरा चली। उसका माध्यम बने शास्त्र। शास्त्रों का स्वाध्याय करने वाला कुछ न कुछ प्रकाश उसमें से प्राप्त कर लेता है।

तीसरा नेत्र

स्वाध्याय संभव हो पाता है आंखों के कारण। दो चर्मचक्षु हमें प्राप्त हैं, किंतु इनकी क्षमता सीमित है। इसके अतिरिक्त ये सिर्फ बाह्य चीजों को ही देख पाती हैं। इनसे आगे और दूर तक देखने के लिए, आभ्यंतर को देखने के लिए तीसरे नेत्र की जरूरत पड़ती है। इस तीसरे नेत्र या थर्ड आई की आज बहुत चर्चा है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे इंट्यूशन पावर कहते हैं। प्रेक्षाध्यान में इसे हमने 'समता' के रूप में व्याख्यायित किया है। एक राग की आंख है, जो सिर्फ प्रियता को देखती है। दूसरी है द्वेष की आंख, जो अप्रियता को देखती

है। ये दोनों ही बातें समस्या पैदा करती हैं, इसलिए एक तीसरी आंख समता के रूप में विकसित करने की जरूरत है। कोई राग नहीं, द्वेष नहीं, दूराव नहीं, पक्षपात नहीं, झुकाव नहीं, केवल समभाव, मध्यस्थभाव और तटस्थता। यह संभव कर दिखाएगा हमारा तीसरा नेत्र।

एक अन्य तीसरा नेत्र है–आगमचक्खू। जैन परंपरा में आगम के रूप में विशाल साहित्य का भंडार है। वैदिक और बौद्ध परंपराओं में भी शास्त्र कम नहीं हैं। तीनों परंपराओं के शास्त्रों में विशाल ज्ञानराशि मौजूद है। जिन्हें ये आगमचक्खू या शास्त्रचक्षु प्राप्त नहीं है, जिसने इनका स्वाध्याय नहीं किया, उनका ज्ञान और चिंतन स्वल्प होगा, सीमित होगा।

लोग सोचते हैं कि पश्चिम में ज्ञान का बहुत विकास हुआ है। यह एक भ्रांति है। वैज्ञानिक प्रगति को विकास का पैमाना नहीं बनाया जा सकता। ज्ञान कुछ अलग तरह की चीज है। विज्ञान बुद्धि से संबंध रखता है और ज्ञान अध्यात्म से। ज्ञान सबसे ज्यादा विकसित हुआ भारत में। चौदह पूर्व ज्ञान के अपूर्व भंडार हैं। एक-एक पूर्व का ज्ञान कितना गहन है, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। नौ निधान में से एक-एक निधान अपने आप में महाग्रंथ और महाशास्त्र है। इनके द्वारा लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार की बातें जानी जा सकती हैं।

अंतर दक्षता का

शास्त्र सचाई को जानने का बहुत बड़ा माध्यम है। अधिकांश लोग तो अपने बारे में ही नहीं जानते कि मैं कौन हूं? दूसरों की तो बात ही छोड़ दें। अपना अस्तित्व, अपना व्यक्तित्व, अपनी मनःस्थिति–इन सबका ज्ञान करने में शास्त्र परम सहायक होते हैं। उदाहरण की भाषा में आंख सबको देखती है, किंतु स्वयं को नहीं देख पाती। स्वयं को देखना है तो उसे शीशे का सहारा लेना होगा। अपना रूप देखना है तो कांच के सामने जाकर खड़ा होना होगा।

दूसरों को देखने वालों को भी अपने आपको देखने के लिए दूसरों का सहारा लेना पड़ता है। इसी तरह अपने आपको जानने के लिए भी दूसरों का सहारा चाहिए और वह सहारा है शास्त्र। स्वाध्याय के द्वारा आदमी अपनी जानकारी को बढ़ा लेता है, अपने ज्ञान का विकास कर लेता है। जानकारी आज के युग में प्रगति की अनिवार्य शर्त बन गई है।

आज की दुनिया में आप किसी भी क्षेत्र में जाएं, ज्ञान और जानकारी की बहुत जरूरत है। प्रशासकीय सेवा में जाएं, शिक्षा के क्षेत्र में जाएं या व्यापार-

बिजनेस के क्षेत्र में जाएं, उससे संबंधित विषय का अध्ययन बहुत जरूरी है। उसके बिना आप सफल नहीं हो सकते। बिना अध्ययन और स्वाध्याय के एफिशियेंसी और दक्षता नहीं आती। ज्ञान के महत्त्व का अंदाजा आप इसी बात से लगा लें कि मकान का नक्शा बनाने वाले आर्किटेक्ट तो लाखों रुपए कमाते हैं और उनके निर्माण में पसीना बहाने वाले मजदूर और मिस्त्री कुछ सौ रुपए की दिहाड़ी पर दिन भर काम करते हैं। अंतर एफिशियेंसी का है।

स्वाध्याय के बारे में कहा गया है–

सज्झायसमं तओ कम्मं, न भूयं न भविस्सई।

स्वाध्याय के समान तपस्या न हुई है और न होगी। सीमित और अधूरी जानकारी में समस्याएं बहुत आती हैं। जानकारी के अभाव में आदमी उलझ जाता है। बहुत पुराना प्रसंग है। आचार्य तुलसी कोलकाता में प्रवास कर रहे थे। मेरे पास एक वरिष्ठ श्रावक आए। पेशे से व्यवसायी, समझदार और विवेकशील थे। जानकारी के अभाव में कुछ बातों को लेकर उनके मन में उलझन हो गई। मेरे पास आए और बोले–'नथमलजी स्वामी! हमारे यहां बड़े-बड़े लोगों को आगे स्थान मिलता है। छोटे लोगों की पूछ कम होती है।'

मैंने कहा–'बड़े और छोटे से आपका मतलब?'

बोले–'बड़े यानी जो पैसे वाले हैं, ऊंची पोस्ट वाले हैं.....।'

मैं उनका आशय पहले ही समझ गया था, फिर भी उन्हीं के मुंह से बड़े छोटे की परिभाषा सुनना चाहता था। मैंने कहा–'आपका कहना ठीक है, लेकिन थोड़ा समझ का फेर है। जहां धर्म का क्षेत्र है, वहां बड़ा आदमी दूसरा और जहां कर्म का क्षेत्र है, वहां बड़ा कोई और होगा।

जहां तक कर्मक्षेत्र की बात है, भगवान महावीर के समवसरण में श्रेणिक का प्रमुख स्थान था, लेकिन जब धर्मक्षेत्र की बात आई तो भगवान ने श्रेणिक को पूणिया श्रावक के पास भेजा कि अगर खरीद सको तो अपनी दुर्गति टालने के लिए पूणिया की सामायिक खरीद लो। और सामायिक खरीदने गए श्रेणिक को पूणिया श्रावक के यहां से खाली हाथ लौटना पड़ा था। यह उदाहरण देकर हमने उनसे पूछा–'आप ही बताएं, किसका महत्त्व मानेंगे? श्रेणिक का या पूणिया श्रावक का? सबकी अपनी-अपनी भूमिका है और उसी के अनुसार सबका अलग-अलग महत्त्व है। जिस क्षेत्र में जिस व्यक्ति का महत्त्व है, उसका अंकन करना चाहिए। जहां व्यापकता और प्रभावना का प्रश्न है, वहां

श्रेणिक जैसे लोगों का महत्त्व होगा, जहां श्रावकत्व का प्रश्न है, वहां पूणिया का स्थान पहला होगा। ऐसे प्रश्नों पर हमें विभज्यवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।' मेरी बात सुनकर श्रावकजी बोले–'बस, अब मेरा समाधान हो गया।'

स्वाध्याय को भी यहां एकांगी रूप में न लें। सुनकर समझें, वह भी स्वाध्याय है, लिखकर समझें तो वह भी स्वाध्याय है, चर्चा-वार्ता में भी स्वाध्याय है, पठन-पाठन में भी स्वाध्याय है। यह सारा स्वाध्याय है। आज से कोई तीस-तैंतीस वर्ष पहले मेरे मन में एक प्रश्न आया कि हम प्रवचन क्यों करें? क्या उसे लोग सुनते हैं, उससे शिक्षा ग्रहण करते हैं? फिर यह सोच कर संतोष कर लिया कि किसी ने आंशिक रूप में भी मेरी बात को मान्य किया तो मेरा प्रवचन सार्थक है, फिर मैं किसी भ्रांति में तो हूं नहीं।

किसी व्यक्ति ने एक वेदान्ती से प्रश्न किया–'सत्य क्या है और भ्रांति क्या है?'

उसने कहा–'आपको उपदेश देकर मान लूं कि आप सुधर जाएंगे, यह भ्रांति है। आप मेरी बात नहीं मानेंगे, यह सत्य है।'

हम प्रवचन करते हैं। आप उसे जीवन के व्यवहार में लाते हैं या नहीं, आप जानें। हम तो यह मान लेते हैं कि इससे हमारा स्वाध्याय हो गया। निर्जरा तो होती ही है। आपका स्वाध्याय होता रहेगा तो कभी परिवर्तन की बात भी आ सकती है।

दो प्रकार

विद्या के दो प्रकार बताए गए हैं–अपरा और परा। अपरा लौकिक विद्या है, जो विद्यालयों में पढ़ाई जाती है। परा अध्यात्म विद्या है, जो हम धर्मग्रंथों में पढ़ते हैं, लेकिन एक बात दोनों में समान रूप से लागू होती है और वह यह कि अध्ययन दोनों का होता है। लौकिक विद्या की डिग्री लेने में कई वर्ष लग जाते हैं। एम.बी.बी.एस., एम.बी.ए. आदि की डिग्री लेने में कई वर्ष लगते हैं। पराविद्या में तो पूरा जीवन लग जाता है तो भी बहुत कुछ जानना बाकी रह जाता है।

अध्यात्म विद्या या पराविद्या को पढ़ने वाले आज बहुत कम हैं। अपने आपको, अपने स्वरूप को जानने और समझने की चाह किसमें है? सबकी रुचि ऐसे विषयों में है, जिससे अधिकाधिक धन उपार्जित हो सके। वर्ष में पंद्रह करोड़ वेतन लेने वाले लोग भी इस दुनिया में मिल जाएंगे। क्यों मिलता है

इतना वेतन? इसलिए कि उन्होंने ज्ञान के द्वारा, अध्ययन के द्वारा इतनी दक्षता प्राप्त कर ली है कि अपनी कंपनी को अपने वेतन से कई गुना ज्यादा लाभ दे रहे हैं।

कुछ लोग तो इतने दक्ष होते हैं कि कंपनी के वर्षों के घाटे को लाभ में बदल देते हैं। जहां तक दक्षता और विशिष्टता की बात है, कुछ लोगों को यह नैसर्गिक रूप में प्राप्त होती है तो अधिकांश लोगों को अर्जित करना पड़ता है। यह तो हुई लौकिक संदर्भ की चर्चा।

अब हम आध्यात्मिक स्वाध्याय की बात करें। साधना का क्षेत्र हो या नित्यप्रति के जीवन व्यवहार का, समस्याएं हर क्षेत्र में हैं। व्यापार के क्षेत्र में जितनी समस्याएं हैं, उससे कम समस्याएं साधना के क्षेत्र में नहीं हैं। समस्या पैदा करने वाले अनेक तत्त्व हमारे भीतर हैं। कह सकते हैं कि समस्या उत्पन्न करने वाला कारखाना हमारे भीतर काम कर रहा है। कषायों की प्रबलता नाना प्रकार की समस्याएं पैदा करती हैं। इन्द्रियों की चंचलता अनेक समस्याओं को जन्म देती हैं। इनके समाधान के लिए स्वाध्याय बहुत जरूरी है। जिसकी उत्तेजना और आवेश की प्रकृति है, वह दशवैकालिक सूत्र की इस गाथा का बार-बार उच्चारण करे–

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई,
असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेण वेस्सई,
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे॥

यह आवेग और उत्तेजना अल्पकालिक है, चिरकालिक नहीं है। थोड़ी देर बाद समाप्त हो जाने वाली है, शाश्वत नहीं है। यह एक वाक्य बार-बार अवचेतन मन में जाएगा तो चिंतन सकारात्मक हो जाएगा। इससे स्वाध्याय की महत्ता को आसानी से समझा जा सकता है।

सूखी भूमि में फूल

हमारे संघ में एक मुनिजी ने प्रौढ़ावस्था में दीक्षा ली। बहुत ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे, मात्र अक्षरज्ञान था, लेकिन दीक्षित होते ही अकस्मात् उनकी स्वाध्याय में रुचि हो गई। मन में एक प्यास जाग गई कि मुझे सूत्रों को कंठस्थ करना है, नई-नई बातें जानना है। अवस्था ज्यादा हो गई थी, इसलिए कंठस्थ ज्यादा नहीं हो पाता था। इसके लिए वे पाठ की घुटाई करते। घुटाई की प्रवृत्ति

आज बहुत कम हो गई है। इसकी प्रक्रिया यह है कि दीवार की ओर मुंह करके बैठ जाओ और झूम-झूम कर पाठ को बार-बार दोहराओ। हम लोग ऐसा ही करते थे और इस प्रक्रिया में अनेक बार हमारा सिर दीवार से टकरा जाता था।

घुटाई करने का फायदा यह है कि ज्ञान भीतर तक प्रवेश कर जाता है। कह सकता हूं कि इससे स्मृति का बहुत विकास होता है। मैंने पंद्रह-बीस वर्ष की उम्र में जो पढ़ा, वह स्मृतिकोष में आज भी सुरक्षित है।

मुनिजी ने बच्चों की तरह रटंत प्रणाली का सहारा लिया। एक दिन संतों ने उनसे कहा–'तुम जोर-जोर से बोलते हो, इससे हमारे स्वाध्याय में बाधा पड़ती है। दूसरों के विश्राम और नींद का भी तो कुछ ख्याल करो। तुम सूखी, रेतीली, अनुपजाऊ जमीन में फूल खिलाने की सोच रहे हो, यह संभव नहीं लगता।'

वरिष्ठ संतों के इस कथन में एक व्यंग्य भी था। कनिष्ठ और विनीत होने के कारण एक बार तो वे मुनियों का निर्देश स्वीकार कर लेते, लेकिन कंठस्थ करने की चाह में वे थोड़ी देर बाद भूल जाते और उनका आलाप फिर शुरू हो जाता, लेकिन अपने सतत अभ्यास से एक दिन उन्होंने सूखी, अनुपजाऊ भूमि पर फूल उगाकर दिखा दिया। इतनी विद्या और ज्ञान कंठस्थ कर लिया कि उनसे पहले के दीक्षित मुनि उनसे बहुत पीछे रह गए। यह संभव हुआ स्वाध्याय की निरंतर चेष्टा और लगन के द्वारा।

स्वाध्याय और ज्ञान के लिए अवस्था कोई बाधा नहीं है। 'बिजी हूं' का बहाना भी निरर्थक है। आवश्यक काम के लिए हर आदमी के पास समय है। आत्मा का ज्ञान कराने वाले, मन को शांति देने वाले, इन्द्रियों को नियंत्रित करने वाले, कषायों को उपशांत करने वाले अध्यात्मशास्त्र का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए जिससे साधक स्थायी सुख को प्राप्त कर सके।

14. स्थायी सुख का मार्ग (3)

गुरु ने शिष्य को संबोध देते हुए कहा–अब तक एकांत सुख के कई सूत्रों को तुम समझ चुके हो। सुख का एक हेतु और है और वह है–धृति। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने उसकी व्याख्या करते हुए कहा–जस्स धिई तस्स सामण्णं। जिसके पास धृति है, उसी के लिए श्रामण्य है यानी श्रामण्य का पालन वही कर सकता है, जो धृतिवान है। आयुर्वेद के महान ग्रंथ चरक-संहिता में कहा गया है–

विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका॥

मनुष्य का मन विषयों के प्रति आसक्त होता है। अगर धृति नहीं है तो उसे हम धारण नहीं कर सकते। उस पर नियंत्रण होता है धृति से। कहा गया–इन्द्रियमनोनियामिका धृतिः। जो इन्द्रिय और मन का नियमन करती है, उसे धृति कहते हैं। विषयों के प्रति इन्द्रियों की भी आसक्ति है और मन की भी। उस पर लगाम और ब्रेक लगाने वाली कोई चीज है तो वह धृति है। जहां धृति है, वहीं साधुत्व है, वहीं धर्म है। धर्म का मतलब है विषयों से दूर रहना और श्रामण्य का भी यही काम है। गीता में कहा गया–

धृत्या यया धारयते, मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थः सात्विकी॥

किसे कहें धृति?

जिसके द्वारा इन्द्रिय, मन और प्राण की क्रिया का नियमन किया जाता है, वह धृति है। गीता में इसे तीन प्रकार की कहा गया–सात्विकी, राजसी और तामसी। राजसी और तामसी त्याज्य है। सात्विक धृति के द्वारा इन्द्रिय, मन और प्राण की क्रिया का नियमन किया जा सकता है।

एकांत सुख पाना है तो धृति धारण करना जरूरी है। एकांत और शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए क्षणिक सुखों का त्याग करना ही होगा, लेकिन इसके लिए चाहिए धृति। हमारी धृति बनी रहे। मन पर, इन्द्रियों पर और कल्पनाओं पर नियंत्रण रहे। यह नियंत्रण योग के द्वारा ही संभव होगा। अगर दार्शनिक दृष्टि से और प्रमाण मीमांसा की दृष्टि से विचार करें तो पाएंगे कि हम किसी चीज को पहले पकड़ते हैं, फिर उसके बारे में ईहा करते हैं, तत्पश्चात् निर्णय करते हैं और फिर इसके बाद होती है धारणा या धृति। जिसे हम जानते हैं, उसका निश्चित हो जाना धारणा है। उसका भ्रंश न होने देना भी धारणा है।

प्रवचन सुनने वालों के लिए भी जरूरी है कि वे केवल सुने ही नहीं, जो सुना है, उसको धारण भी करें। इस तरह धारण करें कि पक्का बनकर वह संस्कार में रूपांतरित हो जाए। जीवन में बहुत गहरे तक जम जाए, उसमें सुवासित हो जाए, एकमेक हो जाए। हमारे मन में वासना भी विद्यमान है। धारणा और वासना विच्युत नहीं होती, वह हमारे संस्कारों में ढल जाती है। संस्कार-निर्माण का मतलब ही है धारणा को मजबूत बना देना।

हमारी स्मृति का आधार क्या है? दो दिन, दो वर्ष या पचास वर्ष पहले किसी चीज को देखा था। उसकी आज भी याद आ जाती है। याद आती है धारणा के कारण। कुछ लोग कहते हैं कि पढ़ता तो बहुत हूं, लेकिन याद नहीं रहता। स्मृति बढ़ाने का उपाय बताएं–मैं कहता हूं स्मृति की चिंता छोड़ो, चिंता करो धारणा की। धारणा मजबूत है तो स्मृति कहीं नहीं जाएगी और धारणा कमजोर है तो स्मृति कभी प्रखर नहीं हो पाएगी। धारणा को परिपक्व करो। एक ही बात को बार-बार दोहराओ, जिससे धारणा पुष्ट हो जाए। स्मृति अपने आप आएगी।

तर्कशास्त्र का एक विषय है अनध्यवसाय। एक आदमी बाजार से होकर गुजरता है। दोनों साइड में दुकानें सजी हुई हैं। उसे कुछ भी याद नहीं रहेगा कि किस-किस को देखा था। कारण है अनध्यवसाय। सारी दुकानों में उसकी रुचि ही नहीं है। याद रहेगी वही दुकान, जिसमें उसने कुछ खरीदा था। हम दिन भर में कितना क्या कुछ देखते हैं, सुनते हैं। अगर सबकी स्मृति रहे तो कठिनाई खड़ी हो जाए। जीवन में इतने सारे प्रसंग आते रहते हैं। न जाने कितने लोगों से मुलाकात होती रहती है। अगर सब याद रहें तो कठिनाई हो जाए। याद वही रहता है, विशेष होने के कारण जिसकी धारणा कर ली जाती है।

आयुर्वेद में दो संदर्भों में धारणा का प्रयोग किया गया–मनोवेगान् धारयेत् शरीरवेगान् न धारयेत्। मनोवेगों को तो धारण करो, उनकी धृति करो, किंतु शरीर के वेगों को धारण मत करो। मल, मूत्र, खांसी आदि शरीर के वेग हैं। इन्हें धारण मत करो, रोको मत। क्रोध, अहंकार, लोभ आदि मनोवेग हैं। इन्हें धारण करो, रोको। इन पर नियंत्रण करो।

धैर्य बना रहे

धृति हमारी नियंत्रण की शक्ति है, नियामिका शक्ति है। जो व्यक्ति एकांत, शाश्वत या अत्यंत सुख को पाना चाहता है, उसके लिए बहुत आवश्यक है धृति का विकास। जिसके पास धृति नहीं, वह घड़ी के पेंडुलम की तरह दोलायमान रहता है, पग-पग-पर विचलित होता रहता है। धृतिवान को मनुष्य तो क्या देवता भी विचलित नहीं कर पाते। पौराणिक कथाओं में ऐसे बहुत से प्रसंग आते हैं कि देवता ने बहुत प्रयत्न किए, किंतु संकल्पबद्ध साधक के धैर्य को नहीं डिगा पाए।

स्थूलिभद्र मुनि को रूपकोशा नर्तकी विचलित नहीं कर सकी। राजा हरिश्चन्द्र चांडाल के हाथ बिक गए, लेकिन उनका धृतिबल परास्त नहीं हुआ। महाराज दिलीप गाय की रक्षा में सिंह के सामने स्वयं का शरीर अर्पित कर देते हैं। विक्रम और बेताल की कथा विश्रुत है। विक्रम बार-बार बेताल को वृक्ष की डाल से उतार कर लाते हैं और बातूनी बेताल उन्हें कथा के जाल में फंसाकर बार-बार फिर उड़कर उसी डाल पर पहुंच जाता है। आखिर बेताल ही परास्त होता है, विक्रमादित्य नहीं।

हम चिंतन करें कि धृति का विकास कैसे हो? इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण करने वाली शक्ति का विकास कैसे हो? शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श–इनका प्रलोभन, इनकी आसक्ति आदमी को बार-बार विचलित करती है। साधक को साधना-पथ से भटकाने के लिए बहुत सारे निमित्त हैं। छोड़ने की शक्ति, असंपृक्त होने की शक्ति विकसित हो जाए तो इन निमित्तों से बचा जा सकता है।

गुरु ने शिष्य को एकांत सुख का हेतु समझाते हुए कहा–अगर एकांत सुख के आकांक्षी हो तो धृति का विकास करो। धृति शब्द में मात्र दो अक्षर हैं, किंतु इसकी व्याख्या बहुत लंबी है। यह परम तत्त्व है। एक साधु को तो हर समय

इस वाक्य को स्मरण रखना चाहिए–जस्स धिई तस्स सामण्णं। जहां धृति है, वहीं श्रामण्य है, वहीं साधना है।

जीवन में पग-पग पर प्रलोभन है। कदम-कदम पर आकर्षण है। जो इनके जाल में फंस गया, उसका फिर निकल पाना सहज और आसान नहीं होता। जो बाहरी आकर्षण में उलझ गया, उस व्यक्ति के लिए भीतर के पट बंद हो जाते हैं, सुगति दुर्लभ हो जाती है। कारण है अधृति।

एकांत सुख चाहिए तो धृति के विकास के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है, लेकिन यह इतना आसान नहीं होता। यह एक दिन में उपलब्ध हो जाने वाली चीज नहीं है। धृतिबल का विकास होगा तो क्रमिक अभ्यास से होगा, संकल्प की दृढ़ता से होगा।

15. अव्यक्त सुख : एकांतवास

जिज्ञासु शिष्य को गुरु ने सुख के कई सूत्र बताए, किंतु शिष्य की जिज्ञासा ने अब भी विराम नहीं लिया। उसने कहा–'गुरुदेव! एकांत सुख के इतने ही उपाय हैं या और भी हैं?' गुरु ने कहा–'नहीं, उपाय और भी है। उनमें से एक है–एकांत निषेवणा। सुख चाहिए तो एकांत में रहने का अभ्यास करो।' हम व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें तो भी यह एकांत वाली बात बहुत अच्छी लगती है। एकांत का सबसे बड़ा फायदा यह है कि इसमें कलह-कदाग्रह और लड़ाई-झगड़े के प्रसंग नहीं बनते। सामूहिक जीवन में तू तू, मैं मैं की स्थिति बनती रहती है। अकेला आदमी लड़ेगा किससे?

साधना की दृष्टि से विचार करें तो भी एकांतवास की बात बहुत हितकर है, लाभदायी है। समूह के बीच में बाधक तत्त्व आते रहते हैं, व्यवधान और डिस्टर्ब बार-बार होता रहता है। एकांत में इसकी संभावना नहीं रहती। साधना करने वाले को साधक और बाधक तत्त्वों पर अच्छी तरह से विचार कर लेना चाहिए।

क्या है एकांतवास?

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–विवित्तसयणासयणं – शयन और आसन विविक्त हो। एकांतवास अनिवार्य-सा है। एकांतवास के कई अर्थ हो सकते हैं। इसका एक अर्थ है, जहां बाधक तत्त्व न हों। ऐसी जगह में व्यक्ति लोगों के बीच में रहता हुआ भी एकांतवास का अनुभव कर सकता है। दूसरा अर्थ है ध्यान में लीन होना और तीसरा अर्थ है आंख और कान का संयम करना।

बाह्य जगत से हमें जोड़ने का माध्यम बनती है हमारी इन्द्रियां। इनमें सबसे ज्यादा एक्टिव होती है आंख। किसी के लिए आंख का क्या महत्त्व है, उसे आसानी से समझा जा सकता है। यह ज्ञान का भी बहुत बड़ा स्रोत है। आंख से देखी गई चीज के लिए फिर किसी और साक्ष्य की जरूरत नहीं रह जाती। न्यायालय में आई विटनेस या चश्मदीद गवाह का साक्ष्य मुख्य माना

जाता है। आंख का मूल्य जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए बहुत ज्यादा है, किंतु साधना में यह आंख बहुत बाधक भी बनती है। यह चंचलता को बढ़ा देती है और चंचलता साधना में सबसे बड़ा विघ्न है, इसलिए कहा गया–आंख का संयम करें।

ध्यान करने वाले को सबसे पहला सुझाव दिया जाता है–आंखें कोमलता से बंद करें। आंख जब तक खुली है, दुनिया एक प्रकार की है। आंख के बंद होते ही दुनिया दूसरे प्रकार की हो जाती है। भीड़ में अगर आप एकांत चाहते हैं तो आंख को बंद कर लें, आपका काम बन जाएगा। आंख बंद होते ही सारी ऊर्जा भीतर में प्रवाहित होने लगती है, क्योंकि बाहर के सारे विकल्प बंद हो जाते हैं।

भीतर क्या है?

आंख खुली है तो बहुत सारे प्रश्न एक साथ पैदा होते हैं। आंख बंद है तो प्रश्न नहीं उठते। आंख के संदर्भ में दो तरह की यौगिक क्रियाएं चलती हैं–आंख बंद कर ध्यान करना और आंख खुली रखकर त्राटक करना। प्रेक्षाध्यान में इसे अनिमेष प्रेक्षा कहते हैं। स्थिर और अनिमेष देखते रहने पर हमारी एकाग्रता बढ़ जाती है और बहुत सारे प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। भीतर का ज्ञान भी प्रकट होने लगता है। कुछ योगियों और वैज्ञानिकों ने पलकों के झपकने के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या की। पलकें झपकाते समय व्यक्ति को ध्यान से देखो, उस समय पता चल जाएगा कि व्यक्ति के भीतर क्या हो रहा है। पलकों का झपकना सारे रहस्य प्रकट कर देता है।

बड़ों की अपेक्षा बच्चे अपनी पलकें तेजी से नहीं झपकाते। उनकी पलकें बड़ों की अपेक्षा ज्यादा स्थिर रहती हैं। इस तरह बच्चा सहज ही अनिमेष प्रेक्षा कर लेता है। बड़ों को अभ्यास करना पड़ता है। भीतर की वृत्तियां जितनी ज्यादा उत्तेजित होती हैं, पलकें उतनी ही ज्यादा झपकती हैं। इस तरह हमारी आंख का एकांतवास के साथ गहरा संबंध है। आंख बंद कर आदमी भीड़ में भी एकांत का गहरा अनुभव कर सकता है।

एकाग्रता भी एकांतवास है। गहराई से एकाग्रता का अभ्यास कर लें तो भीड़ में भी आप एकांत का अनुभव कर सकते हैं। मैंने जिस प्रकार एकांत में गंभीर साहित्य लिखा, उसी प्रकार भीड़ के बीच में लिखा, हजारों के बीच में बैठकर लिखा। लोग कहते हैं कि लेखन के लिए एकांत चाहिए, लेकिन मैंने तो

कभी भीड़ में बाधा महसूस नहीं की। यात्रा के दौरान अक्सर ऐसे प्रसंग आते हैं, जब प्रवास स्थल के पास शोर शराबा और कोलाहल की स्थिति रहती, लेकिन हम तो आराम से सोते। एकाग्रता के अभ्यासी हैं तो बाजार और मेले में बैठकर भी आप लिख-पढ़ सकते हैं।

मैं अकेला रह गया

योगी और साधक व्यक्तियों की बात निराली होती है। एक साधक अकेला चला जा रहा था। पता नहीं, कहां से एक दूसरा व्यक्ति आ गया। स्वभाव से वह बातूनी था। जिन्हें ज्यादा बोलने की आदत होती है, वे एकांत बर्दाश्त नहीं कर पाते। एकांत उनके लिए सबसे बड़ी सजा है। वह बातूनी आदमी साधक के साथ-साथ चलने लगा। साथ चल रहा है और लगातार बोलता भी जा रहा है, लेकिन साधक तो चुप है।

आखिर गंतव्य आ गया। दोनों अलग होने लगे तो बातूनी बोला–'भाई साहब! आप अकेले जा रहे थे। एक से दो हो गए तो सफर आसानी से कट गया।'

साधक बोला–'नहीं भाई, ऐसी बात नहीं है। मेरा सफर तो मुश्किल से कटा। जब तक तुम नहीं थे, हम दो थे। तुम्हारे आते ही मैं अकेला रह गया।'

बातूनी आदमी हतप्रभ रह गया। वह तो समझ रहा था कि इतनी दूर तक साथ देने के लिए यह व्यक्ति अभी धन्यवाद देगा, शुक्रिया अदा करेगा, लेकिन यह तो कह रहा है कि मुझे मुश्किल में डाल दिया, अकेला कर दिया। बोला–'यह क्या कह रहे हैं आप? मेरे आने से आप अकेले कैसे रह गए?'

साधक ने कहा–'जब तक तुम नहीं थे, मेरा प्रभु मेरे साथ था। तुम्हारे आते ही वह मेरा साथ छोड़कर मुझसे दूर चला गया और मैं अकेला रह गया।' एकांतवास के अभ्यस्त व्यक्ति के लिए दूसरे लोगों का साथ उसे अकेला बना देता है।

अकेला आदमी हिमालय की गुफा में जाकर बैठ जाए, लेकिन विचारों की भीड़ उसके साथ है तो एकांतवास नहीं हो सकता। विचारों पर नियंत्रण कर लेने की स्थिति में ही एकांतवास सध सकता है। जिस व्यक्ति के मन में ममत्व का बंधन कम है, वह भी एकांतवास का अनुभव कर सकता है। ममत्व प्रगाढ़ है तो एकांतवास नहीं होगा।

ममता और समता

सामायिक की स्थिति में भी श्रावक को कसमसाते और बार-बार आसन बदलते देख आचार्य भिक्षु को उसका उद्वेलन समझ में आ गया। पूछ लिया– 'सामायिक में बार-बार अस्थिर क्यों हो रहे हो?' श्रावक ने मन की बेचैनी गुरु के सामने छिपाई नहीं। बता दिया कि दो हजार रुपयों की थैली दुकान के बाहर ही छोड़ आया हूं।'

'क्या थैली के साथ सामायिक भी खोना चाहते हो? सबकुछ भाग्य पर छोड़ सामायिक में स्थिर बनो।'

गुरु का संबोध पाकर श्रावकजी थैली की चिंता छोड़ सामायिक में दत्तचित्त हो गए। भीतर से विचारों की भीड़ निकल गई। पूरी तरह से एकांत में हो गए। सामायिक पूरी कर दुकान पर गए तो देखा एक मोटा-ताजा बकरा थैली पर बैठा जुगाली कर रहा है। चालीस-पचास मिनट तक जैसे उसने थैली की रखवाली की हो।

शांति पाने का कोई भी इच्छुक व्यक्ति सबके साथ में रहता हुआ भी एकाग्रता का अभ्यास कर ले तो एकांतवास की यह साधना उसके जीवन में बड़ा निखार ला सकती है। मैं फिर से इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि नितांत निर्जन स्थान में रहना स्थूल दृष्टि से एकांतवास है, लेकिन इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण एकांतवास है भीतर में एकांत की अनुभूति। दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा की स्थिति बन जाए तो यह साधना की सबसे बड़ी सफलता मानी जाएगी।

हम जानते हैं कि अकेला रहना बहुत दुष्कर है। कुछ अभ्यस्त व्यक्तियों की बात छोड़ दें, सामान्य आदमी लंबे समय तक अकेला रहे तो पागल तो वैसे ही बन जाएगा। बहुत कठिन काम है अकेला रहना। मनुष्य की मनोवृत्ति ही ऐसी है कि उसे किसी का सहयोग चाहिए, साथ चाहिए, प्रेम, वात्सल्य और सौहार्द चाहिए। इससे एक बहुत बड़ा पोषण मिलता है उसे। अगर यह सब उसे न मिले तो वह नॉर्मल नहीं रह सकता, फिर वह कुंठाग्रस्त और लगभग अर्धविक्षिप्त की स्थिति में आ जाएगा।

प्रश्न है–कोई भी अकेला है कहां? हम हर बात से जाने-अनजाने प्रभावित हो रहे हैं। कहां-कहां के विचार दिमाग में आकर प्रभावित कर जाते हैं। अकेला तो उसी को कहा जा सकता है, जिसने एकाग्रता की, ध्यान की साधना कर ली। ऐसे व्यक्ति के मस्तिष्क को बाहर से आने वाले विचार

प्रभावित नहीं कर पाएंगे।

एकांतवास होता है एक तो क्षेत्रीय दृष्टि से और दूसरा आंतरिक साधना की दृष्टि से। दोनों ही उपयोगी हैं। अभ्यास दोनों का होना चाहिए। एकांत की साधना के लिए घर-परिवार छोड़ने की जरूरत नहीं है। हम गण में रहूं निरदाव अकेलो की साधना करते हैं तो आप 'घर में रहूं निरदाव अकेलो' की साधना क्यों नहीं कर सकते? एकांतवास की यह अनुभूति निश्चित रूप से एक अव्यक्त सुख का अनुभव कराएगी।

16. स्थायी सुख का साधन

गुरु ने शिष्य को एकांत सुख का मार्ग बताते हुए कहा–एकांत सुख की प्राप्ति का एक और साधन है–सूत्र, अर्थ और चिंतन। सूत्र में व्यापक सत्य को सीमित शब्दों में बांध दिया जाता है। इसका तात्पर्य है स्वल्प में विशाल अर्थ। बहुत लंबी बात कहनी है तो थोड़े शब्दों का न्यास किया और पूरा अर्थ उसमें समाहित हो गया।

सूत्र और अर्थ–ये दो हैं। सूत्र संक्षिप्त हैं, अर्थ विस्तृत हैं। कुछ लोग सूत्र को याद कर लेते हैं, पढ़ लेते हैं, किंतु उसके अर्थ को नहीं जानते। जब अर्थ नहीं जानते तो सूत्र को जानने की सार्थकता क्या है? अर्थ को समझ पाने के अभाव में चिंतन से भी दूर रह जाते हैं। चिंतन तो तभी होगा, जब अर्थ को समझेंगे।

गधा और चंदन

महान आयुर्वेदाचार्य महर्षि सुश्रुत ने बहुत कड़ी बात कह दी। उन्होंने कहा–'जो आयुर्वेद के सूत्रों को जानता है, किंतु उसके अर्थ को नहीं जानता, वह खरो यथा चंदन भारवाही वाली स्थिति में है। ठीक वैसे, जैसे गधे पर चंदन का भार। गधा चंदन का भार ढो रहा है, लेकिन उसकी सुगंध से वह परिचित नहीं है। यह बहुत बड़ी बात लगेगी आपको, किंतु यथार्थ है।

आज अर्थ पर ध्यान नहीं दिया जा रहा, सिर्फ सूत्र रटे जा रहे हैं। निर्युक्तिकारों ने कहा–जो अर्थ की समीक्षा नहीं करता, वह सत्य तक नहीं पहुंच सकता। समीक्षा के तीन साधन हैं–

नयनिक्षेपैर्योऽर्थान्नाभिसमीक्षते।
युक्तं चायुक्तवद् भाति
तस्यायुक्तं च युक्तवत्।

निक्षेप, नय और प्रमाण–इन तीनों के द्वारा विधिपूर्वक जो अर्थ की समीक्षा नहीं करता, उसे अयुक्त तो युक्त लगता है और जो युक्त है, वह अयुक्त लगने लगता है।

वह केवल शब्दों को पकड़ता है। कारण यही है कि वह अर्थ को नहीं जानता। वास्तव में प्रमाण क्या है? दशवैकालिक में कहा गया–

सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू।
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ॥

सूत्र के प्रमाण के अनुसार चलना चाहिए, पर कैसे? सूत्र का अर्थ जो अनुज्ञा दे रहा है, उसका अर्थ जो-जो कह रहा है, वह आधार है। मूल प्रमाण है अर्थ, इसलिए अर्थ के आधार पर चलना है। अर्थ को समझना है। जब हम तात्पर्य को नहीं जानते कि क्या कहा जा रहा है तो मूल हार्द को कैसे समझेंगे? तात्पर्य के बिना समझा नहीं जा सकता। तात्पर्य को समझना है तो शब्द पर ही अटक नहीं जाना है। उसके हार्द को समझना है कि किस अपेक्षा से कहा जा रहा है?

तात्पर्य तक पहुंचने का पहला साधन है नय। दूसरा साधन है प्रमाण और तीसरा साधन है निक्षेप। इन तीनों के द्वारा हम उसकी समीक्षा करें, तब तो ठीक है। अन्यथा है तो युक्तिसंगत बात और सामने वाला मानेगा कि असंगत बात है। इसी तरह असंगत बात संगत लगने लग जाती है। हमें अर्थ की मीमांसा अवश्य करनी चाहिए, जिससे सही अर्थ को पकड़ा जा सके। आचार्य तुलसी ने आचार्य भिक्षु के विचारों का नई शैली में प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि सामाजिक कर्तव्य समाज धर्म है। उसे मोक्ष धर्म नहीं माना जाना चाहिए।

लोक धर्म : लोकोत्तर धर्म

कुछ लोगों ने इस पर प्रश्न उठाया कि यह समाज धर्म कहां से आ गया? लोकधर्म कहां से आया? लोकधर्म यानी लौकिक धर्म। लोग मेरे पास इकट्ठा हो जाते। उन दिनों मेरा अधिकांश समय इसी तरह की चर्चाओं में जाता था। वह तेरापंथ का नवोदय काल था। नए सिरे से सारी बातों की मीमांसा हो रही थी। तमाम बातों को स्पष्ट करना पड़ रहा था।

लोकधर्म कहां से आया? इस प्रश्न के उत्तर में मैंने उनसे पूछा–'लोकधर्म को नहीं तो निक्षेप धर्म को तो जानते हो?' उन्होंने कहा–हां, जानता हूं। धर्म का निक्षेप करो, नामधर्म, स्थापनाधर्म, द्रव्यधर्म। अब द्रव्यधर्म का निक्षेप करो, लौकिक और लोकोत्तर में भेद हो जाएगा।'

मैंने कहा–'देखो निक्षेप में तो बोल रहे हो तुम लोकधर्म और लोकोत्तर धर्म। एक तो लोकोत्तर धर्म है, जो मोक्ष का धर्म है और एक लोकधर्म या समाज का धर्म है। स्थानांगसूत्र में धर्म के दस प्रकार बताए गए–ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, पाषंडधर्म, कुलधर्म, गणधर्म, संघधर्म, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म और अस्तिकायधर्म।

मोक्षधर्म बताया गया आत्मसाधना के लिए और लोकधर्म है व्यवस्था के लिए। जब सारे निक्षेप उसी के मुंह से करवाए तो उसकी शंका का समाधान हो गया। अर्थ और तात्पर्य को समझना बहुत जरूरी है। जैन साधुओं की शिक्षा पद्धति में यही विधान रहा कि साधु बारह वर्ष तक सूत्र का अध्ययन करे और फिर बारह वर्ष तक अर्थ का अध्ययन करे। आज तो स्थिति यह है कि मुनि की सारी उम्र बीत जाती है सूत्रों को पढ़ने और कंठस्थ करने में। दूसरा पक्ष यानी अर्थ सीखने वाला पक्ष उपेक्षित रह जाता है। कंठस्थ ज्ञान तो बहुत है। भक्तामर कंठस्थ है, कल्याणमंदिर, सिंदूरप्रकर, शांतसुधारस कंठस्थ है, दशवैकालिक कंठस्थ है, किंतु अर्थ पूछें तो एक में ही सिरदर्द हो जाता है।

अर्थ को जाने बिना सूत्रों का कोई उपयोग नहीं हो सकता। शिक्षा प्रणाली के संदर्भ में कहा गया–पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई। प्रथम प्रहर में कंठस्थ करो। दूसरे में ध्यान अर्थात् अर्थ का चिंतन करो। दोनों साथ चलते थे, लेकिन आज वैसा क्रम नहीं रहा। आज साधु-साध्वियां और श्रावक-श्राविकाएं प्रतिक्रमण करते हैं, किंतु उन्हें पता नहीं कि वे जो उच्चारण कर रहे हैं, उसका अर्थ क्या है? गुरुदेव ने मूल अतिचारों का हिन्दीकरण कर एक सुविधा कर दी कि प्रतिक्रमण के पाठ का अर्थ सब समझ सकें। हमारी समणियां विदेश जाती हैं। अमेरिका में जब समणियों ने प्रतिक्रमण कराया तो वहां के जैन बंधुओं ने कहा कि हमने पहली बार प्रतिक्रमण के अर्थ को समझा है।

सूत्र का अपना महत्त्व है, किंतु अर्थ को जाने बिना बात पूरी नहीं होती। अर्थ का सही ज्ञान नहीं है तो वच्चामेलियं का अर्थ बच्चे के साथ जोड़ दिया जाएगा। ठाणं में एगे आया शब्द आता है। प्राकृत को नहीं समझने वाला इसका अर्थ 'आगे आया' कर देगा। इसका सही अर्थ है–आत्मा एक है। हम नय के द्वारा अर्थ को समझें। अद्वैतवादी जो वेदान्ती हैं, वे भी एक आत्मा को मानते हैं, किंतु जैन लोग एक आत्मा को मानते हैं नयदृष्टि से। एगे आया संग्रहनय का वचन है। अगर नय का प्रयोग नहीं करेंगे तो उलझ जाएंगे। एक सुंदर सूक्त

है–नत्थि जिणवयणं नयविहूण। एक भी तीर्थंकर का वचन ऐसा नहीं है, जिसमें नय की अपेक्षा न हो। नयविहीन एक भी वचन नहीं है। हमें समझना होगा कि किस अपेक्षा से बात कही गई है।

आचार्यश्री ने कोलकाता की यात्रा की। उस समय विरोध बहुत ज्यादा था। कदम-कदम पर विरोध और आलोचना होती थी। तरुण संघ और उससे जुड़े दूसरे लोगों ने कहा कि बंगाल तो अनार्य क्षेत्र है। जैन साधु को वहां जाना कल्पता ही नहीं है। वहां जाने से मर्यादा का अतिक्रमण हुआ है और भी बहुत सी बातें कहीं गईं। बड़ा बवंडर खड़ा किया गया। हमारे समाज के भी कुछ लोग जो विरोध में रस लेते थे, वे भी उनके साथ खड़े हो गए।

आर्य : अनार्य

मैंने उस समय एक लेख लिखा–आर्य और अनार्य क्या है? लंबा लेख था और उसमें मैंने स्पष्ट किया कि यह व्यवस्था तो परिस्थितिवश की गई थी। जब साधुओं के लिए समस्या खड़ी हुई कि ऐसे क्षेत्रों में जाने से कई तरह की बाधाएं आती हैं, चारित्र की अनुपालना में कठिनाई होती है तो मगध आदि क्षेत्रों को केन्द्र में रखकर एक नई व्यवस्था की गई, लेकिन आज समय बहुत बदल गया तो वह बात नहीं रही, क्योंकि परिस्थितियां वैसी नहीं हैं। आज तो अनार्य जैसा कुछ है ही नहीं। आज कहीं भी जाया जाए, कोई कठिनाई नहीं है और कठिनाई हो तो आज भी वही व्यवस्था लागू हो सकती है। उस लेख में आगे मैंने लिखा था–नाणदंसणचरित्ताइं उस्सप्पंति–इस तरह का एक सामान्य नियम कर दिया कि साधु को इस सीमा में रहना चाहिए, किंतु इससे आगे भी अगर ज्ञान, दर्शन, चारित्र में अभिवृद्धि की संभावना हो तो मुनि जा सकता है। एक अपवाद भी रख दिया।

एक सामान्य नियम होता है और एक विशेष नियम, लेकिन नियमों की जानकारी जिन्हें नहीं होती, वे वितंडावाद खड़ा करते हैं। महाराष्ट्र भी कभी अनार्य क्षेत्र के अंतर्गत आता था। सम्राट सम्प्रति का नाम सब जानते होंगे। सम्राट अशोक का जैसे बौद्ध धर्म में विशिष्ट स्थान है, वैसे ही सम्राट सम्प्रति का जैन धर्म में। जैन धर्म के लिए उसने बहुत काम किया। उसी ने महाराष्ट्र में साधुओं का प्रवेश करवाया। उस समय वहां के लोग न भिक्षा की विधि जानते थे न और कुछ। सम्प्रति के प्रयासों से वहां के लोग जैन साधु की चर्या से अवगत हुए।

सामयिक नियम और सामयिक मर्यादाओं में समयानुसार परिवर्तन होता रहता है। नियम है कि राजधानी में साधु को महीने में दो बार नहीं जाना चाहिए। आज तो दिल्ली में हम दस बार चले जाते हैं। पहले परिस्थितियां कुछ ऐसी थीं कि साधु के वेश में गुप्तचर राजधानी में प्रवेश कर जाते थे और वहां की सूचनाएं अपने राज्य को भेजा करते थे, इसलिए नियम बना कि राजधानी में बार-बार नहीं जाना चाहिए। आज वैसी स्थिति नहीं है। राज्य की राजधानी हो या केन्द्र की, कितनी ही बार वहां जाया जा सकता है।

तात्पर्य को समझने के लिए नय के द्वारा मीमांसा की जानी चाहिए। पहले सूत्र के अर्थ को समझो, फिर उस पर गहराई से चिंतन करो। यह चिंतन की परंपरा ही विकास की परंपरा है। हमारे चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य बहुत स्वाध्यायी, चिंतनशील और मननशील आचार्य थे। उत्तराध्ययन का बार-बार स्वाध्याय करते और जब भी करते, अपने युवाचार्य मघवा से कहते–'मघजी! आज तो एक नया रत्न हाथ लगा है।'

चिंतन के साथ जब भी आप किसी ग्रंथ का स्वाध्याय करेंगे, कुछ न कुछ नया जरूर हाथ लगेगा। आगम संपादन का काम हम लंबे समय से कर रहे हैं। इस दौरान न जाने कितनी नई बातें हमें मिली हैं। अनेक नए तथ्य हमें प्राप्त हुए।

पूज्य कालूगणी को जब भी, जहां कहीं भी अवरोध आता, वे उस पर चिंतन-मनन करते। अवचेतन मन में उसे लेकर सो जाते और रात्रि को स्वप्न में उन्हें उसका समाधान मिल जाता। जिनका चिंतन-मनन चलता रहता है, उन्हें कोई बताने वाला भी मिल जाता है अथवा उनके भीतर से ही अर्थ प्रस्फुटित हो जाता है, इसलिए हम स्वाध्याय के क्रम में

तीन शब्दों पर ध्यान दें–सुत्तत्थसंचिंतणया–सूत्र, अर्थ और चिंतन। यह हमारे एकांत सुख का बहुत बड़ा साधन बन सकता है।

17. सुखायु के लक्षण

धर्मग्रंथों में और सामाजिक ग्रंथों में मनुष्य पर बहुत विचार किया गया है। जब मनुष्य पर विचार करते हैं तो उसकी आयु पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। मनुष्य की आयु, उसका जीवन कैसा है, इस पर विचार किया गया। उत्तराध्ययन में कहा गया–'चार चीजें दुर्लभ हैं, उनमें मनुष्य जीवन दुर्लभ है।' इसका तात्पर्य यह है कि सुखायु मिलना दुर्लभ है और हितायु मिलना और भी ज्यादा दुर्लभ है। जीवन के दो पक्ष हैं–सुखायु और हितायु। सुखायु का संबंध हमारे पौद्‌गलिक शरीर के साथ है, इन्द्रियों के साथ है, व्यक्ति के पुरुषार्थ के साथ है और सुख-सुविधा भोगने के साथ है। जीवन जहां सुखपूर्वक चले, कोई बाधा न आए, वह सुखायु जीवन है। आयुर्वेद के ग्रंथों में सुखायु और हितायु पर बहुत अच्छा विमर्श किया गया। सुखायु के जो लक्षण बताए गए हैं, वे बहुत ध्यान देने योग्य हैं।

सुखायु का पहला लक्षण है शरीर और मन स्वस्थ हों

रोगमुक्त हों। न शारीरिक रोग, न मानसिक रोग। इसके साथ हम एक शब्द और जोड़ दें कि भावात्मक रोग भी न हो। भावात्मकता वाली बात शायद हितायु के लिए ज्यादा अच्छी होगी। रोग अपने आपमें दु:ख है। दु:खी बनने के कई हेतु हैं, उनमें पहला हेतु है रोग। एक रुग्ण आदमी असहनीय दु:ख का अनुभव करता है। जिसके कोई रोग है, वही जान सकता है कि यह कितना त्रासद है। रोग के कारण रोगी की आकृति और प्रकृति दोनों बदल जाते हैं। दूसरों को भी इसका आभास हो जाता है कि इस आदमी को कोई पीड़ा है। सुखायु का जो पहला लक्षण बताया गया है, वह है पूर्ण आरोग्य की अवस्था, शारीरिक और मानसिक रोगों से पूरी तरह से मुक्त होना। उदासी, बेचैनी, अवसाद, चिंता–ये सारे मानसिक रोग हैं। शरीर और मन से पूरी तरह से स्वस्थ होना सुखायु का पहला लक्षण है।

आज से लगभग पचास वर्ष पहले की बात है। आचार्य तुलसी मुम्बई की यात्रा कर रहे थे। चूरू के सागरमलजी बैद सपरिवार मुम्बई रहते थे। उस समय उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की थी। शरीर और मन दोनों पूरी तरह से स्वस्थ थे। बड़े धनाढ्य व्यक्ति थे। वे कहा करते थे कि सिर दर्द क्या होता है, मैंने कभी नहीं जाना। यह बहुत बड़ी बात है। पास में प्रचुर धन हो, अच्छा व्यापार हो और सिरदर्द न हो, यह आश्चर्य की ही बात है। पैसा आता है तो अपने साथ अनिवार्य रूप से सिरदर्द लेकर आता है। व्यापार में तरह-तरह की दिक्कतें होती हैं। सागरमलजी सिरदर्द, बुखार, खांसी, जुकाम जैसे सामान्य रोगों से भी पूरी तरह से मुक्त थे।

सुखायु का दूसरा लक्षण है यौवन

यह अवस्था के साथ-साथ मन से भी जुड़ा हुआ है। जिस व्यक्ति में उत्साह है, स्फूर्ति है, वह साठ वर्ष का होकर भी युवा है। कुछ लोग छोटी अवस्था में ही बुढ़ापे का अनुभव करने लग जाते हैं। जीवन की परेशानियां और अभाव उन्हें छोटी उम्र में ही कमजोर बना देते हैं। यह बिल्कुल ठीक बात है कि मानसिक रूप से आदमी थोड़ा-सा भी कमजोर होते ही उसे तरह-तरह की बीमारियां घेरने लगती हैं। जो अल्पायु में ही बुढ़ापे का अनुभव करने लगते हैं, उनका जीवन सुखायु नहीं होता।

सुखायु का तीसरा लक्षण है कार्य सामर्थ्य

जिसमें काम करने की क्षमता है, वह सुखायु है। काम करने की क्षमता हासिल करना और उसे दीर्घकाल तक बनाए रखना बहुत मुश्किल है। थोड़ी-सी कोई समस्या आई, कोई विपरीत परिस्थिति आई, आदमी हिम्मत खो देता है। साफ कह देता है कि मैं यह काम नहीं कर सकता। एकदम असमर्थता प्रकट कर देता है, यह दुखायु का लक्षण है, दु:खी जीवन का लक्षण है। जो अपनी कार्यक्षमता को खो देता है, वह सुखी जीवन जी नहीं सकता।

सुखायु का चौथा लक्षण है इन्द्रिय बल

इन्द्रियों का होना और उनका सक्रिय रहना भाग्य की बात है। बहुत सारे लोग ऐसे मिलेंगे जो कहते हुए सुनाई देंगे कि अब पूरा दिखाई नहीं देता, कानों से पूरा सुनाई नहीं देता और भी इस तरह के दूसरे विकार उभर कर आते हैं। हमारी दो मुख्य इन्द्रियां हैं–आंख और कान, जिनके सहारे बाहरी दुनिया के साथ हमारा संपर्क रहता है। ये दुर्बल और श्लथ हो जाती हैं तो आदमी फिर

सुखायु का अनुभव नहीं करता। जिस व्यक्ति में सुनने की क्षमता है, देखने की क्षमता है और जिसकी दूसरी अन्य इन्द्रियां भी ठीक काम कर रही हैं, वह सुखी जीवन जीता है। आंख नहीं है तो आदमी के लिए जीवन के सारे रंग फीके हैं। भोजन परोसा गया तो वह पूछेगा, यह क्या है? यह खीर है। खीर कैसी होती है, किससे बनती है? दूध से बनती है। दूध कैसा होता है? सफेद होता है। सफेद कैसा होता है? बगुले के रंग जैसा होता है। प्रश्न पर प्रश्न होते जाएंगे, उनका कोई अंत नहीं होगा। उसकी समझ में नहीं आएगा। बगुला कैसा होता है? इस प्रश्न के उत्तर में उसके हाथ में बगुला दिया गया तो उसने उसकी गर्दन पकड़ कर कहा–'अच्छा मैं समझ गया सफेद रंग टेढ़ा-मेढ़ा होता है।'

आंख के अभाव में आदमी जो निष्कर्ष निकालेगा, वह सही नहीं होगा। बहुत सारे लोग नेत्रयुक्त होकर भी रंगों का सही विश्लेषण नहीं कर पाते, दृष्टिहीन के लिए तो ऐसा कर पाना संभव ही नहीं है। इन्द्रियों का सामर्थ्य बहुत बड़ी बात है। देखने की, सुनने की और स्वाद लेने की शक्ति के कारण ही आदमी ने इतना विकास किया। कुछ लोग इन्द्रियविहीन होकर भी इन्द्रियों के अभाव की किसी हद तक पूर्ति कर लेते हैं, पर ऐसे लोग विरल होते हैं। ज्यादातर आदमी इन्द्रियों के अभाव में दुःखी जीवन जीते हैं।

यदि हम गहरे में जाकर विचार करें तो निष्कर्ष निकलेगा कि सुखी और अच्छे जीवन का अगर कोई साधन है तो वह है इन्द्रियसंपन्नता, इन्द्रियों की परिपूर्णता। अहीण-पंचिंदियत्तं हु दुल्लहा। अहीन पंचेन्द्रिय होना बहुत दुर्लभ बात है। एकेन्द्रिय वाले जीव भी हैं। दो इन्द्रिय वाले जीव भी हैं, जिनमें दो इन्द्रियों-स्पर्शन और रसन का विकास हुआ है। तीन इन्द्रिय वाले जीव भी हैं, जिनमें स्पर्शन, रस और घ्राणशक्ति का विकास हुआ है। इसी तरह चार इन्द्रिय वाले और पांच इन्द्रिय वाले जीव भी हैं। पूरा संसार इनसे भरा पड़ा है, पर इनके जीवन का कोई मूल्य नहीं आंका जा रहा है। ये प्राणी हैं, इनमें भी आत्मा है, पर इनके जीवन के लिए उनका कोई मूल्य नहीं है।

इसका कारण है कि पांचों इन्द्रियां उन्हें एक साथ प्राप्त नहीं हैं। इन्द्रियों की दृष्टि से वे परिपूर्ण नहीं हैं। जब पांच इन्द्रियों के साथ-साथ मन भी प्राप्त होता है, तब कहीं जाकर पूर्णता की स्थिति आती है। पंचेन्द्रिय होना और समनस्क या मन वाला होना वर्तमान की दुनिया में सबसे बड़ी उपलब्धि है।

जिसके पास पांच इन्द्रियां हैं और मन है, वह दुःखी नहीं होना चाहिए। उपनिषद् का एक वाक्य है–यस्य संति दसांगुलयः जिसके पास दस अंगुलियां

हैं, वह दरिद्र नहीं हो सकता। इस वाक्य को हम इस भाषा में कह सकते हैं कि जिस व्यक्ति के पास पांच इन्द्रियां हैं और मन है, वह आदमी दु:खी नहीं हो सकता। संसार की सबसे बड़ी संपत्ति उसे प्राप्त है और दूसरी संपत्तियों का भरोसा बाद में होता है। इन्द्रियों की और मन की संपत्ति मूल संपत्ति है।

एक आदमी का बहुत बड़ा परिवार था। दर्जनों बेटे, पोते और बहुएं थीं। कर्मयोग से उसकी आंखें चली गईं। लोगों ने उससे कहा–'किसी आंख के स्पेशलिस्ट या सर्जन को दिखाओ तभी आंखें ठीक हो सकती हैं।'

उसने कहा–'क्या जरूरत है? छह जवान बेटे और पांच पौत्रों के होते हुए मुझे आंख की क्या जरूरत है?'

भाग्य का खेल, कुछ दिन बाद पैरालिसिस के कारण उसके पैर भी अशक्त हो गए। लोगों ने कहा–'अभी प्रारंभिक अवस्था है। दवा और यथेष्ट इलाज से ठीक हो सकते हैं।' उसने कहा–'इतने बेटों के होते हुए मुझे क्या चिंता। ये सब मेरे हाथ-पैर ही तो हैं।'

एक दिन अचानक घर में आग लग गई। घर के प्राय: सभी सदस्य अपना जरूरी सामान लेकर बाहर हो गए। घर का मुखिया आदमी अंधा और अपाहिज होने के कारण जल कर मर गया। बेटों की आंख और पैर उसके काम नहीं आए।

इन्द्रियों की संपत्ति में चक्षु की संपत्ति सबसे बड़ी संपत्ति है। आंख के अभाव में आदमी पूरी तरह से असहाय हो जाता है। सुखायु का एक बड़ा हेतु है इन्द्रियों की संपन्नता या परिपूर्णता।

सुखायु का पांचवा लक्षण है संपत्ति। जिसके पास धन है, उसका जीवन सुखी है। हम धार्मिक लोग भी इस सचाई को समझने का प्रयत्न करें कि धन सुख का साधन है। जिसके पास धन नहीं है, उसे रोटी भी सुलभ नहीं हो सकती। इस दुनिया में सबसे बड़ी बीमारी है भूख। इस बीमारी को जठराग्नि की पीड़ा भी कहते हैं। शरीर की दूसरी व्याधियां दवा या पथ्य से ठीक हो जाती हैं, किंतु यह बीमारी जीवन के प्रारंभ से लेकर अंत तक नहीं मिटती। इस बीमारी की दवा है भोजन।

उसे समय-समय पर यह भोजनरूपी दवा मिलती रहनी चाहिए। इस दवा का बार-बार सेवन करना पड़ता है। एक आदमी दिन में तीन बार, चार बार और आगे कहें तो बार-बार भोजन करता है, कुछ-न-कुछ खाता रहता है और

एक व्यक्ति ऐसा है जिसे दिन में एक बार भी भरपेट सूखी रोटी भी नहीं मिल पाती। सोचें, क्या जीवन है ऐसे लोगों का, इसीलिए अध्यात्म के आचार्यों ने रोगों की पंक्ति में क्षुधा या भूख को भी एक रोग की संज्ञा दी है। यह रोग संपत्ति या धन के अभाव में होता है।

बहुत पहले की बात है। दिल्ली प्रवास में एक बार डॉ. राममनोहर लोहिया आचार्यश्री से मिलने आए। उन्होंने कहा–'आचार्यजी! आप कृपा कर एक बार मुनि नथमलजी को मेरे साथ गांवों में भेजें। मैं उन्हें दिखाना चाहता हूं कि गांवों की स्थिति क्या है? किन विकट परिस्थितियों में आदमी जी रहे हैं। देश के नेता लोग देश की जो तस्वीर समाचार पत्रों और मीडिया के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं, वह सही नहीं है। वास्तविकता उससे सर्वथा भिन्न है। मैं दिखाना चाहता हूं कि देश की अधिकांश आबादी कितनी दयनीय स्थिति में जी रही है?'

उस समय डॉ. लोहिया की वह भावना पूरी नहीं हो सकी। आचार्यश्री की इच्छा होते हुए भी उस समय वैसा नहीं हो सका, किंतु एक महापुरुष की इच्छा अधूरी कैसे रहती? अहिंसा यात्रा में मैंने गांवों की स्थिति का गहराई से अध्ययन किया तो पाया कि डॉ. लोहिया जो कहते थे, बिल्कुल सही बात है। चालीस-पैंतालीस वर्ष बाद आज यह स्थिति है तो उस समय लोगों की क्या हालात रही होगी, अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता।

संपत्ति भी सुखी जीवन का लक्षण है। जिसके पास संपत्ति नहीं है, जो गरीब है, वह सुखी जीवन नहीं जी सकता। धार्मिक लोग और अध्यात्म के लोग कभी-कभी धन को बहुत गालियां देते हैं, उसे सब बुराइयों की जड़ बताते हैं, किंतु मैंने तो कभी ऐसा नहीं कहा और मैं ऐसा मानता भी नहीं हूं। धन को मैं जीवन-निर्वाह का एक बहुत बड़ा साधन मानता हूं। धन का दुरुपयोग और सदुपयोग होना यह एक अलग प्रश्न है, किंतु पैसे की शक्ति से कोई इनकार नहीं कर सकता। सबको यह मानना होगा कि इसके बिना जीवन-यात्रा ठीक से और सुचारू रूप से नहीं चलाई जा सकती। इसलिए सुखी जीवन का एक लक्षण बतलाया गया है संपत्ति।

सुखायु का छठा लक्षण है कार्य की सफलता। आदमी अपने हर कार्य में सफल होना चाहता है। होता है या नहीं, यह अलग बात है। हर आदमी की अभीप्सा यही होती है कि वह अपने हर कार्य में सफल हो। हमारे पास बहुत से लोग आते हैं और कहते हैं, मैंने यह काम शुरू किया है, आप आशीर्वाद दें कि मैं इसमें सफल बनूं। सफलता बहुत बड़ी बात है। आदमी कार्य करे और

सफल न बने तो चिंता, निराशा से घिर जाता है। सुखी जीवन का बहुत बड़ा हेतु है सफलता।

मैंने प्रत्यक्ष देखा–आचार्य तुलसी ने जो कार्य शुरू किए, वे पूरी तरह सफल हुए। इस सफलता का उनके मन में संतोष भी था। उनका लोक जीवन में जो महत्त्व बढ़ा, उसमें उनकी सफलता भी एक बड़ा कारण रही। उन्होंने साधु-साध्वियों के अध्ययन और विकास का सपना देखा और उसे अपने जीवन में पूरा होते देखा। गुरुदेव ने चालीस-बयांलीस साल पहले लिखा था–'इस समय यह स्थिति है कि हमारे पास एक भी साधु-साध्वी ऐसा नहीं, जो विद्वानों के बीच में जाकर प्रवचन या भाषण दे सके। आज के प्रबुद्ध आदमी को समझा सके। किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में जाकर अपनी बात को ठीक ढंग से रख सके।' यह उनके मन की व्यथा थी।

इस दिशा में उन्होंने संकल्पपूर्वक प्रयास शुरू किए और दो दशक के बाद ही उन्होंने वह स्थिति पैदा कर दी कि संघ के साधु-साध्वियां विद्वद्गोष्ठियों में नेतृत्व करने योग्य बन गए। बड़ी-बड़ी सभाओं और सेमिनारों में विद्वान लोग ध्यान से उनके वक्तव्यों को सुनने लगे। आचार्यश्री बहुधा कहते थे कि एक समय था जब हिन्दी में हमारा कोई साहित्य नहीं था। कोई आता और पूछता कि कौन-सी पुस्तक पढ़ूं तो बताने में कठिनाई होती। आज वह स्थिति हो गई कि लोगों को सोचना पड़ता है कि किस-किस पुस्तक को पढ़ें?'

ये हैं हमारी सफलताएं, जो बड़े परिश्रम से हमने प्राप्त कीं। आज हमने सुखी जीवन के कुछ लक्षण बतलाए। जिस जीवन में असफलता है, कार्यक्षमता नहीं है, पास में संपत्ति नहीं है, इन्द्रियों का बल भी नहीं है, कार्य का सामर्थ्य भी नहीं है, युवा जैसी स्फूर्ति नहीं है, शरीर रोगाक्रांत है, ऐसी स्थिति में व्यक्ति दु:खी जीवन जीएगा। शायद इस बात को ही ध्यान में रखकर आगमकारों ने कहा– मनुष्यत्व दुर्लभ है।

कहा जा सकता है कि दुर्लभ कहां है? आबादी तो बढ़ती जा रही है। इसे हम तात्पर्य की दृष्टि से समझने का प्रयास करें। मनुष्य जीवन दुर्लभ है, इसे हम इस अर्थ में लें कि सुखायु जीवन दुर्लभ है। हितायु होना तो और भी ज्यादा दुर्लभ है। इस दुर्लभता पर विचार कर आगे की कोई ऐसी योजना बनाएं, जिससे दुखायु या दु:खी जीवन का अनुभव न करना पड़े।

18. शाश्वत सुख के उपाय

मंत्र शास्त्र में एक शब्द आता है–अक्षीणमहानस। जिस व्यक्ति के पास मंत्र की शक्ति होती है, वह रसोई को अक्षीण बना देता है। अनुश्रुति है–गौतम स्वामी के पास वह लब्धि थी। एक मुनि भिक्षा के लिए गया। दूध लेकर आया। पात्र को ढक दिया। अब चाहे हजार मुनि हो, पीते चले जाएं और दूध समाप्त नहीं होगा।

मैंने ऐसे कई योगियों के बारे में सुना जो इस विद्या के ज्ञाता और प्रयोक्ता थे। भंडारा किया। सोचा कि सौ-डेढ़ सौ साधु आ जाएंगे, किंतु पहुंच गए हजार से ज्यादा। व्यवस्था में लगे लोग घबराए हुए ध्यान में रत प्रमुख संतजी के पास पहुंचे और स्थिति निवेदित की। कहा गया कि चिंता मत करो। सामग्री को ढक दो और आवश्यकतानुसार उसमें से निकालते जाओ। ऐसा ही किया गया और भोजन सामग्री अदृश्य रूप से बढ़ती चली गई। कम नहीं पड़ी। इस विद्या का नाम है–अक्षीणमहानस, लेकिन इसका प्रयोग संकट के समय में किया जाता था, चमत्कार दिखाने के लिए नहीं।

ऐसा ही एक सुख है–अक्षीण सुख। एक बार यह सुख प्राप्त हो गया तो कभी क्षीण या समाप्त नहीं होता, सदा विद्यमान रहता है। क्या ऐसा संभव है? ऐसा सुख कौन-सा है, जो अक्षीण है, अव्याबाध है, कभी समाप्त नहीं होता? पदार्थों की आज भरमार है। विभिन्न पदार्थों के बारे में आप जानते हैं। खाने-पीने की चीजें ही हजार तरह से ज्यादा की होंगी। हम तो बीस-पचीस से ज्यादा चीजों के नाम भी नहीं जानते।

राजस्थान में परंपरागत रूप से जो लोगों की रसोई में बनता-पकता रहा है, उसी से परिचित हैं, लेकिन आज हमारे मुनि गोचरी में कुछ ऐसी चीजें लेकर आ जाते हैं, जिनके बारे में पूछना पड़ता है कि यह क्या है? लेकिन क्या कोई ऐसा पदार्थ भी है, जिसका उपभोग करने के बाद मिला सुख कभी समाप्त न हो? शायद आप नहीं बता सकेंगे।

बीमारी है भूख

सांख्य दर्शन में भूख-प्यास को बीमारी कहा गया। जैसे शरीर कभी ज्वरग्रस्त हो जाता है या कोई अन्य समस्या हो जाती है, वैसे ही यह भूख की बीमारी है, लेकिन यह रोज-रोज की समस्या है, इसलिए इसे बीमारी नहीं माना जाता। यद्यपि यह भी एक बीमारी ही है, किंतु इसकी एक निश्चित दवा है–भोजन, इसलिए इसे बीमारी नहीं कहा जाता।

सांख्य दर्शन में इसका बहुत सुंदर विश्लेषण करते हुए कहा गया–आदमी भूख लगने पर भोजन करता है, इससे एक निश्चित समय के लिए तृप्ति मिल जाती है, किंतु यह तृप्ति क्षणिक होती है और कुछ समय बाद फिर भूख लग जाती है। अक्षीण सुख कहां हुआ? इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि किसी पदार्थ में अक्षीण सुख देने का सामर्थ्य नहीं है। पदार्थ की स्थिति वैसी ही है, जैसे मुट्ठी की रेत या अंजलि का जल। क्रमशः रीत जाना ही इनकी नियति है।

बाल्यावस्था की, युवावस्था की और वृद्धावस्था की अनुभूति अलग-अलग होती है। इन अवस्थाओं के सुख भी अलग-अलग तरह के होते हैं। उम्र के साथ शरीर का आकार-प्रकार भी बदलता रहता है। आपकी बाल्यावस्था से लेकर आज तक के फोटो रखे हुए हों तो उन्हें देख लें। पांच वर्ष में कैसे थे और आज सत्तर-अस्सी वर्ष की वय में कैसे हैं? पता चल जाएगा। कोई पहचान भी नहीं पाएगा कि यह उसी आदमी का फोटो है। यहां सबकुछ चलायमान है। कहा गया–

चला लक्ष्मी, चला प्राणाः, चलं जीवितयौवनम्।
चलाचलेस्मिन् संसारे, धर्म एको हि निश्चलः॥

लक्ष्मी चल है, प्राण चल है, यौवन चल है। और तो क्या यह संसार ही चल है। अचल तो एकमात्र धर्म है। इस संसार में और सब घटते रहते हैं, धर्म बढ़ता रहता है, लेकिन कौन-सा धर्म? अक्षीण सुख देने वाला धर्म।

शाश्वत सुख प्राप्ति के साधन

अक्षीण सुख का दाता कौन है? उपसमदयाखंति अक्खियं भवियं होई उपशम, दया, क्षमा–ये सब सुख को अक्षीण बना देते हैं। क्रोध भी क्षीण होता है। आपने किसी को चौबीस घंटे आवेश और क्रोध में नहीं देखा होगा। क्रोध आता है और कुछ देर बाद उसकी स्थिति उतार पर आ जाती है। हर समय

आदमी क्रोध में रहेगा तो या तो पागल हो जाएगा या लकवा मार जाएगा या फिर हार्ट अटैक हो जाएगा। शरीर की धमनियां और शिराएं इतने भीषण रक्त-प्रवाह को झेल नहीं पाएंगी।

आपने नाली में बहते पानी को देखा होगा, लेकिन पानी का स्तर और प्रवाह जब बहुत ज्यादा बढ़ जाता है तो नाली उसे झेल नहीं पाती और पानी नाली की दीवार को तोड़ देता है। यही स्थिति हमारे शरीर की है। न इतना दबाव हृदय झेल पाता है और न दूसरे अंग।

उपशम

आवेश तो एक प्रकार की तरंग है जो आती है और चली जाती है, किंतु उपशम भाव अक्षीण सुख दे सकता है। जिसने एक बार भी उपशम रस का पान कर लिया, उसने सुख का अनुभव कर लिया, वह व्यक्ति सदा सुखी रह सकता है। उसका हर दिन होली है, हर रात दिवाली है। उसका सुख घटेगा नहीं, बल्कि बढ़ेगा।

दया

क्रूरता से क्षणिक तोष भले ही मिल जाए, शाश्वत तोष कभी नहीं मिल सकता। क्रूर को अंततः पराजय ही मिलती है। अंगुलिमाल कभी नहीं जीतता, जीतता तो बुद्ध ही है। देवदत्त के बाणों से विद्ध हंस जब सिद्धार्थ गौतम की गोद में जाकर गिरा तो उनकी करुणा फूट पड़ी। अपने शिकार को मांगने की हठ कर रहे देवदत्त और उसे देने से इनकार कर रहे गौतम जब न्याय के लिए अपने पिता शुद्धोधन के पास गए तो उन्होंने न्याय देते हुए कहा था–'मारने वाले से बचाने वाले का अधिकार ज्यादा होता है। हंस को सिद्धार्थ ने बचाया है, इसलिए हंस उन्हीं का है। करुणा की उस अनुभूति को सिद्धार्थ गौतम ने ही अनुभव किया होगा। संभव है देवदत्त के मन में हिंसा से विमुख होने का भाव जागा हो। जब भी मन में दया का भाव आएगा, एक अलग प्रकार की तृप्ति का अनुभव होगा और उससे एक अलग प्रकार का सुख मिलेगा।

क्षमा

क्रोध आता है, चला जाता है, किंतु क्षमा कभी नहीं जाती। यह सुख और शांति देने वाली चीज है, जो स्थायी बनकर जीवन को लंबा करती है। क्रोध करने वाले को एक बार तो लग सकता है कि मैंने उसको मुंहतोड़ जबाब दे दिया, यह संतुष्टि हो सकती है, किंतु यह स्थायी नहीं होती। कुछ समय बाद

ही आपको महसूस होगा कि मुझे उसके साथ ऐसा नहीं करना चाहिए। एक पछतावे की भावना जरूर उभार लेगी, चाहे वह क्षीण-सी ही क्यों न हो। क्रोध क्षमा की तरह स्थायी सुख नहीं देता।

ताले की चाबी

आगम साहित्य में भाग्य को बनाने का एक सुंदर सूत्र बतलाया गया है। आदमी अपने भाग्य को कैसे बढ़ा सकता है। इस बारे में कहा गया है–पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए भुज्जो-भुज्जो सायं उवचिणाई। सातवेदनीय कर्म का बंध हमारे सुख को बढ़ाने वाला है। प्रश्न होता है कि उसका कब बंध होता है? उत्तर में कहा गया–जिस व्यक्ति में हर प्राणी के प्रति अनुकंपा का भाव होता है, वह व्यक्ति अपने भाग्य को बढ़ा सकता है। सात-वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय होता है और वह भाग्यशाली बन जाता है।

अपने सुख को अक्षीण बनाना स्वयं अपने हाथ में है। आपने उन दो भाइयों की कथा पढ़ी होगी, जिन्होंने ज्योतिषी के बताने पर अपने भाग्य को विपरीत बना लिया था। जिसके भाग्य में राजा होना लिखा था। उसने आलस्यवश हाथ की रेखाओं पर भरोसा कर प्रमाद किया और उसकी अकर्मण्यता ने उसे राजा के बजाय भिखारी बनाकर छोड़ा। इसके विपरीत जिसके भाग्य में गरीबी भोगना बताया था। उसने अपने संकल्प और पुरुषार्थ के द्वारा अपने भाग्य की लकीरों को बदल डाला और वह राजा बना।

भाग्य का ताला खोलने की चाबी हमारे अपने हाथ में है। उपशम, क्षमा और करुणा की साधना को प्रखर बनाओ, कषायों को कम करो, भाग्य प्रखर हो जाएगा। दिन-रात छलना-प्रवंचना में लगे रहो तो बनता हुआ भाग्य भी रूठ जाएगा। अगर किसी को अक्षीण सुख का अनुभव करना है तो उसे उपरोक्त तीन विशेषताओं को अपने जीवन में स्थान देना होगा, उपशम को बढ़ाना होगा।

बिना अक्षीण सुख की साधना किए कोई शाश्वत सुखी नहीं बन सकता। इसलिए इस चलाचल सुख की दुनिया में जीते हुए भी हम एक ऐसी साधना भी करें, जो हमारे सुख को अचल रखे। यह साधना एकमात्र धर्म के द्वारा ही हो सकती है।

19. सुख का यात्रापथ

मेरे पास अनेक लोग आते हैं। उनमें से उनकी संख्या भी कम नहीं है, जो तेरापंथी नहीं हैं, जैन नहीं हैं। अपना परिचय देते समय वे अपने पेशे के बारे में भी बताते हैं। कोई डॉक्टर होता है, कोई वकील, कोई इंजीनियर, कोई प्रशासनिक और कोई अधिकारी होते हैं। अर्थप्रधान युग है। जिसमें कमाई की ज्यादा संभावना होती है, उस पेशे को लोग वरीयता देते हैं। प्रशासनिक अधिकारी होना कम रुतबे की बात नहीं है। जमींदारी और राजशाही गई तो क्या हुआ? उनके वारिस दूसरे रूप में आ गए। पहचान बदली, रोल वही है।

किसी भी बड़े अधिकारी के बंगले पर जाएं, गेट पर नेमप्लेट उसकी पोस्ट को दर्शाती मिलेगी। परिचय की जरूरत नहीं है। मेरे पास आने वाले किसी भी आदमी का आज तक इस रूप में परिचय नहीं दिया गया कि यह व्यक्ति आत्मज्ञ है, आत्मा के बारे में जानता है। सारा परिचय उसके पद का दिया जाता है, पेशे को दृष्टि में रखकर दिया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो 'पर' का परिचय दिया जाता है। स्व के बारे में किसी की कोई दिलचस्पी नहीं है। दूसरों की खोजबीन में ज्यादा रुचि है।

जब तक आदमी को स्व का बोध नहीं होता, अपने आपको नहीं जानता, तब तक वह स्वयं के लिए समस्या पैदा करता है और दूसरों के लिए भी समस्या बनता है। समस्याबहुल इस युग में समाधान खोजने का प्रयत्न करना चाहेंगे तो उसके लिए सबसे पहले अपना रास्ता बदलना पड़ेगा। मैं यह नहीं कहता कि पर-ज्ञान व्यर्थ है। अनेकांत की दृष्टि से विचार करें तो पर-ज्ञान भी जरूरी है, किंतु केवल दूसरों के बारे में ही जानकारी हो, अपने बारे में न हो तो समस्याएं घटती नहीं, बल्कि बढ़ती हैं।

सबसे बड़ी समस्या यही है कि आदमी को खुद की पहचान नहीं है। वह अपनी पहचान भी दूसरों से कराना चाहता है। वह पहचान भी उसके बाह्य रूप की है। किसी से पूछो कि तुम कौन हो तो उसका उत्तर होगा—मैं अमुक कॉलेज

का प्रवक्ता हूं, अमुक क्षेत्र का विधायक हूं, अमुक पार्टी का जिलाध्यक्ष हूं, सेना की इंजीनियरिंग कोर का हवलदार, मेजर या कर्नल हूं, साहित्यकार हूं, आदि। सारा परिचय पेशे या पद का होगा। वह कभी नहीं कहेगा कि मैं एक सामान्य आदमी हूं। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में कुछ जानने और समझने की विनम्र कोशिश कर रहा हूं।

सुखी कौन?

मेरी दृष्टि में इस दुनिया का सबसे सुखी आदमी वह है, जिसे अपनी पहचान हो गई, अपना परिचय मिल गया। सुखी वह है, जो परिस्थितियों के बहाव में कभी बहता नहीं। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता। दुःख और सुख की परिस्थिति से जिसने स्वयं को परे कर लिया, वह कभी समस्याग्रस्त और विषादग्रस्त नहीं होता। इस दुनिया में सारा दुःख और सुख अहंकार और ममकार के धरातल पर होता है।

योगी के पास एक व्यक्ति आया और बोला–'मैं शाश्वत सुख को पाना चाहता हूं। आप स्थायी सुख का मार्ग बताएं?'

योगी ने कहा–'मार्ग बाद में बता दूंगा। तुम पहले मेरा एक काम कर दो। मुझे एक अंगरखे की जरूरत है। कहीं से प्रबंध करा दो, लेकिन ध्यान रहे–अंगरखा उस घर का होना चाहिए, जहां कोई दुःखी न रहा हो।'

सुख की खोज में निकले आदमी ने सोचा–मामूली-सी मांग है। कहीं न कहीं कोई खुशहाल परिवार मिल ही जाएगा। अंगरखा कौन-सी बड़ी चीज है, आज ही लाकर दे देता हूं।

अंगरखे की तलाश में वह आदमी गांव में पहुंचा। एक बड़े और पक्के मकान को देखकर विश्वास हो गया कि यहां मांगी गई चीज जरूर मिल जाएगी। संयोग से मकान मालिक दरवाजे पर ही मिल गया। आगंतुक से परिचय और आने का कारण पूछा।

उस व्यक्ति ने कहा–'मुझे एक साधु बाबा के लिए अंगरखा चाहिए।'

मकान मालिक ने कहा–'साधु बाबा के लिए चाहिए तो एक नहीं दो दे दूंगा।'

तभी याचक को बाबा की शर्त याद आ गई। कहा–'इतनी उदारता के लिए धन्यवाद, लेकिन एक बात आपसे पूछना चाहूंगा, क्या आपके घर में सब सुखी हैं?'

मकान मालिक इस प्रश्न से मर्माहत हो गया। बोला–'आपने तो मेरी दुखती रग पर हाथ रख दिया। लंबे समय से मेरा भाग्य विपरीत चल रहा है। पहली पत्नी को दिवंगत हुए छह वर्ष हो गए। दूसरी शादी की तो असाध्य बीमारी से ग्रस्त होकर वह भी चल बसी। भाइयों से अनबन चलती है। दो बेटे हैं, दोनों अलग रहते हैं। मेरा दुःख न पूछो तो अच्छा है।'

अंगरखा मांगने गए व्यक्ति ने असमर्थता व्यक्त कर दी। सुखी घर की तलाश में वह दूसरे गांव के लिए चल पड़ा। एक सप्ताह तक वह सुखी परिवार की तलाश करता रहा, लेकिन सब दुःख, पीड़ा, परेशानी और समस्या से ग्रस्त मिले। वह लौटकर बाबा के पास आया। चेहरे पर निराशा के भाव थे। बाबा ने पूछा–'वत्स! अंगरखा ले आए?'

युवक ने सिर झुकाकर कहा–'नहीं।'

'प्रयत्न नहीं किया?'

'प्रयत्न? सात दिन में अनेक गांवों की परिक्रमा कर डाली। अंगरखा सबके पास है, लेकिन आपकी शर्त बाधक बन रही है। छोटे-बड़े सभी परिवारों का अपना-अपना दुःख है। सुखी कोई भी नहीं है।'

साधु ने कहा–'तुम तो स्थायी सुख मांग रहे थे, मैं कहां से देता? अब शायद तुम्हारी समझ में आ गया होगा कि पदार्थ जगत में रहकर स्थायी सुख नहीं मिल सकता। कोई न कोई दुःख बना रहता है। एक मिटता है तो दूसरा शुरू हो जाता है। पदार्थ जगत की यही तो विशेषता है। वह आदमी को चैन नहीं लेने देता। आदमी उसकी चाह में दुःखी बना रहता है। जीवन में कभी एकरूपता नहीं रहती। तुम स्थायी सुख चाहते हो तो अपनी आकांक्षाओं को विराम दो।'

कारण क्या?

हमने देखा कि उच्च शिक्षित बड़े अधिकारी पदोन्नति नहीं होने पर आत्महत्या का रास्ता अपना लेते हैं। ऋण के बोझ के कारण पुरुष, परीक्षा में फेल विद्यार्थी, प्रताड़ित महिलाएं आत्महत्या का रास्ता लेते हैं। इसका कारण क्या है?

पहली बात तो यह कि अवसाद या उत्तेजना की स्थिति में संवेग प्रबल हो जाते हैं। उन पर नियंत्रण करना वे जानते नहीं या यह कहें कि नियंत्रण उनके वश के बाहर हो जाता है।

दूसरी बात यह कि स्व का उन्हें ज्ञान नहीं है। उन्हें पता नहीं कि पदार्थ जगत में स्थिति बदलती रहती है। मनुष्य जीवन की क्षणभंगुरता का भी उन्हें

ज्ञान नहीं है। जीवन की वास्तविकता से सर्वथा अपरिचित हैं। एक जैसी स्थिति में रहने के अभ्यस्त हैं। एक दिन जब तिलस्म टूटता है तो जीवन उन्हें व्यर्थ लगने लगता है और किसी भी तरह उससे मुक्ति का उपाय खोजने लगते हैं।

छूटने और टूटने का भी अपना दुःख और दर्द होता है। देखना है तो उन्हें जाकर देखो, जो कभी सत्ता और अधिकार की कुर्सी पर थे। वर्षों तक हुकूमत की। प्लेन में उड़ते थे और आज पैदल हैं। आप उन्हें दुनिया का सबसे दुःखी प्राणी पाएंगे।

पदार्थ के पीछे आदमी की सारी भाग-दौड़ इसलिए है कि पदार्थ में त्वरित फल देने की ताकत है। उससे निर्लिप्त रहना आदमी के लिए संभव बहुत कम है। संयम को जीवन में स्थान दें, अपनी जरूरतों को बढ़ाएं नहीं, उन्हें सीमित कर लें। जो कुछ मेरे पास है, वह कभी भी जा सकता है–इस प्रकार की मानसिकता का निर्माण कर लें तो पदार्थ आपको ज्यादा सुखी या दुःखी नहीं बना सकेगा।

जो हर समय इन्द्रिय चेतना के स्तर पर ही जीता है, वह हर चीज को ऐकांतिक दृष्टि से देखता है। बसंत के बाद पतझड़ आने का उसे भान नहीं होता या वह जानकर भी अनजान बना रहता है। पदार्थजन्य सुख उसकी आंखों पर मोह का ऐसा पर्दा डाल देता है कि सचाई उसकी आंखों से ओझल हो जाती है। आंख तब खुलती है, जब परिस्थिति बदल जाती है। व्यक्ति अभाव के दुःख को झेलने में असमर्थ हो जाता है।

शेयर मार्केट रोज कितने ही लोगों को सुखी या दुःखी बनाता है। इस धंधे में जो हैं, उनका जीवन उतार-चढ़ाव से भरा होता है। एक ही दिन में अरबपति और एक ही दिन में कंगाल बन जाने की संभावना रहती है। यदि वे अनेकांत की दृष्टि अपनाएं और पदार्थ की प्रकृति से परिचित हो जाएं तो निराशा और अवसाद की स्थिति से बच सकते हैं।

स्थायी सुख के लिए स्व का बोध होना बहुत आवश्यक है। पदार्थ की बहुलता, धन-दौलत का नशा व्यक्ति के स्वभाव और प्रकृति में अप्रत्याशित रूप में परिवर्तन ला देता है। स्नेह, अपनत्व, सहयोग और सहकार की भावना धीरे-धीरे विलुप्त होती जाती है और स्वार्थ, क्रूरता, हृदयहीनता, दर्प की भावनाएं बलवती होने लगती हैं। आदमी का आचार और व्यवहार बदल जाता है।

बहुत विचित्र है आदमी की प्रकृति। पदार्थ इसे बहुत चंचल बना देता है। समाज में ऐसे बहुत से आदमी आपको मिलेंगे, जो पहले मिलनसार, सहयोगी और सरल स्वभाव के थे, किंतु पैसा आया, करोड़ों के मालिक बने तो उसके साथ-साथ उनका स्वभाव भी बदल गया। ऐसे लोग भी मिलेंगे जो पहले उग्र स्वभाव के थे, किंतु हालात से समझौता करते हुए उन्होंने अपनी प्रकृति बदल दी।

चाबी हाथ में

दुनिया में दुःख है, यह सत्य है, किंतु यह भी सत्य है कि इस भौतिकवादी दुनिया में स्थायी सुख भी नहीं है। इसलिए 'स्थायी' की बात तो किसी को सोचनी ही नहीं चाहिए। स्थायी की बात उसी स्थिति में सोची जानी चाहिए, जब स्व को जानने और समझने का संकल्प जागे। स्थायी परिणति का यही एकमात्र रास्ता है। चाबी अपने हाथ में है। किसी दूसरे के सहारे की जरूरत नहीं। अपनी दृष्टि ही अपनी सृष्टि का निर्माण करती है। अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाएं तो दुःखरहित जीवन जीया जा सकता है।

बुद्धिमानी की बात यह है कि निरापद मार्ग की जगह हम कांटों भरा रास्ता क्यों चुनें? खंडित सुख की चाह हम क्यों करें? क्यों नहीं हम वह मार्ग अपनाएं, जो हमें निर्विघ्न मंजिल तक पहुंचा दे। नकारात्मक दृष्टि से दुःख पैदा करने की बजाय सकारात्मक दृष्टि से सुख क्यों न पैदा करें?

वैसे भी सुख और दुःख भाव जगत में पैदा होने वाली अनुभूतियां हैं। यह सारा खेल भावनाओं का है। कोई प्रत्यक्ष में आकर हमें प्रताड़ित नहीं कर रहा है, किंतु अनुभूतियां हमें चेतना के उस स्तर पर ले जाती हैं, जहां हम बहुत कष्ट का अनुभव करते हैं। इससे बचने का उपाय यही है कि पर को छोड़ हमें स्व की खोज करनी चाहिए, क्योंकि सुख का यात्रापथ है स्व की खोज। जिस दिन स्व की खोज के रास्ते पर हमारा प्रस्थान हो जाएगा, यह मानकर चलें कि पचास प्रतिशत दुःख तो उसी दिन समाप्त हो जाएगा।

20. सुख है भीतर की संपदा

दो शब्द विवेचनीय हैं–समृद्धि और दरिद्रता। समृद्धि दो तरह की होती है–भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक समृद्धि। इसी तरह दरिद्रता भी दो तरह की होती है–भौतिक दरिद्रता और आध्यात्मिक दरिद्रता। आदमी पदार्थ से समृद्ध होता है, यह बाह्य जगत की मान्यता है। भीतर की समृद्धि इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि भीतर की समृद्धि स्थायी होती है। बाहर की समृद्धि क्षणिक होती है, स्वल्प समय की होती है। भीतर की समृद्धि है तो बाहर की दरिद्रता का कोई महत्त्व नहीं है। भीतर की समृद्धि आदमी को कभी दरिद्रता का अनुभव नहीं कराती, लेकिन दरिद्रता बाहर और भीतर दोनों की है तो आदमी को रोना ही रोना है।

अक्सर ऐसा होता है कि आदमी बाहर से जितना-जितना समृद्ध होता जाता है, भीतर से उतना ही दरिद्र होता जाता है। आज के युग में यही हो रहा है। आदमी की भौतिक समृद्धि बढ़ रही है और आध्यात्मिक दृष्टि से वह खोखला होता जा रहा है। एक बहुत बड़ा असंतुलन है।

आध्यात्मिक समृद्धि का अपना आनंद और सुख होता है। स्थिति अनुकूल हो तब भी आनंद और प्रतिकूल हो तो भी आनंद। हम भावना करें कि हमारी चेतना आनंदमय बने। ऐसी चेतना, जो कभी दुःख और शोक का अनुभव न करे।

एक सामाजिक प्राणी को पदार्थ सुख और अध्यात्म सुख, दोनों की चाह हो सकती है, किंतु एक साधक के सामने केवल आत्मा की समृद्धि होती है। भौतिक सुख की न तो उसे कामना होती है और न ऐसे सुख से उसे आनंद होता है। आत्मा में रमण करने से उसे जिस आनंद की अनुभूति हो रही है, उसके सामने उसके लिए हर सुख फीका है, व्यर्थ है। इन सबके बावजूद यह एक ध्रुव और अटल सिद्धांत है कि समृद्धि के बिना कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। चाहे वह पदार्थ के क्षेत्र का बड़ा काम हो या अध्यात्म के क्षेत्र का।

विपन्न आदमी कभी कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। भौतिक दृष्टि से गरीब है तो उसका सारा समय रोटी की चिंता में जाएगा। आध्यात्मिक दृष्टि से गरीब है तो भी कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। इस धरती पर पैदा हुए महान लोग न तो भौतिक दृष्टि से समृद्ध थे और न ही आध्यात्मिक दृष्टि से गरीब। ज्यादा संख्या उन लोगों की है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से समृद्ध थे। भीतर की अमीरी ने उनसे ऐसे काम करवाए कि वे सारी दुनिया में विख्यात हो गए।

अक्ल और दौलत

एक कहावत है–एक आदमी अपनी अक्ल से दौलतमंद बन सकता है, किंतु एक दौलतमंद अपनी दौलत से अक्लमंद नहीं बन सकता।

ठीक इसी तर्ज पर कहा जा सकता है कि अध्यात्म से समृद्ध आदमी अपनी आत्मिक संपन्नता से भौतिक दृष्टि से भी समृद्ध बन सकता है, किंतु पदार्थ या धन से संपन्न आदमी आत्मसंपन्न नहीं बन सकता।

एक विद्वान, किंतु गरीब कवि राजा के दरबार में गया। पता नहीं विद्या के साथ क्यों यह अभिशाप जुड़ा हुआ है कि विद्या और लक्ष्मी साथ-साथ नहीं रह सकतीं। प्राचीन काल में विद्वानों ने बड़ी विपन्नता झेली है। आज तो वैसी बात नहीं है। आज कॉलेज के प्रवक्ता और यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर अच्छा वेतन पाते हैं। उनके पास बंगला और मोटर कार है, लेकिन सौ वर्ष पहले आज जैसी स्थिति नहीं थी। कवि, लेखक, विद्वान बहुत गरीब हुआ करते थे। ऐसे में उनका एकमात्र आश्रय होता था राजदरबार।

वह कवि राजमहल में पहुंचा और वहां प्रहरियों को राजा के मौसेरे भाई के रूप में अपना परिचय दिया। प्रहरियों ने राजा तक यह बात पहुंचा दी कि आपके मौसेरे भाई आए हैं और आपसे मिलना चाहते हैं। राजा यह समाचार सुनकर चौंक पड़ा। मेरे तो कोई मौसी ही नहीं है, फिर मौसेरा भाई कहां से आ गया? फिर भी उसने कुतूहलवश उसे मिलने की इजाजत दे दी।

वह व्यक्ति राजा के सामने जैसे ही आया, राजा ने उससे प्रश्न किया–'मैं तुम्हें पहचानता नहीं और तुम मेरे साथ रिश्ता बता रहे हो, बात क्या है?'

आगंतुक बोला–'आप न पहचानें तो मैं क्या कर सकता हूं, लेकिन मैंने जो कहा, वह पूर्णतया सत्य है। मैं आपका मौसेरा भाई ही हूं। मैं स्वयं अपना परिचय दे देता हूं'–इतना कह कर उस कवि ने राजा को संबोधित कर एक श्लोक उच्चारित किया–

आपदा च मम माता, तव माता च संपदा।
आपद् संपदे भगिन्यो, तेनाऽहं तव बांधवः॥

मेरी मां का नाम है आपदा और आपकी मां का नाम है संपदा। आपदा और संपदा दोनों सगी बहने हैं, इस बात को आप ही नहीं, सब जानते हैं। आप बताएं कि इस रिश्ते से आप मेरे मौसेरे भाई हैं या नहीं?

आंख खुल गई

राजा उसकी बुद्धिमत्ता और चातुर्यपूर्ण उत्तर से बहुत प्रभावित हुआ। उसने कवि की विपन्नता को दूर कर दिया। अपनी गरीबी से तंग एक विद्वान के मन में चोरी करने का विचार आया। सोचा–जब यही कर्म करना है तो छोटे-मोटे गृहस्थ के घर में चोरी करने की बजाय राजमहल में ही क्यों न चोरी करूं? ऐसा निश्चय कर घनी अंधेरी रात में वह राजमहल की ओर चल पड़ा।

राजमहल के प्रवेशद्वार पर पहुंचते ही प्रहरियों ने रोका और आवाज लगाई–'कौन?'

विद्वान में सत्य बोलने के संस्कार प्रगाढ़ थे। उसने बेखौफ उत्तर दिया–'मैं चोर हूं।'

प्रहरियों ने सोचा–'राजमहल का कोई कर्मचारी है, पूछने पर व्यंग्य में स्वयं को चोर बता रहा है। चोर होता तो इतनी निर्भीकता से उत्तर न देता। प्रहरियों ने कहा–'चिढ़ते क्यों हो भाई, हमारी तो ड्यूटी है। हर आने-जाने वाले से पूछना पड़ता है'–यह कहकर द्वार खोल दिया।

अपनी निर्भयता और भाग्य से चोर राजा के अंतःपुर तक पहुंच गया। देखा–राजा शय्या पर सुख से सो रहा है। इधर उसका पहुंचना हुआ और उधर राजा की स्वप्नयात्रा शुरू हो गई। राजा भी विद्वान आदमी था। अपने ऐश्वर्य और वैभव का चित्रण वह नींद में एक श्लोक के माध्यम से करने लगा–

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः,
सद्बान्धवा प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्तिदन्तिनिवहास्तरलाः तुरंगाः,
.....?

मेरा अंतःपुर कितना सुंदर है। मेरे स्वजन भी कितने अनुकूल हैं। मेरे बंधु-बांधव बहुत नेक और अच्छे हैं। मेरा सेवक और भृत्यवर्ग अत्यंत प्रेम, विश्वास और श्रद्धा के साथ मेरी सेवा करता है। मेरे पास चतुरंगिणी सेना है, जिसमें

गजसेना के हाथियों की धवल दंतपंक्ति मेघाच्छादित आकाश में बिजली जैसी कौंध रही है। वे हाथी जब चिंघाड़ते हैं तो बादलों की घोर गर्जन जैसी ध्वनि होती है। मेरी अश्वसेना के चंचल तुरंग कसी हुई वल्गा को मुंह से चबाते हुए पवन वेग से बढ़ जाने को आतुर हैं।.....?' इसके बाद राजा अटक गया। अब तक वह श्लोक के तीन चरण पूरे कर चुका था। चौथे चरण पर विचारों का प्रवाह थम गया या राजा को सूझ नहीं रहा कि वह क्या कहे?

चोरी के इरादे से गया वह संस्कृत विद्वान शयन कक्ष के कोने में दुबका राजा का स्वप्न आलाप बड़े ध्यान से सुन रहा था। चौथे चरण पर राजा की चुप्पी उसे असह्य लग रही थी। उससे रहा नहीं गया और वह बोल पड़ा–

सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति॥

मेरे पास सबकुछ है, किंतु जिस दिन ये आंखें बंद होंगी (मृत्यु होगी) सबकुछ छूट जाएगा, मेरे पास कुछ भी नहीं रहेगा। इतना सुनना था कि राजा की आंख खुल गई। यह वाक्य सुनते ही उसका सारा गर्व चूर-चूर हो गया। तभी उसे ध्यान आया मेरे कक्ष में कोई दूसरा भी है। प्रहरियों को आवाज दी। कक्ष में उजाला हुआ और चोर के रूप में कक्ष में घुसा वह विद्वान तुरंत कैद कर लिया गया।

दिन में दरबार जुड़ा। सारे राज्य में मुनादी करवा दी गई कि राजमहल में अनधिकृत प्रवेश करने वाले एक चोर को आज भरे दरबार में दंडित किया जाएगा। तब की न्यायिक प्रक्रिया आज की तरह इतनी दीर्घकालिक और विलंबित नहीं होती थी। तुरत-फुरत फैसला होता था। हथकड़ी-बेड़ी में आबद्ध उस चोर को भरे दरबार में राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। मुख्य दंडाधिकारी ने पूछा–'बिना अनुमति तुमने राजमहल में प्रवेश क्यों किया?' 'चोरी करने के उद्देश्य से।' विद्वान ने निर्भीकता से उत्तर दिया।

यहां इस बात को अच्छी तरह से समझ लेना है कि समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था अगर अच्छी नहीं है तो बौद्धिक व्यक्ति को भी चोरी जैसा कृत्य करने को विवश होना पड़ता है। इतिहास साक्षी है कि राज्य की व्यवस्था गड़बड़ होने पर राजाओं के महल लूट लिए गए। राजा का तख्ता पलट दिया गया। आज प्रजातांत्रिक और मताधिकार प्रणाली वाले युग में भी असमान और अन्यायपूर्ण व्यवस्था के कारण चोरी, डकैती, अपहरण और हत्या जैसे अपराध हो रहे हैं। कोई विद्वान हो या कलाकार, रोटी की भूख आदमी को वह सबकुछ करने को विवश कर देती है, जो अपराध की श्रेणी में आता है।

दंडाधिकारी ने चोर का स्पष्ट उत्तर सुनकर कहा–'जानते हो इस अपराध की सजा क्या होगी?'

'प्राणदंड। इससे बड़ी सजा भी क्या आपके विधान में है?'

दंडाधिकारी और स्वयं राजा, चोर का इतना निर्भीक उत्तर सुनकर चकित थे। दंडाधिकारी ने फिर प्रश्न किया–'इससे पहले भी क्या तुमने राजमहल में कभी चोरी की है?'

'कभी नहीं। राजमहल में चोरी तो क्या, राह चलते मैंने किसी की खड़ी फसल से एक सिट्टा भी नहीं तोड़ा। जीवन में आज पहली बार चोरी करने को विवश हुआ। अपनी विपन्नता के कारण मैं रोज मर-मर कर जी रहा हूं। इससे अच्छा है एक बार में ही जीवन से छुटकारा मिल जाए। मुझे प्राणदंड दिया जाए।'

मंत्री, राजा और प्रजा सभी ने आज एक अद्भुत चोर देखा, जो स्वयं के लिए मृत्युदंड की सजा मांग रहा था।

'अभी तुमने अपनी विवशता की बात कही। तुम्हारे सामने कौन-सी विवशता थी?' दंडाधिकारी ने एक और प्रश्न किया।

'मैं विद्वत्कर्म से अपना जीवन निर्वाह करने वाला ब्राह्मण हूं। जीवन निर्वाह के साधनों को जुटाने में असमर्थ हो गया तो चोरी करने का विचार आया। किसी सामान्य घर में चोरी करने से मुझे क्या मिलता? ज्यादा से ज्यादा कुछ मुद्राएं, लोहे, पीतल या तांबे के कुछ बर्तन, अथवा बीस-तीस सेर धान्य या अनाज। मैंने अपनी दरिद्रता को हमेशा के लिए दूर करने के उद्देश्य से राजा के महल में चोरी करने का निश्चय किया। मेरे भाग्य ने मुझे राजमहल में प्रवेश तो करवा दिया, किंतु अपने काव्यानुराग के कारण मैं अपने उद्देश्य में विफल रहा। भाग्य का कैसा विचित्र खेल कि जिस विद्याप्रेम को मैंने अपने जीवन का साध्य बनाया, उसी विद्याप्रेम ने हमेशा मुझे कंगाल की स्थिति में रखा और आज एक बार फिर उसने मेरे साथ दगा किया। राजा को विचारों के अंतर्द्वंद्व में फंसा देख और अधूरी काव्यपंक्तियों को पूरा करने में हो रही असुविधा और कठिनाई को देख मुझसे रहा नहीं गया और मैंने अधूरी काव्यपंक्ति पूरी कर दी।

मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी, लेकिन इस सबका अब क्या अर्थ और औचित्य? मेरा चौर्यकर्म प्रमाणित हो गया है। उसके लिए मुझे प्राणदंड दिया जाए।' यह कहकर चोर के रूप में दोषी बनकर खड़ा वह विद्वान मौन हो गया।

चोर की स्पष्टोक्ति सुनकर कुछ देर के लिए सब मौन हो गए। तभी राजा की धीर-गंभीर आवाज गूंजी–'तुम्हारी विद्वत्ता और काव्यानुराग से मैं प्रसन्न हूं। उससे भी ज्यादा प्रसन्न हूं तुम्हारे द्वारा अपनी समस्या की पूर्ति पर, लेकिन सबसे ज्यादा प्रसन्न हूं तुम्हारी सत्यवादिता पर। कठिन स्थिति में भी जो सत्य का दामन न छोड़े, वह अपराधी कैसे हो सकता है कविवर्य! जिस महल में तुम चोरी के इरादे से आए थे, वह मेरा है। मैं तुम्हें चोरी के अपराध के लिए क्षमा करता हूं। प्राणहरण के बजाय तुम्हारी उस चीज का हरण करता हूं, जिसने तुम्हें चौर्यकर्म के लिए प्रेरित किया। मंत्रीजी! कवि को राजकोष से इतना धन दिया जाए कि उन्हें किसी से कुछ मांगने की आवश्यकता ही न रहे।'

यह थी प्राचीन समय की न्याय प्रणाली और व्यवस्था। समाज की व्यवस्था के साथ सुख-दुःख का गहरा संबंध है। वे विकास कैसे कर सकते हैं, जिन्हें न तो शिक्षा का अवसर मिलता है, न बौद्धिक लोगों की संगति मिलती है। उनका सारा समय तो तेल, लूण, लकड़ी की व्यवस्था में बीत जाता है। मुद्राराक्षस एक संस्कृत नाटक है। उसमें लिखा गया है कि भूखा आदमी चांद को देखता है तो उसमें भी उसे रोटी का ही आकार दिखाई देता है। विद्या और ज्ञान-विज्ञान का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं है।

कैसे हो तुम?

सुख और आनंद के दो क्षेत्र हैं–पदार्थ की सीमा का क्षेत्र और चेतना की सीमा का क्षेत्र। जहां पदार्थ की उपयुक्त और सुविधाजनक प्राप्ति है, वहां आदमी सुख में रहता है। बोलचाल की भाषा में कोई किसी से पूछता है–'कैसे हो?' तो जवाब मिलता है–'मजे में हूं।' साधक से यह प्रश्न पूछा जाए तो वह भी कहेगा कि आनंद में हूं।

चेतना के परिपार्श्व में रहने वालों के लिए तो हर समय आनंद ही आनंद होता है। 'सदा दिवाली संत के आठूं पहर आनंद।' लोगों की दीवाली तो साल में एक बार होती है, किंतु जो साधक हैं, उनका तो हर दिन होली और हर रात दिवाली है। उनका त्यौहार तीन सौ पैंसठ दिन का होता है।

सांसारिक जीवन जीने वाले गृहस्थ के सब दिन दिवाली नहीं होती। गृहस्थ जीवन की समस्याओं से वह हर समय घिरा रहता है। अनुकूल और प्रतिकूल हर स्थिति में आनंद तो केवल साधक के लिए ही संभव है। आध्यात्मिक चेतना आदमी को भीतर से बल प्रदान करती है। तनाव, अवसाद आदि समस्याओं से लड़ने की क्षमता पैदा करती है। आदमी के सामने जो भी घटित होता है, वह

सब सुख में, आनंद में परिवर्तित हो जाता है। आध्यात्मिक रसायन ऐसा है, जो प्रतिकूल परिस्थिति को भी सुखमय बना देता है।

बौद्ध साहित्य में एक प्रसंग आता है। भिक्षुओं ने बुद्ध के पास जाकर कहा–हम विहार (यात्रा) करना चाहते हैं। बुद्ध ने यात्रा में आने वाली कठिनाइयों से उन्हें अवगत कराते हुए कहा–'यात्रा में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। क्या तुम इसके लिए तैयार हो?'

सबने एकस्वर से कहा–'हां, हम सब इसके लिए तैयार हैं।'

बुद्ध ने कहा–'जहां भी जाओगे, लोग आक्रोश करेंगे, गालियां देंगे, उपहास करेंगे कि ये भिक्षुक कहां से आ गए? उनके आक्रोश को सहन कर लोगे?'

'हां, हम सहन कर लेंगे।'

'कैसे?'

'यह सोचकर कि मात्र गाली ही तो दे रहे हैं। शारीरिक रूप से हानि तो नहीं पहुंचा रहे हैं।'

'अगर पीटना शुरू कर देंगे तो?'

'उस समय हमारा चिंतन यह होगा कि पीट ही तो रहे हैं, प्राण-हरण तो नहीं कर रहे हैं।'

'अगर प्राण-हरण की स्थिति आ जाए तो?'

'हम यह सोचकर संतोष करेंगे कि प्राण ही तो ले रहे हैं। तथागत बुद्ध का दिखाया धर्म और मेरी आत्मा तो मेरे पास है। ये जो कर रहे हैं, सब बालसुलभ चेष्टाएं हैं। हमारे मन में उनके प्रति कोई अन्यथा भाव नहीं आएगा।'

बुद्ध ने समझ लिया कि भिक्षुओं ने साधना में काफी प्रगति कर ली है। उन्होंने उनको यात्रा की स्वीकृति दे दी।

दृष्टिकोण जब सकारात्मक बन जाता है तो दुःख, क्षोभ, हताशा, दैन्य कुछ भी नहीं रह जाता। चित्त और मन आनंद तथा प्रसन्नता से परिपूर्ण रहता है। दुःख और शोक उपजता है नेगेटिव थिंकिंग से। साधना के द्वारा हम अपने दृष्टिकोण को सकारात्मक बनाएं। चेतना पर नकारात्मक भावों की जंग न लगने दें, उस पर आवरण न आने दें। ध्यान के द्वारा, मंत्र-जप के द्वारा चेतना को निर्मल बनाते रहें, साफ करते रहें। अगर ऐसा होता है तो जीवन में कभी दुःख और दैन्य नहीं आएगा। जीवन पूर्ण समाधि और आनंद के साथ बीतेगा।

21. सुख है पदार्थातीत चेतना

आज चारों ओर ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न हो रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं का विस्तार हो रहा है। अनेक विद्यालय, इंस्टीट्यूट, ट्रेनिंग कॉलेज, अनुसंधान संस्थान खुल रहे हैं। प्राचीन भारत में तो नालंदा और तक्षशिला दो ही थे। आज तो न जाने कितने विश्वविद्यालय हैं। प्रायः हर जिले में एक-दो विश्वविद्यालय अनिवार्य रूप से मिल जाएंगे। अज्ञान मिटाने के लिए ही तो हैं।

परा : अपरा

लौकिक विद्या के संदर्भ में तो कह सकते हैं कि ज्ञान बढ़ा है, किंतु आत्मविद्या को सामने रखते हैं तो पता चलता है कि अज्ञान बहुत बढ़ा है। ज्ञान कम हुआ है, अज्ञान बढ़ा है। हमें सापेक्ष दृष्टि से विचार करना है। उपनिषद् में दो शब्द आते हैं–पराविद्या और अपराविद्या। अपराविद्या लौकिक विद्या है। भूगोल, खगोल, गणित, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि अपरा विद्याएं हैं। पराविद्या आत्मविद्या है। दुःख को दूर करने वाली विद्या है।

आज अपराविद्या का बहुत विकास हो रहा है। छोटे-छोटे बच्चे भी देश दुनिया की बहुत सारी जानकारी रखते हैं। पुराने जमाने के आदमी अपने गांव, समाज तक ही सीमित रहते थे। उनकी जानकारी के स्रोत भी कम थे, किंतु आज तो सूचना क्षेत्र में क्रांति हो गई है। दुनिया के किसी भी कोने में घटने वाली घटना मिनटों में एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंच जाती है और साक्षात् भी देखी जा सकती है। जो आत्मज्ञानी नहीं है, वह अपराविद्या का प्रकांड विद्वान होते हुए भी उसका दुःख दूर नहीं होता।

बड़े-बड़े डॉक्टर, वैज्ञानिक, इंजीनियर और ऑफिसर दुःख और तनाव न झेल पाने के कारण आत्महत्या का रास्ता अपना लेते हैं। पढ़ा-लिखा बहुत है, किंतु अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं है। प्रवाह में बह जाता है। घटना से बहुत जल्दी प्रभावित हो जाता है। उस समय अपरा विद्या या लौकिक विद्या उसके काम नहीं आती। भूगोल और विज्ञान उसे शांत करने में असमर्थ सिद्ध होते

हैं। ऐसा आदमी दूसरों के साथ न रह सकता है, न दूसरों को अपने साथ रख सकता है। कुछ ऐसे कम पढ़े-लिखे लोग भी मिलेंगे, जो व्यवहार की दृष्टि से बहुत अच्छे होते हैं। बात-बात पर वे उत्तेजित और उद्वेलित नहीं होते। इसीलिए आज इंटेलिजेंट से ज्यादा उन्हें महत्त्व दिया जा रहा है, जो इमोशन पर नियंत्रण रखने वाले हैं। जिसका अपने संवेगों पर नियंत्रण है, वह किसी भी परिस्थिति में अच्छा काम कर सकता है। कितने ही लोगों के मुंह से सुनने को मिलता है कि हमने बेटे को इस आशा से ऊंची शिक्षा दिलाई कि आगे चलकर बड़ा बनेगा और हमारे बुढ़ापे का सहारा बनेगा, लेकिन विदेश में पढ़-लिखकर उसने वहीं अपनी शादी कर ली। अब हमारी खोज-खबर भी नहीं लेता। यह लौकिक विद्या का प्रभाव है। आत्मविद्या से अनजान रहकर आदमी विचारों और भावों की दृष्टि से बहुत स्वार्थी बन जाता है। उसका चिंतन अपने सुख और स्वार्थ तक सीमित हो जाता है।

अध्यात्मविद्या, आत्मविद्या या पराविद्या का प्रभाव कुछ ऐसा होता है कि आदमी का चिंतन परार्थ और परमार्थ का बनता है, स्वार्थ का नहीं। वह दुःख के प्रसंग में भी सुख को निकालने की कोशिश करता है। प्रतिकूल को भी अपने अनुकूल बना लेता है।

आचार्य तुलसी ने अपने अनुभव को लिपिबद्ध करते हुए कहा–'मुझे अपने जीवन में सम्मान भी बहुत मिला और अपमान भी बहुत मिला। अगर केवल सम्मान ही मिलता तो मुझमें अहंकार आ जाता। केवल अपमान मिलता तो मुझमें कुंठा आ जाती। अपमान और सम्मान दोनों मिले, इसलिए यह स्थिति मेरे लिए वरदान बनी और मेरी समता खंडित नहीं हुई।

अध्यात्मविद्या और आत्मविद्या का जिसे ज्ञान है, वह हर बात को सम्यक् रूप से ग्रहण करता है। उसके लिए कोई समस्या पैदा नहीं होती। लौकिक विद्या का उपयोग जीविका और सुविधा के लिए होता है, पैसा कमाने के लिए और पदार्थ उपलब्ध करने के लिए होता है, लेकिन पदार्थ की प्रकृति कुछ ऐसी है कि वे सुख कम कर देते हैं। पदार्थ का काम है आदमी के मन में भ्रांति पैदा कर देना। वह सारा अंकन और मूल्यांकन पदार्थ की दृष्टि से करता है।

पदार्थ का नियम

पदार्थ का नियम है–संयोग और वियोग की स्थिति उत्पन्न करना। चाहे व्यक्तियों का संबंध लें या पदार्थों को लें, संयोग और वियोग का क्रम चलता रहता है। कभी सुख आता है, कभी दुःख आता है। ये संयोग

और वियोग, सुख और दुःख आदमी में आर्त्तध्यान पैदा करते हैं। सुख की चाह इतनी तीव्र हो जाती है कि थोड़ा-सा दुःख भी उसे विचलित कर देता है। वह आर्त्तध्यान में चला जाता है। जिनभद्रगणि ने एक बहुमूल्य संकेत देते हुए कहा कि जो सदा आर्त्तध्यान में रहता है, पदार्थ की उधेड़बुन में लगा रहता है, संयोग वियोग की बात सोचता रहता है, मरने के बाद सका तिर्यंच योनि में जाना निश्चित है। जो रौद्रध्यान में है, वह नरकगति में जाता है।

बड़ा मार्मिक सूत्र है–अस्सिं लोए पव्वहिए। इस लोक में अज्ञानी व्यक्ति व्यथा का अनुभव कर रहे हैं। इस व्यथा को कैसे मिटाया जाए? अगर धन के अभाव में आदमी व्यथित और दुःखी होता तो उसका उपाय हो सकता था। एक व्याप्ति बन जाती कि जहां-जहां धन, वहां-वहां सुख और जहां-जहां धन नहीं, वहां-वहां दुःख। यह तर्कशास्त्र की एक व्याप्ति बन जाती। नियम बन जाता, लेकिन यह नियम नहीं बन सकता, क्योंकि बहुत बड़ा विरोधाभास देखने में आ रहा है। जिसके पास धन नहीं, वह दुःखी है, यह तो सच है, किंतु जिसके पास धन बहुत ज्यादा है, वह भी दुःखी है, बल्कि अभावग्रस्त आदमी से भी वह ज्यादा दुःखी है। क्या कहा जाए ऐसी स्थिति को?

आजकल हार्टअटैक की घटनाएं बहुत बढ़ गई है। इसका कारण यह है कि आर्त्तध्यान ज्यादा है। ज्यादा से ज्यादा कैसे कमाऊं? इस बात की अपेक्षा कमाए हुए की सुरक्षा कैसे करूं, इस बात का तनाव ज्यादा है। यह एक इमोशनल टेंशन है, जो ज्यादा प्रभावी होता है। यह तनाव हमारे शरीर के ऊर्जापथों में शार्टसर्किट कर देता है और दिल का दौरा पड़ जाता है।

उपाय क्या?

भावनात्मक दुःखों के शमन का उपाय क्या है? राष्ट्रों को तीन श्रेणियों में बांटा गया हैं–अविकसित, विकासशील और विकसित। जिनके पास अर्थ संपदा बहुत है, उपभोग सामग्री और उन्हें पैदा करने वाले साधन बहुत हैं, जो देने की स्थिति में हैं, वे विकसित राष्ट्र हैं–जैसे अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि। कुछ देश आर्थिक प्रगति की दौड़ में हैं, वे विकासशील राष्ट्र हैं। भारत भी अब इस श्रेणी में आ गया है, किंतु कुछ राष्ट्र जो बहुत गरीब हैं, कर्ज लेकर काम चलाना ही जिनकी नियति है और जिनके पास साधन नहीं हैं। वे अविकसित राष्ट्र हैं, जैसे कांगो, गुयाना आदि, लेकिन आश्चर्यजनक बात यह है कि सर्वेक्षण में ऐसा आया है कि अशांत और इमोशन की दृष्टि से

प्रभावित राष्ट्रों में अमेरिका, ब्रिटेन आदि देश पहले नंबर पर आते हैं। इतना ज्यादा डिप्रेशन निर्धन राष्ट्र की जनता में नहीं है, जितना डिप्रेशन इन विकसित राष्ट्र के लोगों में है।

आज से डेढ़-दो सौ वर्ष पहले लोग अवसाद का नाम भी नहीं जानते थे। आज उच्च रक्तचाप और अवसाद की बीमारी आम बीमारी बनती जा रही है। इससे पता चलता है कि आदमी का अपने भावों पर नियंत्रण कम होता जा रहा है। डिप्रेशन की बीमारी मनोरोग बन रही है। मनश्चिकित्सालयों की संख्या ऐसे रोगियों के हिसाब से कम पड़ रही है। आने वाले दिनों में यह एक बड़ी समस्या के रूप में सामने आएगी। लोग व्यथित इसलिए हैं कि उनका सारा ध्यान पदार्थ पर है। अपने आपको वे भूला रहे हैं। अपनी आत्मा से उनका कोई सरोकार नहीं है। पैसा उनके जीवन की सबसे अनिवार्य चीज बन गई।

जीवन के उत्तरार्द्ध में पूज्य गुरुदेव ने इच्छा व्यक्त की कि मैं महावीर के अर्थशास्त्र पर वक्तव्य दूं। दिल्ली प्रवास में मैंने महावीर के अर्थशास्त्र पर धारावाहिक प्रवचन किए। उनका संकलन हुआ और वह 'महावीर का अर्थशास्त्र' पुस्तक के रूप में सामने आया। यह पुस्तक जहां भी पहुंची, लोगों की प्रतिक्रिया आई कि इस पुस्तक में आज की समस्या का बहुत बड़ा समाधान है।

कम्युनिस्टों की प्रतिक्रिया भी सकारात्मक रही है और उन्होंने भी कहा कि इस पुस्तक में अच्छा समाधान है। समाधान इसलिए है कि वर्तमान में अर्थशास्त्र की जो अवधारणा चल रही है, वह एकांगी है। पश्चिम के प्रमुख अर्थशास्त्री कीन्स ने लिखा कि बहुत प्रयत्नों के बाद भी हम दुनिया की एक बड़ी आबादी के लिए रोटी का प्रबंध नहीं करा सके, यह हमारे अर्थशास्त्रीय चिंतन की बहुत बड़ी असफलता है।

दूसरी बात जो उसने लिखी, विचित्र बात कही जा सकती है। उसने लिखा–'जब हम अर्थशास्त्र पर चिंतन करते हैं तो वहां नैतिकता की बात के लिए अवकाश नहीं रह जाता। इस अवधारणा ने अनैतिकता और भ्रष्टाचार को बहुत बढ़ावा दिया। जहां धनार्जन का प्रश्न है, वहां नैतिकता को तिलांजलि दे दी जाए, इस चिंतन ने आदमी को एकमात्र अर्थ की ओर धकेल दिया।

अर्थार्जन में नैतिकता पर विचार करने की कोई जरूरत नहीं है। जिस साधन से अर्थ की प्राप्ति हो, वह साधन बिना संकोच के अपनाया जाए, इस चिंतन ने आदमी के सारे बंधन खोल दिए। शुद्ध साधन की बात उसके लिए

गौण हो गई। आज तो रिश्वत एक तरह से अनिवार्य हो गई। जो रिश्वत खा रहे हैं अपना काम कराने के लिए उनको भी रिश्वत देनी पड़ रही है। आज कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं बचा, जो साफ-सुथरा हो।

जहां भी पैसे को प्रमुखता प्राप्त है, पैसे के प्रति मूर्च्छा है, वहां घोटाला और भ्रष्टाचार अनिवार्य है। साधु-संत काफी हद तक बचे हुए थे। वे भी अब अर्थ पर निर्भर होते जा रहे हैं। मैंने पंजाब और हरियाणा की यात्रा में बार-बार इस बात को दोहराया कि साधु-संतों को पैसे के दलदल में मत घसीटो। साधु-संत स्वयं भी अर्थ के व्यामोह को छोड़ें। अगर यह मोह नहीं छूटा तो आचार-विचार और साधना की दृष्टि से उनका भी पतन निश्चित है। आचार्य भिक्षु का सिद्धांत इस संदर्भ में बहुत स्पष्ट है। उन्होंने साफ कहा कि स्थान और पैसा–इन दोनों के प्रति ममत्व बढ़ा तो साधु का पतन होना तय है। साधु का न तो कोई स्थान हो और न पास में पैसा हो। स्थान या आश्रम बनाएगा तो उसके लिए पैसे की जरूरत अनिवार्य रूप से होगी, इसलिए उन्होंने स्थान और पैसे की जैसे जड़ ही काट दी। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।

कभी-कभी तो स्थान और पैसे का मोह साधु को गृहस्थों से भी दो कदम आगे कर देता है। हर संत, महात्मा के अनुयायी होते हैं। अपनी श्रद्धा, आस्था और भक्ति को वे द्रव्य के रूप में अभिव्यक्ति देते हैं। चढ़ावा चढ़ना शुरू हो जाता है तो फिर यह प्रवाह रुकता नहीं। गुरुजी धर्म नहीं, धंधे में लग जाते हैं। ध्यान छूट जाता है और बही खाता साथ में रखना पड़ता है, पूरा हिसाब-किताब रखना पड़ता है। हम इस बात पर ध्यान दें कि आध्यात्मिक विद्या के बिना व्यथा कम नहीं हो सकती। 'महावीर का अर्थशास्त्र' इसलिए आज कमनीय हो रहा है। एक समाधान के रूप में देखा जा रहा है।

पहचान पैसे की

यह निश्चित मानें कि अध्यात्मविद्या का ज्ञान जितना अधिक बढ़ेगा, उतना ही दुःख कम होगा। आदमी का धन के प्रति इतना आकर्षण हो गया कि मानवीय संबंध ही नहीं, पारिवारिक संबंध भी अब प्रभावित हो रहे हैं, टूट रहे हैं। छोटे बच्चे भी पैसे की अच्छी पहचान करने लगे हैं, उसके प्रति आकर्षित हैं। एक छोटे बच्चे ने अपने पिता के पास जाकर कहा–'मुझे दो रुपये दो।' 'क्या करोगे?' पिता ने पूछा। 'लॉटरी की टिकट खरीदूंगा।' बच्चे ने जवाब दिया। 'लॉटरी निकल आई तो मुझे कितना दोगे?' पिता ने सहजभाव से पूछा। 'आपके दो रुपये वापस कर दूंगा।' बच्चे ने पूरी ईमानदारी दिखाई।

सब पैसे के मोह से बंधे हैं। अर्थ पर निगाह है। उसके आगे सारे संबंध गौण हैं। आज पारिवारिक हिंसा भी बहुत बढ़ रही है। दहेज के लिए बहू को प्रताड़ना, उसे जला देना, मार देना आए दिन की घटनाएं बन गई हैं। दहेज जुटाने में परेशान माता-पिता की युवा बेटियां स्वयं को कारण मान आत्महत्या का रास्ता चुन रही हैं। बेटी के लिए दहेज जुटाने की चिंता भ्रूणहत्या के रूप में सामने आ रही है। संपत्ति के बंटवारे को लेकर पिता-पुत्र, भाई-भाई आपस में कट-मर रहे हैं। अर्थ आदमी के जीवन पर इतना हावी हो गया कि आज अस्सी प्रतिशत से ज्यादा हिंसा के लिए जिम्मेदार अर्थ ही है।

केनीज को महान अर्थशास्त्री कहा जा सकता है, किंतु यह कहना उनकी बहुत बड़ी भूल है कि अर्थोपार्जन में नैतिक-अनैतिक पर विचार नहीं करना चाहिए। यह बहुत बड़ी भ्रांति है। उनके इस कथन ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आदमी के चिंतन को बहुत कुप्रभावित किया। अर्थ की उपयोगिता को इनकार नहीं किया जा सकता, किंतु उसे जीवन से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण मान लेना, उसके लिए मानवीय मूल्यों को ताक पर रख देना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

आज आसक्ति के चक्र में फंसा आदमी व्यथा का अनुभव कर रहा है। पैसे ने मानवीय संवेदनाओं को शून्य की स्थिति में पहुंचा दिया है। पैसा है तो बड़े से बड़े हॉस्पिटल में आपका इलाज हो जाएगा। पैसे नहीं हैं तो ऑपरेशन की टेबल से आपको वापस कर दिया जाएगा। दिल्ली प्रवास में मैंने डॉक्टर कुचेरिया से कहा–'डॉक्टरों में नैतिक व्यवहार और मानवीय संवेदना के संवर्द्धन के लिए शिविर होना चाहिए। उनकी नैतिक चेतना जागे और अपने पेशे के प्रति वे गंभीर और मानवीय दृष्टि अपनाएं। रोगी के साथ न्याय और औचित्य का व्यवहार करें। उन्होंने प्रयत्न करने की बात कही और दो सप्ताह बाद आए तो हाथ खड़े कर दिए। कहा–'आचार्यश्री! ऐसा हो पाना संभव नहीं है।'

अर्थ प्रधान बन जाता है तो सारी बातें उसके नेपथ्य में चली जाती हैं। पैमाना और मीटर पैसा ही बन जाता है। उसी से हर चीज का मापन और मूल्यांकन होता है। भारतीय चिंतन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–ये चार पुरुषार्थ बताए गए हैं। इन चारों में समन्वय की बात कही गई। कहा गया कि चारों को महत्त्व दिया जाए, किंतु प्रधानता किसी एक को न दी जाए, लेकिन देश-काल के अंतराल में यह सिद्धांत भुला दिया गया। अर्थ और काम को पकड़ लिया

गया। धर्म और मोक्ष की बात भुला दी गई। मैं समझता हूं भारतीय परिवेश में गंभीर त्रुटियां और असंतुलन तभी से पैदा हुआ, जब इस सूत्र की अवहेलना शुरू हो गई और आदमी अर्थ और काम को वरीयता देने लगा, ज्यादा महत्त्व देने लगा, धर्म और मोक्ष की बात को उपेक्षित करने लगा।

पदार्थ की प्रकृति यह है कि वह प्रारंभ में अच्छा लगता है, बाद में क्रमशः उसका स्वाद फीका होता जाता है। आपको प्यास लगी है। पानी की पहली घूंट आपको बहुत मीठी लगेगी, किंतु दूसरा गिलास आपको उतनी संतुष्टि नहीं देगा। ईख को चूसना शूरू करें तो प्रारंभ में वह ज्यादा रसीला लगेगा, किंतु बाद में जैसे-जैसे उसका रस आप चूसते जाएंगे, वह फीका होता जाएगा और एक समय ऐसा आएगा, जब उसमें रस बिल्कुल नहीं मिलेगा। इसलिए पदार्थ की प्रकृति पर हम विचार करें, उसकी उपयोगिता पर भी विचार करें, उसकी नश्वरता पर भी विचार करें कि वह स्थायी नहीं है। हमारी व्यथा और पीड़ा का बहुत बड़ा हेतु भी यही है, इसलिए पदार्थ को हम जीवन का एक उपयोगी साधन मात्र बनाएं, उस पर स्वयं को निर्भर न करें। कभी-कभी उसके बिना भी जीवन को चलाने की आदत डालें।

22. सुख का राज

दुनिया का अर्थ है सुख और दुःख का मायाजाल। हर आदमी सुख का आकांक्षी है, लेकिन मिल जाता है दुःख। सदा दिन ही नहीं रहता। दिन के बाद रात भी आती है। प्रश्न होगा कि आदमी सुख चाहता है तो दुःख उसे क्यों मिलता है? अनाहूताः समायान्ति भिक्षुका इव मक्षिकाः। कुछ लोग बिना बुलाए आ जाते हैं। भिखारी बिना बुलाए आते हैं और मक्खियां भी बिना बुलाए आती हैं। हमने तो देखा है कि मच्छर भी बिना बुलाए आ जाते हैं। अगर दुःख भी बिना बुलाए आता है, तो इसमें आश्चर्य कैसा? यह बड़ी अजीब-सी बात है कि जिसे हम चाहते हैं, वह नहीं मिलता और जिसे नहीं चाहते, वह कदम-कदम पर मौजूद मिलता है। बिना बुलाए कोई क्यों आता है? यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर सबको खोजना है।

आगम के आलोक में इसका उत्तर खोजा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसका अच्छा समाधान मिलता है। वहां कहा गया है कि इन्द्रियों के विषय और मन के विषय दुःख के हेतु बनते हैं। एक बाहर का कारण है तथा दूसरा भीतर का कारण है। इन्द्रियों के विषय हैं–शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श। यह जगत और है क्या? शब्दात्मक, रूपात्मक, रसात्मक, गंधात्मक और स्पर्शात्मक है। सारा पदार्थ जगत विषयात्मक है। ये विषय ही दुःख के हेतु बनते हैं। इसी तरह मन का विषय भी दुःख का हेतु बनता है। मन का विषय है–भाव। यह भाव ही दुःख का हेतु बनता है। जब भी नकारात्मक भाव आता है, कषाय की प्रबलता होती है, व्यक्ति दुःखी बन जाता है।

ऐसा क्यों?

एक प्रश्न और उठता है कि जब ये दुःख के हेतु हैं तो ऐसा सबके साथ होना चाहिए। नियम तो सब पर समान रूप से लागू होना चाहिए, लेकिन देखा यह जाता है कि सब दुःखी या सुखी नहीं बनते। कुछ लोग सुखी बनते हैं, कुछ लोग दुःखी बनते हैं, ऐसा क्यों? यह भेदभाव क्यों? यह एक प्रश्न है और

बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह कोई काल्पनिक प्रश्न नहीं है, तर्क से उत्पन्न प्रश्न है। बाह्य जगत में कोई घटना घटती है और उससे एक आदमी दुःखी बन जाता है, दूसरे पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा क्यों?

प्रामाणिकप्रवर सेठ सुमेरमलजी दूगड़ के पुत्र भंवरलाल दूगड़ का आकस्मिक देहावसान हो गया। भंवरलाल दूगड़ सबके काम आने वाला आदमी था और पूरे क्षेत्र में उसका प्रभाव था। लोग आंसू बहा रहे थे, बिलख रहे थे और सेठ सुमेरमलजी दूगड़ उन्हें धैर्य बंधा रहे थे। बिल्कुल उल्टा हो रहा था। जिसने अपना पुत्र खोया, उसने अपना धैर्य नहीं खोया और दूसरे लोग आर्त्तध्यान कर रहे थे। कह रहे थे कि बहुत बुरा हुआ ऐसे सर्वप्रिय व्यक्ति का जाना और सेठ सुमेरमलजी दूगड़ कह रहे थे कि बुरा कैसा भाई! यह तो प्रकृति का नियम है कि सबको एक दिन यहां से जाना पड़ता है। कोई थोड़ा पहले, कोई बाद में।' सुमेरमलजी की आंखों में आंसू नहीं थे। उन्होंने सबको सांत्वना देते हुए कहा–'मैं शोक क्या मनाऊं? यह तो मेरा सौभाग्य था कि उसके जैसा पुत्र मुझे प्राप्त हुआ। इतने ही दिन के लिए वह मेरे घर आया था। अपना काम किया और चला गया।'

इस तरह एक बात स्पष्ट हो गई कि सुख-दुःख निर्भर करता है चिंतन पर। चिंतन अगर प्रशस्त है तो सुख-दुःख के वेदन में अंतर होगा। अभी मैंने सेठ सुमेरमलजी दूगड़ के बारे में बताया। वे भी तो हाड़-मांस के बने आदमी थे, फिर दुःख का प्रसंग उन्हें आर्त्तध्यान में क्यों नहीं ले जा सका?

सुख-दुःख का दूसरा कारण है–राग। राग भी दुःख का हेतु बनता है। वीतराग को इन्द्रियों के विषय और मन के भाव कभी दुःखी नहीं बनाते। इस तरह एक सिद्धांत बनता है कि दुःख का मूल कारण है राग और दुःखी न होने का कारण है वीतरागता। धर्म का पूरा सार इस एक वाक्य में समाया हुआ है। अगर हम सुखी होना चाहते हैं तो वीतरागता की दिशा में प्रस्थान करें। जितना-जितना राग, उतना-उतना दुःख और जितनी वीतरागता, उतना समभाव।

हमारी मुख्य समस्या यह है कि राग कम नहीं हो रहा है। आदमी पदार्थ से चारों ओर इतना घिर गया है कि चेतन भी अचेतन जैसा बन गया। पूज्यपाद ने बहुत सुंदर लिखा–

पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं यान्त्यात्मा पुनरात्मना।
परतृप्तिः समारोपः ज्ञानिनस्तन्न विद्यते॥

पुद्गल से पुद्गल तृप्त होता है। इस सचाई को हम समझ लें कि उससे मैं तृप्त नहीं हो रहा हूं, मेरा शरीर तृप्त हो रहा है। मेरी चेतना तृप्त नहीं हो रही है, स्थूल मन तृप्त हो रहा है, अचेतन तृप्त हो रहा है। आदमी सचेतन प्राणी है, किंतु आत्मा की दृष्टि से वह पूर्ण सचेतन अवस्था में कहां है? देखा तो यही जा रहा है कि आदमी अपनी चेतना को बहुत कम व्यवहृत कर रहा है।

आदमी की खोज

यूनान का संत डायोजनीज संत तो था ही, एक महान दार्शनिक भी था। एक दिन लोगों ने देखा कि भरी दोपहरी में डायोजनीज हाथ में लालटेन लिए घूम रहा है। लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। सबको ऐसा लगा जैसे डायोजनीज पागल हो गया क्या? लोग उसे बहुत सुलझा हुआ संत मानते थे, लेकिन उसकी हरकतें पागलों जैसी थी। दिन में कोई लैंप जलाकर उसे हाथ में लेकर चले तो आप भी उसे पागल कहेंगे। वैसे दिन में बत्ती का जलना तो शहरों में हम भी देखते हैं।

डायोजनीज को दिन में जलती हुई लालटेन लेकर चलते देख लोगों को आश्चर्य हुआ। लोगों ने कारण पूछा तो डायोजनीज ने कहा–'लालटेन के प्रकाश में मैं आदमी खोज रहा हूं।' आदमी यानी चेतनायुक्त आदमी। लोगों ने कहा सामने जो इतने आदमी दिखाई दे रहे हैं, वे कौन हैं? डायोजनीज ने कहा– 'आदमी नहीं ये तो उनकी छाया हैं। मैं चेतन या जीवंत आदमी की खोज में हूं।'

यह बिल्कुल सत्य बात है। जो चेतन होते हुए भी अचेतन में उलझा हुआ है, उसे जीवंत या चेतनयुक्त कैसे कहा जा सकता है? चेतन वह जो सारे जड़ पदार्थों से ऊपर है, जिसके सिर पर जड़ पदार्थ का कोई भार नहीं होता, कोई मोह नहीं होता।

हमें भी चेतना की खोज करनी चाहिए, लेकिन यह बहुत कठिन काम है, क्योंकि ज्यादातर आदमी जड़ पदार्थ की संगत में रहता है। संगत का असर पड़ता ही है। साथ में रहने के कारण उसमें भी एक प्रकार की जड़ता आ जाती है। चेतन होकर भी वह अचेतन से भिन्न नहीं रह जाता।

आज कहा जाता है कि हिंसा बहुत बढ़ रही है, आतंक बढ़ रहा है। क्यों बढ़ रहा है? चेतन तो ऐसा करता नहीं, फिर कौन कर रहा है? इस बात को आप जान लें कि चेतन न तो कभी हिंसा करता है, न कोई अपराध करता है। वह कोई भी अवांछित काम नहीं करता। अगर आज हिंसा और अराजकता का माहौल है तो यह निश्चित बात है कि चेतना के द्वारा यह सब नहीं हो रहा है। सारा कृत्य जड़ता

में जीने वाले अचेतन लोगों के द्वारा हो रहा है। आज सारा ज्ञान, सारा आचरण जड़ से प्रभावित है। सुख-दुःख की कल्पना भी अचेतन या जड़ से जुड़ी हुई है। कह सकते हैं कि जड़ या अचेतन का एकछत्र साम्राज्य है। ऐसे माहौल में किसी चेतनायुक्त व्यक्ति को ढूंढ़ पाना कोई सरल काम नहीं है।

आज भी धार्मिक लोगों की संख्या ज्यादा है। यद्यपि दुनिया में अधार्मिक और नास्तिक भी कम नहीं हैं, लेकिन विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि आज भी दुनिया में धार्मिक लोगों की संख्या ज्यादा है। पृथ्वी की आबादी अगर छह-सात अरब मान ली जाए तो पंद्रह-बीस करोड़ को छोड़ सब अपने को धार्मिक ही कहेंगे। ये सारे धार्मिक लोग किसी न किसी चेतन को अपना आदर्श मान कर चल रहे हैं, लेकिन यही सबसे बड़ा आश्चर्य है। मान कर चल रहे है चेतन को और आचरण है अचेतन का। वैदिक और वैष्णव राम और कृष्ण को मानते हैं। जैन महावीर को, मुसलमान मुहम्मद साहब को और ईसाई जीसस क्राइस्ट को मानते हैं, लेकिन इन सभी के कार्यकलाप इन महापुरुषों की शिक्षा के अनुरूप हैं क्या? ये समस्त महापुरुष अवतार और आदर्श के रूप में भले ही मान्य हों, किंतु अनुयायियों का आचरण उनकी जड़ता को ही प्रतिबिंबित कर रहा है।

किसी को देवता और भगवान मानकर पूजना एक अलग बात है, उसकी शिक्षाओं को जीवन में उतार कर उनका अनुसरण करना बिल्कुल दूसरी बात है। आज ऐसा ही दृश्य देखने को मिल रहा है। कारण है रागात्मकता। जब तक राग की चेतना प्रबल रहेगी, तब तक हमारी वास्तविक चेतना या वीतराग चेतना दबी रहेगी। राग की चेतना जो मुखर है, उसका काम ही है संग्रह करना, उसके प्रति मोह पैदा करना और उसमें उलझाए रखना।

संतोष कहां?

पदार्थ के संग्रह के लिए आज आदमी क्या-क्या नहीं कर रहा है? इस दुनिया में आदमी के द्वारा जो भी अपराध किए जाते हैं, वे सब संग्रह के लालच में किए जा रहे हैं। चोरी, डकैती, घूसखोरी तथा आज के सभी तरह के भ्रष्टाचार–सब संग्रह के लिए किए जा रहे हैं। जिसके पास जो है, उससे संतोष नहीं है। आदमी का जीवन भले ही अस्सी-नब्बे या ज्यादा से ज्यादा सौ साल का हो, चाहता वह यही है कि इतना इकट्ठा कर लूं कि आने वाली पीढ़ियों का भी काम चले। आदमी को अंत तक इस बात का दुःख रहता है कि जीवन में बहुत कम अर्जित कर पाया। जिंदगी कुछ दिन और रह जाती तो दो-तीन बड़ी कोठियां और खड़ी कर लेता। आदमी का काम तो तीन-चार कमरे वाले

छोटे घर से भी चल सकता है, लेकिन इतने से संतोष कहां? मैंने तो सुना है कि ब्रुनेई के सुलतान ने समुद्र में तैरने वाला एक बड़ा राजमहल बनवाया है, जिसमें डेढ़ सौ से ज्यादा कमरे हैं। यह भी सुना है कि अंतरिक्ष कार्यक्रम की सारी योजना वहां पर बस्तियां बसाने के उद्देश्य से है। धरती अब आदमी के लिए अपर्याप्त लग रही है। कुल मिलाकर एक ही बात है कि आदमी के पास जितना है, उससे संतोष नहीं है। उसे उससे ज्यादा चाहिए। यह राग है और यही राग दुःख का हेतु है।

एक बात ध्यान देने की है कि इस दुनिया में आज तक जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे अपने जीवन में कभी दुःखी नहीं बने। ऐसा नहीं कि उनके सामने कठिनाइयां नहीं आईं। कठिनाइयां उनके सामने इतनी आईं कि अगर वीतरागता की साधना न होती तो उन कठिनाइयों के आगे वे घुटने टेक देते। राम और कृष्ण का जीवन लें, बुद्ध और महावीर का जीवन लें, ईसा और मुहम्मद को देखें, किसका रास्ता निष्कंटक रहा? महावीर को अपने जीवन में इतने कष्ट झेलने पड़े कि एक आदमी के द्वारा उन्हें सहने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कहीं उल्लेख मिलता है क्या कि महावीर रो पड़े या महावीर ने प्रतिकार किया अथवा कष्टों से विचलित होकर महावीर साधना पथ को छोड़ने के लिए पुनर्विचार करने लगे? ऐसा कुछ भी नहीं है।

महावीर तो महावीर थे। वह ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। अभी ढाई सौ वर्ष पहले राजस्थान के मारवाड़ संभाग में मुनि भीखण और बाद में आचार्य भिक्षु नाम से विख्यात एक संत हुए। उनके साधना काल से लेकर अंत समय तक उनके सामने आई कठिनाइयों को लिपिबद्ध किया जाए तो एक विशाल ग्रंथ बन सकता है। आज यदि एक सामान्य आदमी को टॉर्चर किया जाए तो चाहे वह कितना ही गरीब और असहाय क्यों न हो, किसी न किसी रूप में वह प्रतिकार करेगा ही, लेकिन साधना पथ के एक पथिक के लिए तो वह विकल्प ही बंद होता है। न तो वह स्वयं के द्वारा, न ही दूसरों के द्वारा कष्ट देने वाले को दंडित करता हैं। मुनि तो निर्जरार्थी होता है। कष्टों को वह कर्म-निर्जरा का हेतु मान कर उन्हें सहन करता है।

आचार्य भिक्षु के विरोधियों ने और विरोधियों के द्वारा उकसाए जाने पर अराजक तत्त्वों ने उन्हें सब तरह से कष्ट दिए, कदम-कदम पर कठिनाइयां खड़ी कीं। कई-कई दिन तक उन्हें आहार-पानी उपलब्ध न हो पाता। कभी मिलता तो बरगलाए और भरमाए गए लोगों के द्वारा छीन लिया जाता, लेकिन

जिसकी चेतना जागृत हो, वह जड़ता में कैसे जा सकता है? सचाई देर से समझ में आती है। लोगों ने आचार्य भिक्षु को भी देर से समझा। उनसे तो चातुर्मास के लिए दी गई छोटी-सी दुकान भी खाली करवा ली गई थी। उन्हीं के पथ के पथिक हम हैं। आज हमारे चातुर्मास के लिए या दीर्घ प्रवास के लिए इतने उम्मीदवार हैं कि अगर सबकी प्रार्थना स्वीकार कर ली जाए तो दस-बारह वर्ष के बाद ही दूसरों का नंबर आएगा।

जहां राग की प्रबलता है, वहां हिंसा और अपराध होंगे। जब हमारी चेतना वीतरागता की दिशा में चली जाती है तो लगता है कि दुःख जैसा दुनिया में कुछ है ही नहीं। यह बड़ी अजीब बात है कि कुछ लोगों को दुःख खोजना पड़ता है और अधिकांश लोगों को सुख की तलाश रहती है। उन्हें अपने भीतर-बाहर, दाएं-बाएं, दुःख ही दुःख नजर आता है। सारे दुःख के हेतु किसके लिए हैं? निश्चित रूप से रागी लोगों के लिए हैं, जिनके राग प्रबल हैं, उन लोगों के लिए हैं।

प्रभावित कौन?

पदार्थ कोई बुरी चीज नहीं है। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श–ये पदार्थ हैं। ये न अच्छे हैं, न बुरे हैं। ये अपने स्वरूप में हैं, लेकिन अच्छा या बुरा हम अपने लिए इन्हें बना लेते हैं। अगर ये सब दुःख के हेतु होते तो मुक्तात्मा को भी प्रभावित करने में समर्थ होते, उन्हें भी दुःखी बनाते, लेकिन जैसा कि अभी मैंने कहा, पदार्थ से प्रभावित होता है चेतन। चेतनायुक्त व्यक्ति पर पदार्थ अपना प्रभाव बड़ी जल्दी डालते हैं। वीतराग तो वैसे ही पदार्थ से अलिप्त रहता है, जैसे कमल का फूल पानी से।

इन्द्रियों के विषय से भी ज्यादा मन के भाव व्यक्ति को सुखी या दुःखी बनाते हैं। मन का विषय है भाव। भाव बहुत सूक्ष्म है। चर्मचक्षुओं से भाव को देखा नहीं जा सकता। वह प्रकट होता है मन के माध्यम से, इसलिए साहित्य में एक शब्द चलता है मनोभाव। भाव को जान नहीं सकते, किंतु व्यक्ति की चेष्टाएं उसके मन के भाव को प्रतिबिंबित कर देती हैं कि वर्तमान में इस व्यक्ति के मन में अमुक प्रकार की भावधारा चल रही है। ये मन के विषय हैं या मन उन्हें अपना विषय बना लेता है।

जैसे क्रोध का भाव है, इसका पता नहीं चलता, किंतु जब वह मन और फिर शरीर पर उतरता है तो आदमी की भावभंगिमा बदल जाती है। क्रोध का भाव चेहरे पर साफ-साफ आ जाता है। अहंकार का भी पता नहीं चलता, किंतु

जब वह मन और उसके बाद वाणी पर आता है तो साफ पता चल जाता है कि व्यक्ति में कितना अहंकार है।

मन का ग्राह्य है भाव। मन भावों को ग्रहण करता है। शरीर मन के विचारों को ग्रहण करता है। हमारे स्थूल और सूक्ष्म जगत का सेतु है मन। सूक्ष्म जगत में जो घटना घटित हो रही है, उसे शरीर तक पहुंचाना मन का काम है। इस प्रकार मन एक पुल का काम करता है। वह भाव जगत को इस पार से स्थूल जगत के उस पार पहुंचा देता है, इसलिए मन का भी अपना एक विषय बन गया। इसी आधार पर साहित्य का भी एक विस्तृत अध्याय बना–स्थायीभाव, संचारीभाव, सात्विकभाव आदि।

शास्त्रीय संगीत में गायन, वादन की तरह नृत्य भी एक विद्या है। इसमें कत्थक और भरतनाट्यम जैसी अनेक शैलियां हैं। शास्त्रीय नृत्य में पद संचालन की ही तरह भावों का भी बड़ा महत्त्व है। नर्तक या नर्तकी नौ रसों की तरह नौ प्रकार के भाव अपने चेहरे पर लाकर अपनी नृत्य कला में चार चांद लगा देते हैं।

अंतर भाव जगत का

दक्षिण भारतीय विद्वान कृष्णमूर्ति आचार्य तुलसी के बहुत निकट थे। उन्होंने हमारी कुछ पुस्तकों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद भी किया। वे अपनी पुत्री यामिनी कृष्णमूर्ति को, जो उस समय अवस्था में बहुत छोटी थी, कभी-कभी अपने साथ लेकर आते। यामिनी आगे चलकर कुशल नृत्यांगना बनी। एक दिन कृष्णमूर्तिजी उसे लेकर आचार्यश्री के पास आए। गुरुदेव उस समय भीलवाड़ा में प्रवास कर रहे थे। नन्हीं यामिनी को लक्षित कर कृष्णमूर्तिजी ने कहा–'आचार्यश्री! यह आपको नौ रसों का भाव अपने चेहरे पर दिखाएगी।'

हमारे सामने उस कन्या ने एक श्लोक के माध्यम से नृत्य की मुद्रा में क्रमशः एक-एक कर नौ रसों का भाव जीवंत कर दिखाया। नौ रसों को उस दिन हमने पहली बार किसी के चेहरे पर देखा। वह बोल नहीं रही थी, किंतु मौन भाव से हास्य, शृंगार, करुण, वीभत्स, वीर, रौद्र, भयानक, शांत आदि रसों का क्रमशः ऐसा प्रदर्शन किया कि देखने वाले चकित रह गए।

भाव मन पर उतरता है। मन उसको शरीर पर और शरीर की मुद्राएं अप्रत्यक्ष रूप से उसे व्यक्त कर देती हैं। इस तरह शरीर, मन, वाणी और भाव–इनकी एक शृंखला है। हम शरीर के बारे में भी पूरा नहीं जानते, किंतु सबसे ज्यादा जानते हैं, वचन के बारे में मन के बारे में बहुत थोड़ा जानते हैं, किंतु भाव के बारे में तो बहुत ही कम जानते हैं।

एक धार्मिक व्यक्ति जो सुख की खोज कर रहा है और दुःख से मुक्ति पाना चाहता है, उसे भाव के बारे में ज्यादा जानना चाहिए। राग और द्वेष–ये हमारी भावात्मक अवस्थाएं हैं, इसलिए भाव जगत तक पहुंचे बिना सुख और दुःख के मूल कारणों को खोजा नहीं जा सकता। एक सुखी बन सकता है तो दूसरा सुखी क्यों नहीं बन सकता? अगर बीच के अंतर को पाट दिया जाए तो जरूर बन सकता है। यह अंतर है भाव जगत का।

संत नामदेव महाराष्ट्र के थे। स्वभाव से वे जितने सहिष्णु और विनम्र थे, पत्नी उतनी ही लड़ाकू और झगड़ालू। एक बार नामदेव किसी भक्त द्वारा भेंट की गई ईख लेकर आए और पत्नी को दिया। पत्नी ने गुस्से से उसी इक्षु दंड से नामदेव की पीठ पर प्रहार किया। प्रहार इतना जोर से किया कि इक्षु दंड के दो टुकड़े हो गए। वह इस बात पर क्रोधित हो गई थी कि लाना था तो कोई भोज्य सामग्री लेकर आते, जिससे चूल्हा जलता। लाए हो गन्ने को इसका क्या करूं?

नामदेव ने मुस्करा कर पत्नी को धन्यवाद दिया यह कह कर कि गन्ने को तोड़ने के लिए मुझे प्रयत्न करना पड़ता। गन्ने के दो टुकड़े कर तुमने मेरी मुश्किल आसान कर दी। नामदेव अगर अचेतन में जीने वाले होते तो उन्हें दुःखी बन जाना था अथवा पत्नी की धृष्टता का समुचित दंड देना चाहिए था, लेकिन इससे घर में महाभारत खड़ा होता और उससे दुःख के सिवाय और कुछ न मिलता।

भावों के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति से, वीतरागता की साधना में लगे व्यक्ति से और चेतनाशील व्यक्ति से ऐसी ही आशा की जा सकती है। जिन लोगों ने भाव जगत की यात्रा की है, भावों को समझने का प्रयत्न किया है, भावों को सकारात्मक बनाए रखा है, वे कभी नकारात्मक भावों में जा ही नहीं सकते।

समस्या है राग और द्वेष की

आगम कहता है कि जिस व्यक्ति में राग प्रबल है, द्वेष प्रबल है, उसका भाव नकारात्मक और जिसका भाव उपशांत है, उसका भाव सकारात्मक होगा। इस तरह मूल समस्या सकारात्मक या नकारात्मक भावों की नहीं है। वे तो आते-जाते रहते हैं। मूल समस्या है राग और द्वेष। वे जब उदय में आते हैं तो व्यक्ति का भाव नकारात्मक और उपशांत होते हैं तो सकारात्मक बन जाता है।

हमारी कोशिश यह है कि उन्हें विपाकोदय में न आने दें। वीतरागता की साधना लंबी और क्लिष्ट है। इसके लिए साधक को बहुत कड़ी आंच से होकर

गुजरना पड़ता है। कोई इस साधना में जाना चाहता है तो वह ताप सहन करने की क्षमता अर्जित करे, फिर इस साधना में संलग्न हो।

सुखी या दुःखी होना तो अपने हाथ की बात है। इसके लिए हम किसी दूसरे से क्यों याचना करें? लोग तीर्थस्थानों में अपने उपास्य के दर्शन करने जाते हैं। वहां देव या देवी के सामने याचना करते हैं कि मेरा दुःख दूर करो या मेरा कल्याण करो, मुझे इच्छित फल की प्राप्ति कराओ। ऐसा वे ही करते हैं, जिन्हें अपनी क्षमता पर भरोसा नहीं है।

कर्म के बारे में तो मनमानी और फल के लिए चाहते हैं कि सब मीठा ही मीठा मिले। यह बड़ी हास्यास्पद बात है। अगर कदम-कदम पर भगवान को ही पुकारते रहेंगे तो एक दिन पूरी तरह से अकर्मण्य बन जाएंगे।

एक आदमी की गाड़ी कच्चे रास्ते में फंस गई। वह गाड़ी से उतरा और एक ओर बैठकर हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा–'भगवन्! अब तो सिर्फ तुम्हीं सहारा हो। किसी तरह निकालो।'

निकट से एक आदमी ने उसे ऐसा करते देखा तो रुका। फंसे हुए पहिए की आसपास की मिट्टी को निकाला, गाड़ी के चक्कों को क्लियर किया और कहा–'तुम गाड़ी स्टार्ट कर गियर में लो, मैं पीछे से धक्का देता हूं।'

ड्राइवर ने ऐसा ही किया और गाड़ी पल भर में बाहर हो गई। उस व्यक्ति ने ड्राइवर को कड़ी फटकार लगाई और नसीहत देते हुए कहा–जो काम तुम स्वयं कर सकते हो, उसके लिए भगवान को कभी मत पुकारना। भगवान इतना फालतू नहीं है कि तुम जैसे क्लीव और अकर्मण्यों की नादानी से फंसी गाड़ियों को निकालता रहे।'

आदमी इतना आरामतलब और अकर्मण्य हो गया कि अपनी सुविधा के लिए समय-असमय भगवान की टेर लगाता रहता है। कोई आपसे बार-बार मदद ले और छोटे-मोटे काम के लिए भी आपकी प्रतीक्षा करे तो आप ऊब जाएंगे और एक दिन उसे फटकार कर कह देंगे कि भाई, हर काम के लिए क्या हम ही हैं? कुछ अपना पुरुषार्थ भी काम में लिया करो। हम कहां-कहां तुम्हारी सहायता करते रहेंगे?

ऋग्वेद में कहा गया है कि देव भी उन्हीं को अपना सखा बनाते हैं, जो पुरुषार्थी होता है। निकम्मे और आलसी की मदद कोई देवी या देव नहीं करता।

23. सुख का बाधक : असंयम

एक प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार दुःखमय है सुखमय? आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर खोजते हैं तो उत्तर आता है कि एक अज्ञानी के लिए तो यह संसार दुःखमय है और ज्ञानी के लिए सुखमय है। ज्ञान का बहुत महत्त्व है। भगवान महावीर ने इसीलिए कहा पहले ज्ञान, फिर आचार। आचार का महत्त्व भी कम नहीं है, किंतु पहला स्थान ज्ञान का है। ज्ञान है, तभी आचार को हम समझ पाते हैं।

अज्ञानी के लिए यह संसार दुःख से भरा हुआ है। इसका कारण यह है कि अज्ञानी हर बात में से दुःख निकाल लेता है। सुख के प्रसंग में से भी वह दुःख सृजित कर लेता है। बात-बात में वह कष्ट का अनुभव करता है। ज्ञानी आदमी वह होता है, जो प्रतिकूल परिस्थिति में भी सुख और अनुकूलता खोज लेता है। आपने उस व्यक्ति के बारे में पढ़ा होगा, जिसके द्वारा खरीदे गए दो लॉटरी के टिकटों पर एक टिकट पर पांच लाख का ईनाम उठा। लोग उसे बधाई देने गए तो उसे शोक में डूबा हुआ पाया। पूछने पर उसने कहा–'अफसोस इस बात का है कि मैंने दो टिकट खरीदे थे। मेरा एक रुपए का टिकट बेकार चला गया।' ऐसे लोगों को कोई सुखी नहीं बना सकता। अगर दोनों टिकटों पर इनाम उठता तो वह इस बात पर शोक करता कि मैंने दो ही टिकट क्यों खरीदे, तीन क्यों नहीं खरीदे। इसके विपरीत ज्ञानी आदमी दुःख की स्थिति में भी दुःखी नहीं बनता। वह अंधा है तो इस बात पर संतोष करेगा कि मेरे दो हाथ और दो पैर तो सही सलामत हैं अन्यथा इस दुनिया में तो ऐसे लोग भी हैं जो दृष्टिहीन होने के साथ-साथ अपाहिज भी हैं।

हाय-तौबा क्यों?

यह विचित्र बात है कि आदमी भाव से सुखी नहीं बनता, अभाव को लेकर दुःखी बना रहता है। लखपति होने का सुख नहीं, करोड़पति न होने का दुःख है। करोड़पति हो जाएगा तो अरबपति न होने का दुःख खड़ा हो जाएगा।

बड़ी स्पष्ट बात है कि दु:ख का संबंध भाव और संवेग के साथ है। एक नंबर बनने की बात दिमाग में बैठ गई तो आदमी अपना सुख-चैन उसके पीछे गंवा देगा। यह हमारा अज्ञान है। हम सचाई को नहीं जानते। उसे जानने की कभी कोशिश नहीं करते। कोई बताए भी तो उसे झुठलाने का प्रयास करते हैं। सचाई यह है कि सुखी वह है, जो अकिंचनता का अनुभव करता है। मेरा कुछ भी नहीं है। मैं इस दुनिया में आया तो अपने साथ कुछ भी नहीं लाया, इसलिए अपने साथ कुछ लेकर जाने का सवाल ही नहीं उठता, फिर दिन-रात की हाय-तौबा क्यों?

अपना जिसे कह सकते हैं, वह केवल अपनी आत्मा है, अपनी चेतना है, बाकी अपना कुछ भी नहीं है–यह है अकिंचनता का भाव, जो सुख देता है। हर चीज को अपना मानकर चलेंगे तो उसके चले जाने पर, छूट जाने पर मन में शोक, संताप का होना निश्चित है। आत्मा के सिवाय मेरा अपना कुछ भी नहीं है, जिसमें यह चेतना जाग जाती है, वह है अकिंचन और ऐसे अकिंचन को कोई दु:खी नहीं बना सकता। सारा दु:ख मेरेपन में है। आपने किसी चीज को अपना माना कि समझें दु:ख से नाता जोड़ लिया और चीज कीमती है तो फिर आपका सारा ध्यान उसकी सुरक्षा पर चला जाएगा।

ठगिनी है माया

गुरु-चेला दो ही थे। बाबा को किसी भक्त ने सोने की एक अशर्फी दे दी। जब तक पास में कुछ नहीं था, बाबाजी भजन-भाव करते थे। सोने की गिन्नी मिली तो बाबा का सारा ध्यान उसमें लग गया। भजन-पूजन में बाधा आने लगी। सारा काम चेले से कराने लगे और स्वयं झोली की सुरक्षा में लग गए।

चेले से बाबा की बेचैनी छिपी न रह सकी, किंतु कारण उसे मालूम नहीं था। उसे पता नहीं था कि बाबा के पास सोने का कीमती सिक्का है, लेकिन बात कब तक छिपती। चेले ने बाबा की बेचैनी के कारण का पता लगाना शुरू किया तो पता लगा कि बाबा बार-बार झोले को संभालते हैं, इसलिए बाबा की परेशानी और चिंता इसी झोली में होनी चाहिए।

बाबा एक दिन जैसे ही देह चिंता से मुक्त होने के लिए बाहर गए, चेले ने बाबा की झोली उलट दी। चमकदार सोने की गिन्नी सामने थी। कारण का पता चल गया।

बाबा तो साधना के क्षेत्र में जहां के तहां रह गए थे, लेकिन चेले की आत्मा में ज्ञान का अवतरण हो चुका था। स्वर्ण और मिट्टी की वास्तविक रूप में पहचान उसे हो चुकी थी। आज के जमाने का चेला होता तो लालच

में आकर या तो बाबाजी की वह स्वर्णमुद्रा लेकर भाग छूटता या मौका पाकर बाबा को ही ठिकाने लगा देता, लेकिन साधना उसके जीवन में उतर चुकी थी। उसने वह स्वर्णमुद्रा पास में बहती नदी में फेंक दी।

बाबा ने आते ही झोली को संभाला, किंतु वह चीज नहीं मिली, जो हर समय बाबा को व्यग्र किए रहती थी। उनकी चिंता और दुःख उनके चेहरे पर उभर आया। संकोच के कारण चेले से पूछ भी नहीं सकते थे। आखिर चेले से गुरु की परेशानी देखी नहीं गई। वह बोला–'बाबा! अब आप निश्चिंत हो जाएं, आपकी चिंता मैंने झोली से निकाल कर नदी में फेंक दी है।'

बाबा क्षण भर के लिए सकते में आ गए, किंतु जल्दी ही संभल गए। बोले–'अच्छा किया, मुझे चिंतामुक्त कर दिया। मेरे सिर पर से जैसे सारा भार उतर गया। वह सोने का टुकड़ा पाकर जैसे मैं ज्ञानशून्य हो गया था। तुमने मुझे पथभ्रष्ट होने से बचा लिया। बड़ी ठगिनी है यह माया। अकिंचनता का भाव रहे तो आदमी को चिंता नाम की चीज सता ही नहीं सकती, लेकिन ऐसा होता कहां है? किसी-किसी को जीवन में समय रहते यह बोध हो जाता है, लेकिन अधिकांश को जीवन भर नहीं हो पाता और उनका जीवन आपाधापी में बीत जाता है।

धन, परिवार आदि का मिलना अच्छी बात है, भाग्य की बात है, लेकिन अंतिम सचाई यही है कि कोई किसी का नहीं है। सारे संबंध और सारी धन-संपदा यहीं तक सीमित है, यहीं छूट जानी है। साथ देगी एक अपनी आत्मा। चिंता और सार-संभाल करें तो उसकी करें। परिवार और समाज में रहना है, इसलिए संबंधों को दरकिनार नहीं कर सकते। उन्हें निभाओ, किंतु क्षण भर के लिए भी इस बात को विस्मृत मत करो कि सब का साथ यहीं तक सीमित है, जाना अकेला पड़ेगा।

अपना किया हुआ कर्म खुद को ही भुगतना पड़ेगा। जिस परिवार के लिए दूसरों का गला काटने में भी संकोच नहीं कर रहे हो, वह तुम्हारा साथ नहीं देगा। अंगुलिमाल तो डाकू था, लेकिन यह सचाई समय रहते उसकी समझ में आ गई थीं और एक झटके में उसने अपने जीवन का रूपांतरण कर लिया था, लेकिन यहां तो वे लोग, जो दूसरों को उपदेश देते हैं, स्वयं को ज्ञानी मानते हैं, वे भी इस सचाई को नहीं समझ पाते या समझना नहीं चाहते।

उत्तराध्ययन सूत्र में यह बहुत सुंदर बात कही गई है–तेहिं आराहिया दुवे लोग त्ति।

उस व्यक्ति ने दोनों लोकों की आराधना कर ली, जिसने सचाई की आराधना की है। वह व्यक्ति जो भ्रांति का जीवन जीता है, वह वर्तमान को किसी तरह ठीक-ठाक रख लेता है, किंतु परलोक वह नहीं सुधार सकता, उसे अच्छा नहीं बना सकता, किंतु सचाई को स्वीकार कर और मानकर जो चलता है, वह अपने वर्तमान के साथ-साथ भविष्य को भी यानी इहलोक और परलोक–दोनों को अच्छा बना देता है।

विस्तार क्यों?

धर्म का इतना विस्तार आखिर क्यों हुआ? दर्शन का इतना बड़ा चिंतन क्यों हुआ? उत्तर एक है सत्य को समझने के लिए, उसकी परीक्षा और सुरक्षा करने के लिए। एक प्रश्न हुआ? प्रज्ञा किसकी प्रतिष्ठित होती है? गीता में कहा गया–

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

जिस पुरुष की इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से नियंत्रित रहती हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

भारतीय दर्शन में कछुए का उदाहरण विशेष रूप से आता है। कछुआ अपनी प्रवृत्ति अपने शरीर के अंगों को बाहर निकाल कर करता है, किंतु जैसे ही उसे किसी खतरे का आभास होता है, वह अपने अंगों को समेट कर मजबूत खोल के भीतर सुरक्षित कर लेता है। इसी तरह जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को संयमित कर लेता है, निष्क्रिय कर लेता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। सुखी बनने के लिए यह इन्द्रिय निग्रह की कला बहुत बड़ी कला है। सुखी बनने का इससे बढ़िया उपाय कोई दूसरा नहीं है।

हर व्यक्ति के पास सुरक्षा का कवच है। केवल कछुए के पास ही नहीं, हर प्राणी के पास अपनी सुरक्षा, अपने बचाव का उपाय है। मुख्य बात है उसे काम में लेना। अन्य प्राणी उस उपाय को काम में लेते भी हैं, किंतु यह मनुष्य है, जो धरती का सबसे बुद्धिमान, चतुर और समर्थ प्राणी माना जाता है। अपनी बुद्धि का उपयोग अपनी आत्मा की सुरक्षा के लिए नहीं करता। बुद्धि और चतुराई का उपयोग धन कमाने में, टेक्स बचाने में, पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने में तो करता है, किंतु अपने जीवन को सार्थक (मानवीयता की दृष्टि से) बनाने में नहीं करता।

मनुष्य का सुरक्षा-कवच है उसकी चेतना। अगर संहरण की क्रिया को आदमी जान ले तो वह अपनी आत्मा की सुरक्षा कर सकता है। उत्तराध्ययन

सूत्र में पडिसाहरेज्जा शब्द आता है। घोड़े की गति जब बहुत ज्यादा हो जाए और संतुलन बिगड़ने की स्थिति आ जाए तो उसकी लगाम को खींचो, रफ्तार नियंत्रित हो जाएगी। लगाम हाथ में रहे, सुखी बनने का यह सबसे अच्छा सूत्र है।

जिसने इन्द्रियों की लगाम नहीं कसी, उन्हें खुली छूट दे दी, वह दुर्घटनाग्रस्त होने से स्वयं को बचा नहीं सकता। दु:खी होने का मतलब ही है, हाथ में लगाम नहीं है। ऐसा आदमी दूसरों की दया पर निर्भर है। जिसने स्वयं को इन्द्रियों का दास बना लिया, दु:खी होना उसकी नियति है।

लगाम हाथ में

तैमूरलंग अनेक मुल्कों को जीतता हुआ हिन्दुस्तान आया। वह अफगानी था। पहाड़ी मुल्क में हाथी नहीं, घोड़े सवारी के साधन होते हैं। दिल्ली के बादशाह ने उसे तोहफे में हाथी भेंट किया। तैमूर ने हाथी पहले कभी देखा नहीं था। भारी डील-डौल का इतना बड़ा जानवर देखकर उसे कुतूहल हुआ। उसे हाथी के हौदे पर बैठाया गया। हाथी की पीठ पर बैठ जाने के बाद उसने कहा–'ठीक है, अब इसकी लगाम मेरे हाथ में दे दो।

उसे बताया गया कि 'यह हाथी है। इसके लगाम नहीं दी जाती। इसके सिर के पास महावत बैठता है, वह लोहे से बने एक छोटे से अंकुश से इसे नियंत्रित करता है।'

इतना सुनना था कि तैमूर हाथी की पीठ से कूद गया और बोला–'मुझे पहले क्यों नहीं बताया? जिसकी लगाम मेरे हाथ में नहीं, मैं उस पर सवारी नहीं कर सकता। ले जाओ इसे, यह मेरे किसी काम का नहीं।'

तैमूर एक जुझारू सैनिक था। सत्ता-संघर्ष में उसका जीवन बीता था। सहज ही वह किसी पर विश्वास नहीं करता था। हर समय आशंकाग्रस्त रहता था। अपने निकट के लोगों पर भी वह पूरा विश्वास नहीं करता था। लगाम अपने हाथ में रखने की बात उसने विश्वास के संदर्भ में कही थी, लेकिन उसकी बात कितने बड़े मर्म का उद्घाटन करती है कि जीवन को नियंत्रित रखना है तो मन की लगाम अपने हाथ में रखो।

चिंतन करना है कि मेरी इन्द्रियों की लगाम मेरे हाथ में है या नहीं? अगर हाथ में है तो आप सुरक्षित हैं, आपको कोई खतरा नहीं है यदि इन्द्रियों की लगाम हाथ में नहीं है तो खतरा कदम-कदम पर रहेगा। शरीर औदारिक है। यह रोगग्रस्त होता है। कभी संक्रमण के कारण और कभी ज्यादा पथ्य की अनदेखी

के कारण। वास्तविकता यह है कि पथ्य का अगर सही ज्ञान हो, उसका पालन हो और खाद्य-संयम रहे तो बीमारी निकट आएगी ही नहीं, लेकिन ऐसे कितने लोग हैं, जो पथ्य का सही रूप में पालन करते हैं?

बड़ी स्पष्ट बात है कि मन की लगाम हाथ में नहीं है। अस्वस्थता की स्थिति में पथ्य के पालन की बात एक बार मन में आती है, किंतु बाजार से होकर निकले तो सजी हुई खाद्य सामग्री संयम को एक किनारे रख देती है। मन को जो भा गया, उसे खाए बिना वह मानता नहीं है। कितने ही लोग जीभ के असंयम के कारण दु:ख भोगते हैं, इसलिए संयम बहुत जरूरी है कि हमें ज्ञान हो। अपने हिताहित का ज्ञान, उसके लिए साधनों के चुनाव का ज्ञान। यह ज्ञान हमें संयम में सुस्थिर रहने की ताकत देता है। कुपथगामी होने से रोकता है।

24. सुख का बाधक : मोह

इस दुनिया में दु:खी कौन? पहला जो मानसिक रूप से बीमार है, मनोरोगी है, वह दु:खी है। दूसरा जो अभावग्रस्त है, वह दु:खी है। तीसरा वह व्यक्ति भी बहुत दु:खी है, जो समझता नहीं है। कुछ लोग इस कोटि के होते हैं कि समझाने पर भी समझ नहीं पाते हैं या समझना नहीं चाहते जो समझना नहीं चाहता, उसे समझाया नहीं जा सकता। कहावत है कि आप घोड़े को जलाशय तक ले जा सकते हैं, किंतु उसे पानी पीने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। जो यह धार कर बैठ गए हैं कि मुझे समझना नहीं है, उन्हें वृहस्पति भी आ जाएं तो भी समझा नहीं सकते। भर्तृहरि ने बहुत सुंदर लिखा–

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति॥

एक अनजान आदमी को समझाना सरल है, क्योंकि उसमें कोई आग्रह नहीं है। जो विशेषज्ञ है, उसे समझाना भी बहुत सरल है। इशारे में ही समझ जाता है। मेनेजमेंट का सिद्धांत है कि कर्मचारी को अधिकारी के संकेत को समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में दृष्टांत की भाषा में कहा गया कि कर्मचारी को अपने अधिकारी का महाराणा प्रताप वाला चेतक होना चाहिए। चेतक घोड़े की सूझबूझ और स्वामिभक्ति प्रसिद्ध है।

अगर ऐसे कर्मचारी हों तो कंपनी का बहुत विकास होगा, लेकिन आज यह बात देखने में नहीं आती। आज ट्रेड यूनियन का युग है। मालिक और कर्मचारी के रिश्ते ज्यादातर कड़वे हैं, मधुर नहीं हैं।

जो आग्रही है, वह समझाने पर भी नहीं समझता। जो बात पकड़ ली, वह पकड़ ली। चोरी के एक केस में गवाही चल रही थी। जज ने चोर से कहा–'देखो ये छह गवाह सामने खड़े हैं। ये कह रहे हैं कि इन्होंने तुमको चोरी करते देखा है।'

कठघरे में खड़े चोर ने कहा–'इनके कहने से क्या होता है हुजूर। इन छह लोगों के कहने से मेरा जुर्म साबित नहीं हो जाता। दुनिया बहुत बड़ी है। मैं छह हजार लोगों को अदालत में प्रस्तुत कर सकता हूं जो कह सकते हैं कि हमने इसे चोरी करते नहीं देखा।'

तर्क का कोई अंत नहीं है। जो अपना गुनाह स्वीकार नहीं करना चाहता, उसे आप कुछ भी कहें, कोई भी दंड दें, ऐसा व्यक्ति दु:संबोध होता है। हर बात में तर्क देता है। अपनी बात को जैसे भी हो सिद्ध करना चाहता है। अपने अपराध पर, अपनी गलती पर, अपनी बुराई पर पर्दा डालने का हर संभव प्रयास करता है।

पर्दा मोह का

जिस व्यक्ति के मोह का घना आवरण है, वह भी दु:संबोध होता है। लाख समझाओ, उसकी समझ में नहीं आएगा या यों कहें कि वह नहीं समझेगा। हमारे आचरण का संबंध ज्ञान के साथ है, किंतु बहुत कम है। उसका ज्यादा संबंध मोह के साथ है। अगर मोह का शोधन होता है तो आदमी का आचरण अच्छा होता है। मोह सघन है तो आदमी का आचरण विकृत होता है। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि ज्ञान का विकास तो बहुत हो रहा है, किंतु मोह को कम करने की साधना नहीं हो रही है। इसीलिए आचारभ्रंश चल रहा है। वर्तमान समय में भ्रष्टाचार की बात कही जाती है। कहा जाता है कि ऊपर से लेकर नीचे तक भ्रष्टाचार का विष फैल गया है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं लगती। जहां केवल ज्ञान पर, पढ़ाई पर, पुस्तकीय शिक्षा पर बल दिया जाता है, केवल डिग्री को महत्त्व दिया जाता है, वहां भ्रष्टाचार होना स्वाभाविक है। यद्यपि भ्रष्टाचार को स्वाभाविक नहीं माना जाना चाहिए, यह तो एक विकृति है, किंतु आज की जो शिक्षा नीति है, उसे देखते हुए स्वाभाविक कहने में कोई कठिनाई नहीं है।

बालविजयजी, जो सर्वोदय के वरिष्ठ नेता और कार्यकर्ता हैं, वे एक बात बता रहे थे कि असम यात्रा में उन्होंने उग्रवादियों के साथ बातचीत की। मैंने अहिंसा की बात कही तो उन लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा–'आज हम पहली बार यह शब्द आपके मुंह से सुन रहे हैं। हमें तो आज तक अहिंसा की बात किसी ने बताई ही नहीं। हमें तो आज तक बंदूक और ग्रेनेड चलाना ही सिखाया गया। हम तो मरना और मारना दो ही भाषा जानते हैं। आज पहली बार आपसे शांति-अहिंसा की बात सुन रहे हैं।'

आज की समस्या यह है कि चरित्र का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। घर में अभिभावक और विद्यालय में शिक्षक–दोनों ही इस दृष्टि से अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह नहीं कर रहे हैं। केवल पैसा कमाने का पाठ पढ़ाया जाता है। चरित्र का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। चरित्र के पाठ में किसी की रुचि भी नहीं है। मोह का सघन पर्दा हटे बिना चरित्र आत्मसात् नहीं हो सकता। एक आदमी साधना करता है तो उसका उद्देश्य यही होता है कि मोह को दूर करे। मोह दूर नहीं होता तो आदमी कभी प्रवंचना करता है, कभी दूसरों को धोखा देता है, अनैतिक काम करता है। नशे की लत में जाता है। ये सारी मोह की विडंबनाएं हैं।

एक राजा के दरबार में कवि आया। राजा की प्रशस्ति में उसने काव्यपाठ किया। राजा प्रसन्न हो गया। बोला–'कविश्रेष्ठ! मैं तुम्हारी कविता से प्रसन्न हूं। बोलो, क्या चाहते हो? जो मांगोगे, वह दूंगा।' कवि विचार करने लगा कि क्या मांगूं? फिर सोचा–'राजदरबार में उपस्थित होकर इसी तरह काव्यपाठ करूं और पुरस्कार पाऊं, लेकिन घर से राजमहल दूर है।' ऐसा विचार कर उसने कहा–'राजन! अवस्था अब अपना असर दिखाने लगी है। मैं ठहरा गरीब आदमी। सवारी का कोई साधन नहीं है। मुझे तो कोई वाहन देने की कृपा करें।'

राजा ने मंत्री को तत्काल आदेश दिया–'कवि को एक घोड़ा दे दिया जाए।'

राजा ने आदेश तो दे दिया, किंतु आदेश की क्रियान्विति तो अधिकारी करते हैं। सरकार का आदेश आ गया कि बाढ़ पीड़ितों को एक-एक क्विंटल अनाज वितरित किया जाए, किंतु अनाज का वितरण तो तहसीलदार साहब के हाथ में है। बढ़िया अनाज थोक भाव में बाजार में चला जाता है और घटिया अनाज गांव के गरीबों में वितरित हो जाता है।

अस्तबल का अधिकारी मोहाविष्ट था। सोचा–जीवन भर सड़क पर नंगे पांव घसीटने वाला यह दो कौड़ी का कवि घोड़े का मालिक बनने चला है। जिसके दरवाजे पर कभी बकरी भी नहीं बंधी, वह अब घोड़ा बांधेगा? लेकिन राजा के आदेश का पालन तो करना ही था। उसने शाही अस्तबल से एक बूढ़े और बेकार घोड़े को लाकर कवि महोदय को दे दिया। कवि को यह बात बुरी लगी, किंतु मन मारकर उसने घोड़ा स्वीकार कर लिया। उसे अपने घर लाया, किंतु वह मरियल घोड़ा उसी रात को दिवंगत हो गया।

दूसरे दिन कवि फिर राजसभा में राजा के समक्ष उपस्थित हुआ तो राजा ने कहा–'कविवर! सवारी की चिंता दूर हो गई या नहीं। आज तो आप यहां तक घोड़े से आए होंगे? घोड़ा पसंद आया कि नहीं?'

कवि ने कहा–'महाराज! घोड़ा बहुत बढ़िया है।'

'चाल में कैसा है?'

'गति बहुत तेज है। शायद आपके यहां अच्छे से अच्छा तेज दौड़ने वाला घोड़ा घंटे भर में बीस-पचीस कोस की दौड़ लगाने में समर्थ होगा, किंतु आपके द्वारा प्रदत्त घोड़ा गति में हवा से भी तेज निकला। रात भर में ही उसने धरती से स्वर्ग तक की दूरी तय कर ली।'

राजा समझ गया कि मेरे कर्मचारियों ने कवि के साथ धोखा किया। उसने स्वयं एक अच्छे घोड़े का चुनाव कर कवि को उपहार में दिया।

दु:संबोध क्यों?

जो केवल दूसरे के बारे में ही सोचता है, उसे किसी भी तरह से समझाया नहीं जा सकता। मेरे सामने भी ऐसे कितने ही प्रसंग आते हैं। किसी गलती करने वाले से कहो कि तुमने उसे गाली क्यों दी? तो वह कहेगा कि मैंने पहले गाली नहीं दी। पहले उसने दी, तब मैंने दी।

अब कौन उसे समझाए कि गाली के बदले में गाली देना तो गाली देने वाले की श्रेणी में ही आता है। अंतर क्या रहा? उसने तो गाली देकर अपने मुंह को गंदा कर लिया, लेकिन तुम तो साफ-सुथरे रह सकते थे। किसी ने गंदी नाली में लोट लगा ली तो ऐसा करना तुम्हारे लिए तो जरूरी नहीं है, लेकिन आदमी का तर्क है। वह ऐसा करेगा तो मैं भी वैसा ही करूंगा। यह मूर्खता का निर्णय है।

जिसका पाचन मजबूत होता है, वह दूसरों को उल्टी करता हुआ देखकर स्वयं उल्टी नहीं करने लगता। हमारी दृष्टि स्वयं पर होनी चाहिए। अपने क्रियाकलाप पर होनी चाहिए। हर बात में दूसरे को लाना कोई तर्कसंगत और शोधन वाली बात नहीं है। ऐसा नहीं है कि दु:संबोध लोग अपने कृत्य से सुखी रहते हैं, बल्कि अपने कार्यों से वे स्वयं दु:ख पाते हैं। अपनी प्रवृत्ति से वे लाचार हैं। आग्रह, आत्मनिरीक्षण का अभाव और प्रतिक्रियात्मक जीवन–ये ऐसे कारण हैं, जिनसे आदमी दु:संबोध बन जाता है। ये ऐसे लोग हैं, जो गलत तर्क से अपनी बात को सिद्ध करना चाहते हैं।

साहूकार ने ऋणी से कहा–'तुम जो कर्ज ले गए थे, उसे पंद्रह दिन में अदा कर देने का वादा किया था। आज डेढ़ महीना हो गया। मैंने कम से कम पांच-सात बार तुमको कहलवाया, लेकिन तुम्हारे कान पर जूं तक नहीं रेंग रही है।'

कर्ज लेने वाले ने मुस्कुराकर कहा–'पांच-सात बार ही तो आपने कहा है। मैंने पचास बार आपसे विनती की थी तब आपने दिया था। अभी संख्या में आप पीछे हैं।'

ऐसे लोगों को कैसे समझाया जाए? जो सत्य के आसपास चलना नहीं चाहते। जो सरल होता है, वह सुसंबोध होता है। उसे समझाना बहुत सरल है। वह किसी बात को छुपाता नहीं, कोई आग्रह नहीं करता। अनेकांत का प्रमुख सूत्र है–अनाग्रही बनो। पकड़ के पक्के मत बनो। तर्कशास्त्र में एक श्लोक उद्धृत किया जाता है–

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्ति निविष्टा

आग्रही व्यक्ति वहां बुद्धि का प्रयोग करेगा, अपना तर्क ले जाएगा, जहां पहले से उसकी एक धारणा बनी हुई है। वह अपनी धारणा की पुष्टि के लिए तर्क का प्रयोग करेगा। उसी बात को सिद्ध करना चाहेगा। अपने आग्रह को वह नहीं छोड़ेगा। जो व्यक्ति पक्षपातरहित होता है। जिसके मन में किसी विचार का, किसी धारणा का आग्रह नहीं है, वह सत्य के साथ चलेगा। उसकी बुद्धि वहां जाती है, जहां औचित्य होता है।

आग्रही व्यक्ति परिवार में भी बड़ी समस्या पैदा करता है। वह अपने इशारे पर पूरे समूह को चलाने का प्रयत्न करता है। मैं कह रहा हूं, वही सही है। तुम लोग गलत हो। ऐसे लोग सामूहिक और पारिवारिक जीवन में बड़ी समस्या पैदा करते हैं। दूसरों को दु:खी बनाते हैं। अनेकांत दृष्टि वाला अहिंसा की दृष्टिवाला दूसरों की बात को सुनता है और उस पर विचार करता है। उसके आधार पर अपने विचार को बदल देता है। सचाई को विनम्रता से स्वीकार कर लेता है।

लोहवणिक न बनें

प्रश्न है–आग्रह को कम कैसे किया जाए? क्योंकि आग्रह भी मिथ्यादृष्टि का एक पोषक तत्त्व है। मिथ्या दृष्टिकोण आग्रह के आधार पर ही बनता है और चलता है। इसीलिए आचार्यों ने मिथ्यात्व के दो प्रकार कर दिए–आभिग्राहिक मिथ्यात्व, अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व। जो पकड़ लिया उसे छोड़ता नहीं, यह आभिग्राहिक मिथ्यात्व है।

केशी स्वामी ने राजा प्रदेशी को संबोध दिया। राजा प्रदेशी नास्तिक और हिंसा में विश्वास करने वाला था। मृत्युदंड से कम सजा वह किसी को देता नहीं था। ऐसा कहा जाता है कि उसके दोनों हाथ हमेशा रक्तरंजित रहते थे। वह इतना क्रूर और हिंसक था।

केशी स्वामी का योग मिला। आत्मा-परमात्मा के बारे में लंबे तर्क चले, बहुत संवाद हुए। आखिर प्रदेशी संबुद्ध हुआ। बोला–'महाराज! आपकी बात मैं समझ गया, किंतु अपनी पूर्व धारणा को मैं क्यों छोड़ूं? यह मेरे पूर्वजों से चली आ रही धारणा है। मेरे पिता, दादा, पितामह, सबकी ऐसी ही मान्यता रही। अब उस मान्यता को एकाएक क्यों छोड़ दूं?'

तब केशी स्वामी ने कहा–'प्रदेशी! तू भी लोहवणिक जैसा लगता है।'

प्रदेशी ने कहा–'महाराज! यह लोहवणिक कौन था?'

केशी स्वामी ने कथा सुनाई–'चार वणिक व्यापार करने को चले। वे रत्नद्वीप प्रदेश में पहुंचे। वहां उन्हें एक लोहे की खदान मिली। चारों ने लोहखंड एकत्रित किए। उनकी गांठे बांधी और उसे आगे लेकर चले। तभी उन्हें चांदी की खदान मिली। चारों ने सोचा और विचार किया कि चांदी की खान मिल गई तो लोहे का भार क्यों ढोएं? लोहा छोड़कर चांदी लेने का निश्चय किया। तीनों ने इस विचार को क्रियान्वित किया। चौथे ने लोहे के गट्ठर को छोड़ने से इनकार कर दिया। चारों काफी दूर आगे गए तो सोने की खान मिली। उसके बाद रत्नों की खान मिली। सब साथी तो छोड़ते और बदलते गए, किंतु चौथा साथी अभी भी लोहे का ही भार ढो रहा था। उसने चांदी और सोने के हाथ नहीं लगाया। न रत्नों को लिया। तीनों साथियों ने हीरे-पन्ने और रत्नों की पोटली बनाकर अपने साथ ले ली। चौथे ने चांदी, सोना और हीरे-मोती को छूना भी उचित नहीं समझा।

चारों अपने घर एक साथ लौटे। तीन साथी करोड़पति बन चुके थे और चौथा साथी जिसने लोहे के अतिरिक्त अन्य सब चीजों को त्याज्य समझ लिया था, अब भी अपनी गरीबी भोग रहा था।

केशी स्वामी ने कहा–'प्रदेशी! तू भी लोहवणिक जैसा ही है। अपनी बद्धमूल धारणा से चिपका हुआ है, सचाई को समझना और स्वीकार करना नहीं चाहता।'

आग्रही व्यक्ति लोहवणिक जैसा होता है, जो पकड़ लिया, वह पकड़ लिया। उससे आगे टस से मस होना नहीं चाहता। ऐसे व्यक्ति दुसंबोध होते हैं। उनका कोई विकास नहीं हो सकता। जीवन भर पश्चात्ताप करते हैं। आदमी अपने आग्रह को छोड़ना नहीं चाहता, सचाई को स्वीकार करना नहीं चाहता और बदलना नहीं चाहता। दुःखी बने रहना ही ऐसे लोगों की नियति है।

25. सुखी जीवन का सूत्र : संयम

पास में सबकुछ है, फिर भी समस्या का समाधान और प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता तो आदमी की बेचैनी बढ़ जाती है, इसीलिए बड़े-बड़े कुबेरपति, राजा-महाराजा और सम्राट अपने प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए उन लोगों के पास जाते रहे हैं, जो आत्मा की दृष्टि से समुन्नत थे। सारी समस्याओं की जड़ है ज्ञान का अभाव। ज्ञान का विकास होते ही समस्या का समाधान हो जाता है तथा प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है।

समाधान भीतर का

ज्ञान से तात्पर्य यहां सत्य के ज्ञान से है। आजीविका चलाने के लिए भी ज्ञान अर्जित करना पड़ता है, किंतु वह दूसरा ज्ञान है। आत्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान से उसका कोई लेना-देना नहीं है। आत्मज्ञान ही यथार्थ का ज्ञान है। वह किसी स्कूल या कॉलेज से नहीं, अपनी स्वयं की साधना से अर्जित करना होता है। बुद्धि और विवेक किराए पर नहीं मिलते। मिल भी जाएं तो अपने काम नहीं आते। इसे स्वयं में उत्पन्न करना पड़ता है। यहां 'अपनी समस्या, अपना समाधान' वाला सूत्र चलता है।

एक राजा कुछ दिनों से बड़ी उलझन का अनुभव कर रहा था। उसे यह आभास हो रहा था कि उसके निकट के लोगों की वफादारी में कमी आ रही है। मंत्री, दरबारी, सेनापति आदि उसके खिलाफ किसी षड्यंत्र का जाल बुन रहे हैं। उसके आसपास जो कुछ घट रहा था, उससे उसका संदेह गहराता जा रहा था। राजसत्ता के सामने ऐसी चुनौतियां आती रहती हैं। शासक अगर सावधान न रहे तो उसके ही सहयोगी उसे उखाड़ फेंकने में देर नहीं लगाते।

राजा की राजधानी में एक दिन महात्माजी का आगमन हुआ। राजा ने उन्हें महल में आमंत्रित किया और एकांत में वार्तालाप की इच्छा व्यक्त की। एकांत में राजा और संन्यासी दोनों मिले। संन्यासी ने कहा–'राजन्! बताएं, आपकी क्या समस्या है?'

राजा ने कहा–'महात्माजी! मैं आसपास के राजाओं से ज्यादा समृद्ध हूं। सैन्य ताकत में भी मैं सब पर भारी पड़ता हूं, फिर भी एक अज्ञात आशंका से हर समय सशंकित रहता हूं। ऐसा लगता है जैसे मेरे ही लोग मेरे खिलाफ षड्यंत्र कर रहे हों। वैसे प्रत्यक्ष रूप में अभी तक सामने कुछ भी नहीं आया है, लेकिन भीतर ही भीतर मैं डरा हुआ हूं। भविष्य में कुछ भी हो सकता है। कृपा कर मुझे इस समस्या से मुक्ति का उपाय बताएं।'

संन्यासी ने एक क्षण सोचा, फिर गंभीर होकर कहा–'राजन्! आपकी समस्या बाहर की नहीं, भीतर की है, इसलिए इसका समाधान भी कुछ अलग ढंग का होगा। वह समाधान मैं सुझा सकता हूं, किंतु करना पड़ेगा आपको। लगता है आपकी प्रजा आपसे संतुष्ट नहीं है। प्रजा असंतुष्ट तब होती है जब उसकी मूलभूत समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया जाता। आप प्रजा की आजीविका का सम्यक् प्रबंध करें। भरोसा रखें पचास प्रतिशत समस्या तो यह कदम उठाते ही दूर हो जाएगी।

दूसरी बात–समस्या के समाधान में सहयोग देने वाले मंत्री, कोषाध्यक्ष, सेनापति आदि जब समस्या के प्रति उदासीन हो जाते हैं और सुलझाने के बजाय उसे हवा देने लगते हैं तो समझा जाना चाहिए कि वे असहयोग कर रहे हैं। असहयोग कोई यों ही नहीं करता, उनके मन में भी किसी बात को लेकर असंतोष है।

आप उन्हें विश्वास में लें। उनकी बातों पर ध्यान दें, उन्हें सम्मान दें। इससे विश्वास की बहाली होगी और वे फिर से आपके वफादार बन जाएंगे। उनकी बातों पर ध्यान नहीं देंगे तो वे आपकी जड़ खोदने का काम करेंगे। आप उन्हें अपने अनुकूल बनाने का हरसंभव प्रयास करें।' समस्या भीतर की हो तो उसके समाधान का उपाय भी वैसा ही करना पड़ता है।

मघवा जन्म शताब्दी के अवसर पर आचार्य तुलसी ने कहा था कि आचार्य में तीन विशेष गुण होने चाहिए–क्षमता, समता और ममता। उसमें सहन करने की शक्ति हो। आचार्य जिनका नेतृत्व कर रहे हैं, वे भले ही एक ही संप्रदाय के हों, किंतु विचारों की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न होते हैं। आचार्य में अगर सहनशीलता नहीं है तो भिन्न विचार वाले शिष्य-शिष्याओं का नेतृत्व करना कठिन हो जाएगा। परिवार और समाज के मुखिया को वैसे भी सहिष्णु होना चाहिए। तीसरी बात अधीनस्थों को सम्मान दो, वे भी आपका सम्मान करने लगेंगे। जो जितने सम्मान का हकदार है, उसे उतना सम्मान नहीं मिलता

है तो वह विरोधी हो जाता है। आलोचक और विरोधियों की संख्या इसी क्रम से बढ़ती है।

संन्यासी ने राजा से कहा–'ये तीन अनायस शस्त्र हैं। ये केवल राजा और शासक के लिए ही नहीं, जिम्मेदारी के पद पर बैठे हर व्यक्ति के लिए हैं। इनका प्रयोग करें तो समस्या बड़ी जल्दी सुलझ जाएगी।' राजा ने वैसा ही किया और समस्या समाहित हो गई।

स्थायी समाधान संयम

आज हिंसा क्यों बढ़ रही है? आतंकवाद, उग्रवाद, अलगाववाद क्यों सिर उठा रहे हैं? यह सब प्रतिक्रिया का परिणाम है। इसका समाधान है– अणुव्रत, संयम और सीमाकरण। भोग की सीमा करो। पदार्थवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन करो। संयम और परिमाण ऐसे सूत्र हैं, जो व्यक्तिवादी मनोवृत्ति से हटकर परार्थवादी मनोवृत्ति विकसित करते हैं। सड़कों पर स्पीड़ब्रेकर लगे होते हैं। अगर ये न हों तो दुर्घटना की संभावना बढ़ जाती है। संयम और व्रत ब्रेकर हैं। ये रफ्तार को कम करने या रुक जाने के लिए विवश कर देते हैं। तेज रफ्तार न सड़क पर अच्छी है, न जीवन में। दुर्घटना की संभावना दोनों में है।

बढ़ती महत्वाकांक्षा और अधिकाधिक पाने की भूख आदमी को अशांत बना रही है। तृष्णा संतोष पर हावी है।

एक राजा ने किसी पर प्रसन्न होकर कहा–'मांगो, तुम जो मांगोगे, वह तुम्हें दूंगा।' वह भूमिहीन था। उसने कहा–'मुझे भूमि चाहिए।' राजा ने कहा– 'आज दिन भर में तुम पैरों से जितनी भूमि माप लोगे, वह तुम्हारी।' उस आदमी में तृष्णा जाग गई। उसने बेतहाशा दौड़ना शुरू कर दिया, लेकिन था तो आदमी ही। आखिर कितना दौड़ता? बिना खाए-पिए जमीन की लालच में पंद्रह किलोमीटर की दौड़ लगा सका। लौटकर राजा के पास आया तो राजा ने देखा–वह दौड़ नहीं रहा था, लड़खड़ा रहा था। पसीने से तरबतर राजा के सामने पहुंचा और मुंह के बल गिर पड़ा और दम तोड़ दिया। जो भूमि उसने मापी थी, वह उसके काम नहीं आई। उसके काम आई सिर्फ छह गज भूमि।

एक व्यक्ति को कितना चाहिए जीवनयापन के लिए? लेकिन आदमी इतने का आकांक्षी है, जितने में कई जन्म तक काम चलाया जा सके। आज का आदमी विराम, पूर्ण विराम को मान्य नहीं करता। तृष्णा की समस्या का समाधान सिर्फ अध्यात्म के पास है और वह है त्याग और संयम।

आज त्याग का संस्कार है कहां? सारा संस्कार तो भोग का है। बेटे का जन्म होता है तो माता-पिता उससे यह आशा बांधने लगते हैं कि बड़ा होकर खूब कमाएगा। उसका लालन-पालन और शिक्षण-प्रशिक्षण भी इसी दृष्टि से होता है कि वह कमाऊ पूत बने। यह दूसरी बात है कि वह वैसा बन पाता है या नहीं? अधिकांश तो गंवाऊ पूत ही साबित होते हैं। इच्छा को पूरी करते जाओ, भोग का संस्कार प्रबल बनता जाएगा। हम अपने जीवन में त्याग के संस्कार पैदा करें। इच्छा को रोकने और छोड़ने की क्षमता पैदा करें। जीवन में व्रतों को महत्त्व दें, उन्हें स्वीकार कर अपने रजिस्टेंस पॉवर को मजबूत बनाएं। त्याग, संयम और व्रत–ये सुखी जीवन के लिए एंटीबॉडी का काम करते हैं।

कष्ट और प्रतिकूलता को सहन करने की आदत डालनी चाहिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। सुविधावाद तो बीमारी का जनक है। सुविधावाद आदमी को एबनॉर्मल बनाता है। कठिनाइयां जीवन को हौसला प्रदान करती हैं। एक अनुपात होना चाहिए कि जीवन में अगर इतनी सुविधा भोगें तो इतना कठिनाई का जीवन भी जीएं। साठ और चालीस का अनुपात रख सकते हैं। साठ प्रतिशत सुविधा और चालीस प्रतिशत कठिनाई। आप अपने जीवन में इस फार्मूले को अपनाएं और देखें कि आपका जीवन कितना सहज और आनंदमय बनता है।

तप, त्याग और संयम का मूल्यांकन करें और इसे एक प्रतिरोधक शक्ति के रूप में स्वीकार करें। समस्या पदार्थ की हो, शरीर की हो या मन की, वह केवल औषधोपचार से समाप्त नहीं होगी। औषधि से उसका शमन हो सकता है, किंतु नष्ट या समाप्त होगी तो वह आध्यात्मिक औषधि से ही होगी। समस्याओं का कभी अंत नहीं होता। वे अतीत में रही हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी रहेंगी। उनके समाधान के लिए जरूरी है कि हम संयमप्रधान जीवनशैली और अध्यात्मप्रधान दृष्टिकोण को अपनाएं। पदार्थोन्मुखी जीवनशैली की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि यह दृष्टिकोण को पूरी तरह से असम्यक् बना देती है। जो भी चिंतन होता है, वह अर्थ को केन्द्र में रखकर होता है। अध्यात्म का जैसे वहां कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। उपभोग संयम पर हावी हो जाता है, जिससे जीवन में तरह-तरह की विकृतियां प्रवेश करने लगती हैं। स्वाभाविक है ये विकृतियां दुःख की ही सृष्टि करेंगी, सुख की नहीं। सुख प्राप्ति का एक ही उपाय है और वह है अध्यात्म और संयमप्रधान जीवनशैली।

26. सुखी जीवन का सूत्र : ज्ञान

व्यवहार की दुनिया में दो शब्द प्रचलित रहे हैं–सुख और दु:ख। हम चिंतन कर देखें कि इन दो शब्दों के इर्द-गिर्द मनुष्य का सारा प्रयत्न और पुरुषार्थ केन्द्रित रहा है। कभी सुख और कभी दु:ख–दोनों का चक्र बराबर चल रहा है।

इदमेव सत्यं

शिष्य गुरु के पास आया और बोला–'गुरुदेव! सत्य क्या है?' गुरु ने कहा कि इसका उत्तर बाद में दूंगा, पहले तुम एक काम करो। नगर में जाओ और हर व्यक्ति से पूछ कर इस बात का पता लगाओ कि उसके घर में कभी दु:ख का प्रसंग तो नहीं आया।

शिष्य लौटकर अपने गुरु के पास आया और बोला–'गुरुदेव! नगर का कोना-कोना छान डाला। हर व्यक्ति से पूछा। किसी ने भी अपने को सुखी नहीं बताया।'

गुरु ने कहा–इदमेव सत्यं। यही सत्य है। दुनिया में दु:ख है, यही सत्य है। कहीं वियोग का दु:ख है तो कहीं संयोग का दु:ख है। कहीं संयोग और वियोग दोनों का दु:ख है। कहीं अभाव का दु:ख है और कहीं अतिभाव का दु:ख। कहीं तृप्ति का दु:ख है, कहीं अतृप्ति का दु:ख। कामनाओं और इच्छाओं का भी दु:ख है। ईर्ष्या, लोभ और मोह का भी दु:ख है। अनेक कारण हैं जो मनुष्य को संतप्त बनाते हैं, दु:खी करते हैं। यही सत्य है। शिष्य को उसके प्रश्न का उत्तर मिल गया।'

दु:ख के हेतु

भारत में दर्शन के क्षेत्र में दो वाद चले–दु:खवाद और सुखवाद। भगवान महावीर ने कहा–

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतवो॥

जन्म दु:ख है, मरण दु:ख है, रोग दु:ख है और बुढ़ापा दु:ख है। जन्म को तो हमने नहीं देखा, किंतु मरण के दु:ख को हमने देखा है। रोग और बुढ़ापे के दु:ख को भी हमने देखा है। अस्पताल की चौथी मंजिल पर रोगशय्या पर पड़ा रोगी चिल्लाता है तो वह नीचे की मंजिल तक सुनाई देता है। बुढ़ापे की असमर्थता में एक गिलास पानी के लिए रिरियाते आदमी को भी देखा है। मैंने इस सचाई का अनुभव किया कि जो कुछ कहा गया है, वह पूरी तरह सत्य है।

भगवान बुद्ध ने चार सत्यों का प्रतिपादन किया, जिन्हें बौद्धदर्शन की संपदा का एक आधार कहा जा सकता है। वे चार आर्य सत्य हैं–

दु:ख है और दु:ख का हेतु है।

निर्वाण है और निर्वाण का हेतु है।

हम हेतुओं पर विचार करें। दु:ख का सबसे बड़ा हेतु क्या है? दु:ख अनेक प्रकार के हो सकते हैं और इस तरह उनके हेतु भी अनेक हो सकते हैं, लेकिन सबसे बड़ा हेतु क्या है, यह एक प्रश्न है। इस पर विचार करें तो निष्कर्ष आएगा कि कामना सबसे बड़ा दु:ख है। आदमी के मन में इच्छा या कामना होती है। वह अक्सर पूरी नहीं होती, इससे आदमी दु:खी बना रहता है।

कामना का भंडार

कुछ लोग दु:खी रहते हैं, किंतु अपने दु:ख का कारण वे समझ नहीं पाते। कामनाओं की प्रवृत्ति कुछ ऐसी है कि वे एक के बाद एक पैदा होती रहती हैं। सब कामनाएं किसी की पूरी होती नहीं। ऐसे में आदमी मानसिक दु:ख भोगता है।

इसीलिए कहा गया–नास्ति कामसमो व्याधि:। काम के समान कोई बीमारी नहीं है। आज अनेक सामान्य और जटिल रोगों का इलाज ढूंढ़ा जा चुका है, किंतु कामनाओं का इलाज नहीं ढूंढ़ा जा सका है। वैराग्य के सिवाय इसका कोई इलाज नहीं है। कामनाओं का कहीं अंत नहीं है। भूख को तो भोजन के द्वारा मिटाया जा सकता है, किंतु कामनाओं की पूर्ति संभव नहीं है। यह बिना पेंदे का बर्तन है, डालते जाओ, लेकिन भरेगा नहीं।

आज तनाव शब्द बहुत ज्यादा प्रचलित है। कामनाओं की पूर्ति नहीं होती है तो मन तनाव से भर जाता है। इस तनाव का नाम ही दु:ख है। यह एक प्रकार का असंतोष है, जो मन को बहुत त्रास देता है। तनाव अगर लंबे समय तक बना रहता है तो आदमी पागल हो जाता है। कामनाएं आदमी को पूर्ण विक्षिप्त नहीं तो अर्द्धविक्षिप्त जरूर बनाती हैं।

नगर में एक संन्यासी आया। वह घर-घर भिक्षा मांगता था। पात्र की जगह उसके गले में रस्सी से बंधी एक खोपड़ी थी। कोई भिक्षा देना चाहता तो वह संन्यासी कहता–पहले सोच-समझ लेना अच्छी तरह से। मैं अधूरी भिक्षा नहीं लेता। मेरे इस पात्र को भर सको, तभी भिक्षा देने की बात सोचो।'

लोग सोचते हैं कि छोटा-सा पात्र है। आखिर कितना आएगा इसमें? किलो, दो किलो और ज्यादा से ज्यादा ढाई किलो। लोग संन्यासी की शर्त को स्वीकार कर उसे भिक्षा देते, किंतु यह क्या, उस पात्र में जाते ही भिक्षा जाने कहां गायब हो जाती। संन्यासी पात्र को उलट कर दिखा देता और उलाहना देता कि तुम एक साधु को भिक्षा भी पूरी नहीं दे सके। लोगों को बहुत हैरानी होती। वे मनों आटा और चावल उस पात्र में डालते और डालते ही सब गायब। आखिर बात राजा तक पहुंची कि नगर में आया हुआ एक संन्यासी भूखा है, क्योंकि उसका पात्र भिक्षा से कोई भर नहीं सका।

राजा ने उस संन्यासी को राजमहल में आमंत्रित किया। भिक्षा देने के क्रम में एक-एक कर राज्य के भंडार से राशन के बोरे उसके पात्र में डाले जाने लगे, लेकिन पात्र भरा नहीं, खाली का खाली रहा। आखिर राजा की समझ में आ गया कि कुछ खास बात है। उसने संन्यासी से ही पात्र का रहस्य खोलने की प्रार्थना की।

संन्यासी ने कहा–'राजन्! यह आदमी की खोपड़ी है। यह कभी नहीं भरेगी। आपने क्या कभी कोई ऐसा आदमी देखा, जिसने संतोष के साथ कहा हो कि मुझे जीवन में हर चीज मिल गई। मेरी सारी इच्छाएं पूर्ण हो गईं।' बात राजा की समझ में आ गई।

कामनाओं की पूर्ति असंभव है। अध्यात्म ने कामनाओं से छुटकारा पाने का एक मार्ग बताया था कि सीमाकरण करो। कामनाओं को जब तक पालोगे और बढ़ाओगे, दु:ख मिटेगा नहीं। उनकी एक सीमा तय कर दो। संकल्प कर लो कि इतने से ज्यादा नहीं रखेंगे, तब दु:ख मिटने लग जाएगा।

प्रश्न है कामनाओं पर लगाम कैसे कसी जाए, कैसे उन पर नियंत्रण किया जाए? इस पर विचार करें तो समझ में आएगा कि अध्यात्म के सिवाय और कोई दूसरा उपाय नहीं है। कामना को पैदा करने वाले तत्त्व हमारे शरीर के भीतर हैं। उनका निरसन हम अध्यात्म के द्वारा कर सकते हैं। अध्यात्म की चेतना जागृत होती है तो आदमी के भीतर सारे रसायन बदल जाते हैं। रसायन आदमी के आचार और विचार को प्रभावित करते हैं। जब ध्यान के द्वारा रसायन में

परिवर्तन होता है तो कामनाएं समाप्त होने लगती हैं। कामनाओं को समाप्त करने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। रसायन बदलने पर वे स्वयं समाप्त होने लगती हैं। उस समय यह अनुभूति होती है कि अकेला आया हूं और अकेले ही चला जाऊंगा। कोई दूसरा साथ देने वाला है नहीं। उस समय पूर्ण अकेलेपन का अनुभव होता है। मैं मानता हूं कि वही आदमी दुनिया में सबसे ज्यादा सुखी है, जो अकेलेपन का अनुभव करता है।

द्वंद्व दो से

अध्यात्म के आचार्यों ने बारह अनुप्रेक्षाएं बतलाई हैं। उनमें से एक है–एकत्व अनुप्रेक्षा। नमि राजर्षि के शरीर में दाहज्वर हुआ तो वैद्य ने चंदन का लेप करने को कहा। विश्रुत कथा है–चंदन घिसने वाली रानियों के कंगन ध्वनि करने लगे तो नमि राजर्षि को वह ध्वनि कर्णकटु लगी और उन्होंने आवाज बंद करने का निर्देश दिया। रानियों ने हाथों में एक-एक कंगन सुहागचिह्न के रूप में रख शेष सारे कंगन उतार दिए और ध्वनि बंद हो गई। राजा ने पूछा–क्या चंदन घिसना बंद हो गया? उन्हें बताया गया कि चंदन तो अब भी घिसा जा रहा है, किंतु हाथ में केवल एक कंगन होने के कारण आवाज बंद हो गई है। उस समय नमि राजर्षि को यह भान हुआ कि दो के मिलने से सारा दु:ख होता है। उन्हें वैराग्य हुआ और वे घर-बार छोड़ कर मुनि बन गए।

दो के मिलने से द्वंद्व पैदा होता है। कुछ न कुछ समस्या पैदा होती है। एक है तो किससे लड़ेगा? एक से दो हुए कि समस्या शुरू हो गई, इसलिए अकेलेपन का अभ्यास करें। भले ही भीड़ में रहें, किंतु अनुभूति हर समय अकेलेपन की ही रहे। आचार्य भिक्षु ने कहा–गण में रहूं, निरदाव अकेलो। गण में रहता हुआ भी नितांत अकेलेपन की अनुभूति करूं। यह अकेलेपन की अनुभूति भीतर में प्रवेश करने का अवसर देती है। अगर जीवन भर आदमी यह अनुभूति करता रहे कि मेरी समस्या कोई दूसरा दूर नहीं करेगा। मुझे स्वयं अपनी मदद करनी पड़ेगी तो मैं समझता हूं जीवन के समरांगण में उसे कभी पराजय नहीं झेलनी पड़ेगी।

जैन दार्शनिकों ने हर चीज को दो दृष्टियों से देखा–निश्चयनय और व्यवहारनय। किसी चीज को समग्रता से देखने की दृष्टि है निश्चयनय। इससे पूरी सचाई को समझा जा सकता है। निश्चयनय की दृष्टि से विचार करते हैं तो न कोई किसी का पिता, न कोई किसी का पुत्र और न पति है। यद्यपि यह सत्य है कि व्यवहारनय के बिना हमारा काम नहीं चलता, किंतु अध्यात्म की

दृष्टि से निश्चयनय का दृष्टिकोण ही होना चाहिए। रत्नाकर को एक दिन यह बात समझ में आ गई और उसने डकैती का धंधा छोड़ दिया। जब परिवार वालों ने लूटमार के पाप में भागीदार बनने से इनकार कर दिया तब रत्नाकर को एकत्व की अनुभूति हुई। यह एक ध्रुव सचाई है कि कर्म में बंटवारा नहीं होता। ऐसा नहीं होता है कि कर्म का बंध करे परिवार का कोई एक और फल सबको भुगतना पड़े। यहां तो 'अपनी करनी पार उतरनी' का फार्मूला चलता है। इस चिंतन से एक नई चेतना जागृत होती है।

कर्म का कर्ता : भोक्ता

आज अनैतिक आचरण बहुत हो रहा है। अनैतिकता का आचरण करने वाले अगर यह सोचें कि हम जो कर रहे हैं, उसके फल के भागी हम ही होंगे, दूसरा नहीं, तो संभव है उनकी विचारधारा में कुछ बदलाव आए। व्यवहार को कभी छोड़ा नहीं जा सकता, किंतु अंतिम सचाई को हमेशा सामने रखकर चलना चाहिए कि मैं अकेला हूं। कोई दूसरा मेरा नहीं है। इस सचाई को सामने रखकर चलेंगे तो दुःखी नहीं बनेंगे। इसके बिना संबंधों में जो उलझा रहेगा, उसका दुःख कभी मिटेगा नहीं।

आए दिन तरह-तरह की वीभत्स घटनाएं सुनने को मिलती हैं। स्वार्थ आदमी के चिंतन पर इतना हावी है कि उसके सामने संबंधों को तार-तार किया जा रहा है। आदमी जैसे यह मान बैठा है कि वह सदा-सदा के लिए यहीं रहने का पट्टा लेकर आया है। अंतिम सचाई को या तो वह जानता नहीं, या जानकर भी समझता नहीं और समझता भी है तो उसका उसकी दृष्टि में कोई मूल्य और महत्त्व नहीं है। मिथ्या दृष्टिकोण के कारण आदमी पाप-पंक में धंसता चला जाता है और एक दिन उसका करुण अंत हो जाता है।

हम अगर दुःखों को कम करना चाहते हैं तो सचाई का जीवन जीएं, वास्तविकता को समझें। दुःख को मिटाने वाली वास्तविकता यह है कि मैं आत्मा हूं। मैं उत्पादधर्मा हूं। मैं अतीत में था, वर्तमान में हूं और भविष्य में भी किसी न किसी रूप में रहूंगा। मेरी अपनी चेतना या अध्यात्म के सिवाय साथ में कुछ जाएगा नहीं। कृत कर्मों को भोगना अवश्यंभावी है। इन सचाइयों को मानकर चलें और अनुप्रेक्षा के द्वारा इन सचाइयों को पुष्ट करें तो दुःख के वातावरण में रहकर भी आदमी सुखी जीवन जी सकता है। जो इन सचाइयों को नहीं जानता, वह सुख-सुविधाओं में रहता हुआ भी, पदार्थों का अतिशय भोग करता हुआ भी दारुण जीवन जीता है। मैंने तो अपनी आंखों से देखा है

ऐसे लोगों को, जिन्हें दुनिया बड़े घराने का मानती थी और वे मर-मर कर जी रहे थे। दीवार से सिर टकराकर रोते थे।

पचास वर्ष पहले की बात है। आचार्यश्री तुलसी कोलकाता में प्रवास कर रहे थे। उस समय एक वृद्ध महिला आचार्यश्री के पास आई। वह एक बड़े औद्योगिक घराने की थी। दर्शन किए और रोने लगी। आचार्यश्री ने कहा–'क्या हुआ।' उस महिला ने कहा–'बहुत दुःखी हूं महाराज! मेरी जैसी दुखियारी इस दुनिया में शायद ही कोई होगी।' आचार्यश्री ने कहा–'आपका परिवार तो हिन्दुस्तान के चार-पांच चोटी के घरानों में गिना जाता है। किस बात का आपको दुःख है?'

वह बोली–'पति के जाते ही पुत्रों ने कारोबार संभाला। कुछ ही दिन बीते थे कि आपस में खींचतान शुरू हो गई। झगड़े और मुकदमे में चारों मीलें बंद हो गईं। काफी बड़ी मात्रा में रकम देनदारी में चली गई। अब परिवार बिखर गया। मैं एक छोटे से कमरे में एकाकी अपने शेष बचे दिन काट रही हूं।'

तत्त्वज्ञान बहुत जरूरी

यह दुःख कहां से आया? सचाई को न समझ सकने के कारण आया। आप चाहें तो सचाई को समझकर सुख की नींद सोएं और चाहें तो अपनी रात की नींद और दिन का चैन हराम कर लें। सबकुछ आपके अपने हाथ में है। दुःख क्या है? इसे समझना चाहें तो निश्चयनय की धारणा या प्रणाली से समझने का प्रयत्न करें। व्यवहार की सचाई से जीवन तो चला सकते हैं, किंतु सुखी जीवन की शर्त इसमें नहीं है। सुखी बनना है तो अंतिम सत्य को समझना जरूरी है। इसके लिए तत्त्वज्ञान बहुत जरूरी है। आजकल तत्त्वज्ञान में लोगों की रुचि बहुत कम होती जा रही है। तनाव इसीलिए आदमी के जीवन में आया अन्यथा धार्मिक आदमी और तनाव–इन दोनों में कोई संबंध ही नहीं है। धार्मिक है और तनाव का जीवन जीता है, यह बहुत विरोधाभासी बात है।

पुराने लोग मोटे पोथे नहीं पढ़ सकते थे, किंतु पच्चीस बोल अनिवार्य रूप से चितारते थे और पच्चीस बोल में बहुत सारी मोटी-मोटी बातें आ जाती हैं। आज जीवन की आपाधापी में पचीस बोल और थोकड़े का ज्ञान बहुत पीछे छूट गया है। नई पीढ़ी की तत्त्वज्ञान में कोई रुचि नहीं है। सचाई में आएगी कैसे? दुःख और समस्या से मुक्ति पाना चाहते हैं तो तत्त्वज्ञान में रुचि जागृत करें। सचाई को समझें, फिर स्वयं मालूम होगा कि 'नास्ति ज्ञानात् परं सुखं' ज्ञान से बड़ा और कोई सुख नहीं है।

27. सुखी जीवन की पराकाष्ठा : संतोष

प्रश्न होता है–सुखी कौन? पदार्थ जगत में जीने वाला व्यक्ति कहेगा–'जिसके पास सारी सुविधाएं और साधन हैं, वह सुखी है, किंतु यह उत्तर सही नहीं है। एक व्यक्ति के पास अच्छा भवन है, अच्छी कारें, बड़ी फैक्ट्रियां और कई फार्म हाउस हैं, फिर भी उसे नींद नहीं आती। दवाओं और गोलियों के द्वारा जबर्दस्ती नींद लाने का प्रयत्न करता है। दो आदमी मिले। एक ने पूछा–'सब ठीक तो है?' दूसरे ने कहा–'और तो सब ठीक है, किंतु बिस्तर पर जाने के बाद मुझे तीन-चार घंटे तक नींद नहीं आती।' ऐसे आदमी को सुखी कैसे मानें?

सुखी कौन?

सुख का एक लक्षण बतलाया गया–सुखं स्वपिति, सुखं प्रबुद्ध्यते–जो सुख से सोता है, सुख से जागता है। यह सुखी होने का लक्षण है। आज दुनिया की आबादी का एक बड़ा हिस्सा नींद की गोलियों पर आश्रित हो गया है। सुख से सोने का सुख उनको नसीब नहीं है। सोने के लिए गोलियां हैं, जगाने की गोलियां भी होती होंगी।

एक समय था, जब समय की कीमत आंकी जाती थी, समय का प्रबोध था। दस बजे सोना और चार बजे उठ जाना, यह स्वास्थ्य के लिए हितकारी है। चार बजे यानी ब्रह्म वेला में उठने का अपना एक महत्त्व है। प्राचीन योगविदों ने इसे ब्रह्ममुहूर्त्त कहा है। जो ब्रह्ममुहूर्त्त में उठता है, वह शरीर से भी स्वस्थ रहता है, मन से भी स्वस्थ रहता है।

आज की जीवन-शैली से आदमी की दिनचर्या बहुत अस्त-व्यस्त हुई है। एक निशाचरी संस्कृति का उदय हुआ है। आज आदमी के कार्यकलाप रात को ग्यारह बजे शुरू होते हैं और वह चार-पांच बजे बिस्तर में जाता है। इसने प्राचीन काल से चली आ रही सारी चर्या को उलट-पुलट कर दिया।

जो सुख से सोता है, वही वास्तव में सुखी है। जिसे नींद के लिए गोलियां लेनी पड़े, जो दिन चढ़े तक सोता रहे, उसे सुखी नहीं कहा जा सकता। पूज्य

कालूगणी ठीक चार बजे उठ जाते। छह दशक से ज्यादा आचार्य तुलसी को मैंने देखा। वे भी चार बजे उठ जाते थे। हम भी चार बजे उठ जाते हैं। ऐसा क्यों, इसलिए कि हमें विरासत में मिला है और इसके महत्त्व को जानते हैं।

आजकल छोटे हों या बड़े-सबको देर से जागने की आदत हो गई है। एक छोटा लड़का बहुत देर से जागता था। एक दिन मां ने उसे झकझोर कर जगाया और कहा–'आंख खोलकर देखो, सूरज कितना ऊपर चढ़ गया है।' बच्चे ने कहा–'मां सूरज से मेरी क्या तुलना करती हो? वह तो शाम होते ही चला जाता है। मैं तो रात के दस बजे सोता हूं।'

दिनचर्या के प्रभावित होने का परिणाम यह हुआ कि जीवन में जितना आनंद, जितनी मस्ती और खुशहाली होनी चाहिए, वह नहीं है। क्यों नहीं है, इस पर अगर हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो इसका विज्ञान सम्मत तर्क यह है कि चार बजे से लेकर सूर्योदय तक मेलाटोनिन नामक रसायन का स्राव होता है। यह आदमी में स्फूर्ति बनाए रखता है। मेलाटोनिन द्वारा होने वाला स्राव आदमी को मस्ती में रखता है। इस स्राव का समय है लगभग चार बजे से सूर्योदय तक का। पुरानी भाषा में कहें तो ब्रह्ममुहूर्त्त का समय आनंदप्रद और स्वास्थ्यप्रद होता है। विज्ञान की भाषा में कहें तो इन रसायनों के स्राव आदमी को प्रसन्न, तरोताजा और खुशहाल रखते हैं।

सुख से सोना और सुख से जागना सुखी होने का एक लक्षण है। इससे और आगे जाएं तो एक परिभाषा यह होगी कि सुखी वह है, जिसके पास धन तो बहुत है, किंतु उसका उपभोग बहुत कम करता है। जो पदार्थ का ज्यादा उपभोग करता है, वह आदमी सुखी नहीं हो सकता। भगवान महावीर के समय श्रमणोपासक आनंद बहुत बड़ा किसान था। उसके पास इतनी संपदा थी, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, किंतु उसका जीवन बहुत सादा था। उसका उदाहरण आज भी दिया जाता है। उसके रहन-सहन में संयम, खान-पान में संयम, वाणी और समस्त क्रियाओं में संयम था। वह एक तरह से संयम की प्रतिमूर्ति था। आनंद उसका नाम था और उसने जीवन पर्यंत आनंद का ही जीवन जीया।

पदार्थ व तनाव

जो पदार्थ का जितना ज्यादा उपभोग करता है, उसका तनाव में जाना निश्चित है। हम संयम के अर्थ को समझने का प्रयत्न करें। संयम यानी उपभोग का सीमाकरण। जो उपभोग का संयम नहीं करता, पदार्थ में हर समय लिप्त

रहता है, आसक्त रहता है, वह हर समय तनाव में रहेगा। यह वस्तु चली गई, आज वह चला गया, कारोबार में ऐसा हो गया–ये सारी चीजें उसे तनावग्रस्त बनाती रहेंगी। तनाव का एक बहुत अच्छा रास्ता है। आजकल का शेयर बाजार। शेयर बाजार में जैसे उतार-चढ़ाव आते हैं, ठीक उसी प्रकार से शेयर मार्केट के कारोबारियों के तनाव में भी उतार-चढ़ाव आता रहता है। पुराने जमाने में सट्टा चलता था तो कहा जाता था कि सट्टे का धंधा करने वाला भी कभी सुख से नहीं जीता। अब ठीक वही बात शेयर मार्केट के बारे में भी कही जा सकती है।

धन पदार्थ है, उपयोगी है। उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, किंतु धन के प्रति आसक्ति और मोह तथा उसका असीमित उपभोग, यह आदमी की जिंदगी को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है। बाना एक छोटा सा गांव है। यहां के निवासी प्रायः किसान और मजदूर हैं। खाने में चार-पांच द्रव्यों से ज्यादा चीजों का उपभोग नहीं कर पाते होंगे। मुम्बई, दिल्ली या कोलकाता के किसी बड़े आदमी की टेबल पर जाकर देखें तो खाने की इतनी सामग्री होती है कि कम से कम अंगुलियों पर तो उनकी गिनती नहीं कर पाएंगे। गांव का आदमी इसीलिए सुखी है कि सहज ही उसके संयम हो रहा है। अगर वह मान ले कि कमी है, तो वह भी दुःखी बन जाएगा।

शहर का आदमी इसलिए सुखी नहीं है कि बहुत ज्यादा खाता है। इतनी चीजें खाता है जो जरूरी नहीं हैं। जितनी जरूरत उतना पदार्थ का उपभोग यह तो समझ में आने वाली बात है, किंतु अनावश्यक उपभोग तो केवल इन्द्रियों की मांग को पूरा करता है, वह दुःख का कारण बनता है। इन्द्रियां पदार्थ की मांग करती है और फिर सताती भी है, कष्ट भी देती है। आचार्य भिक्षु ने लिखा–एक आदमी तड़फ रहा है, कराह रहा है। वैद्य को बुलाया गया। वैद्य ने पूछा–'क्या हुआ, तुम्हें क्या तकलीफ है?' तकलीफ पाने वाला जानता है कि ज्यादा खाने से यह हालत हुई है, किंतु इस बात को स्वीकार नहीं करता कि मैंने ज्यादा खा लिया। वह कहता है कि मुझे कोई बुरी बला लग गई है। कोई हवा लग गई है, लेकिन स्वीकार नहीं करता कि जीभ की लोलुपता के कारण, खाने की मात्रा का अतिक्रमण किया, उसका यह परिणाम है।

अनिर्वचनीय सुख

पदार्थ के प्रति आदमी की इतनी आसक्ति है कि वह उसे चाहकर भी छोड़ नहीं सकता। पुराने जमाने के श्रावक दिनचर्या का बहुत ध्यान रखते थे। प्रतिदिन

कुछ न कुछ संकल्प करते थे। इसे चौदह नियम का चितारना कहते थे। 'आज इतनी वस्तुओं से ज्यादा का सेवन नहीं करूंगा।' इस भाषा में संकल्प करते थे। आज वह मर्यादा टूटती जा रही है। आज अनावश्यक यात्राएं बहुत हो रही हैं। कुछ लोग मात्र मनोरंजन के लिए मोटरकार को चालीस-पचास मील दौड़ा देते हैं। माना कि आपके पास बहुत पैसा है, महंगा पेट्रोल भी आपके लिए कोई मायने नहीं रखता, लेकिन निरर्थक दौड़ने-भगाने का क्या मतलब? पेट्रोल और डीजल के दाम आकाश को छू रहे हैं, किंतु जिस संख्या में गाड़ियां सड़कों पर दौड़ रही हैं और जिस संख्या में नई-नई गाड़ियां खरीदी जा रही हैं, इससे ओटोमोबाइल का बाजार प्रभावित हुआ है। यह अपव्यय और अनावश्यक खर्च कोई सुख में बहुत बढ़ोतरी नहीं कर रहा है। आपके पास चार गाड़ियां हैं तो क्या जरूरी है कि कोई अन्य मॉडल की गाड़ी देखो और शाम को लाकर गैरेज में खड़ी कर दो।

अनावश्यक खाना और चीजों का अनावश्यक असीमित उपयोग करना, पानी का अनावश्यक व्यय करना, यह आज की समस्याएं बन गई हैं। इन समस्याओं के बीच जी रहे आदमी को सुखी कैसे माना जाए? सुखी वही होता है, जो धन होने पर भी, सारे साधन और सुविधाएं होने पर भी कठिनाई का जीवन जीता है, संयम का जीवन जीता है। बाहर से तो उसे कठिनाई का जीवन दिखाई देता है, किंतु भीतर में उसके सुख का स्रोत प्रवाहित होता है। उसे अनिर्वचनीय सुख का अनुभव हर क्षण, हर समय होता है। चिंतामुक्त और तनावमुक्त जीवन से बढ़कर भी भला कोई और जीवन होता है?

पूज्य डालगणी तेरापंथ के आचार्य बने। वे गांव में विराज रहे थे। अब तक उन्हें आचार्य बनने की सूचना नहीं मिली थी। उनकी अनुपस्थिति में उन्हें आचार्य बनाया गया, यह तेरापंथ संघ की एक विलक्षण घटना है। जोधपुर के भंडारीजी सूचना देने गए। वे जाकर देखते हैं कि डालगणी के साथ रहने वाले संत भिक्षा लेने गए हैं और डालगणी बैठे हुए बाजरे की सूखी रोटी खा रहे हैं। कितना सुख रहा होगा? रूखी रोटी खाने का भी अपना सुख है। आपमें से बहुत कम लोगों को या शायद किसी को भी यह अनुभव नहीं होगा बिना साग दाल या छाछ के कोरी रूखी रोटी को खाने का। अगर खाएं तो पता चले कि बाजरी में भी कितनी मिठास है और गेहूं में कितनी मिठास है?

संयम करें, सुखी बनें

अगर सुखी बनना है तो संयम के सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं है। दुनिया का कोई भी वैज्ञानिक चाहे कितनी ही खोज कर ले, लेकिन आदमी

को सुखी बनाने का वह कोई पदार्थ आविष्कृत नहीं कर सकता। कोई साधन खोज नहीं सकता। सुख मिलेगा तो संयम और संतोष से मिलेगा, अन्यथा नहीं मिलेगा। दुनिया के किसी भी अंचल में चले जाएं, जहां धरती पर सारी प्रभुता बिखरी पड़ी हो, प्रचुर साधन सुलभ हो, संतुष्टि का भाव मन में नहीं है तो सुख नहीं मिल सकेगा। आज कहा जाता है कि चीन की वस्तुएं भारत के बाजारों पर छाई हुई हैं। बाजारों में नहीं, लोगों के मन पर छाई हुई हैं। छाई है तो छाई रहें, उनसे यह तो नहीं माना जा सकता कि उनसे सुख बढ़ा है।

दो-चार पीढ़ी पहले आपके पूर्वज गांवों में रहते थे। सुविधाएं कम थीं। कच्चे मकान, झोंपड़े, खाने को मोटा अनाज और पहनने को मोटे कपड़े थे, पर आज के समय से अगर तुलना करें तो पता चलेगा कि पूर्वज जितना सुख का जीवन जी गए, उतना आज प्रचुर संपदा और साधनों का स्वामी बनकर भी आपको नहीं मिल रहा है। सुख भोगने वाले पुराने लोग चले गए। उनका जीवन जिन्होंने देखा, वे आज तुलना करें तो आज के आदमी को बहुत गरीब और दुःखी पाएंगे, अशांत पाएंगे।

इसके आधार पर हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सुखी वह है, जो पास में होने पर भी उसका उपभोग नहीं करता। किसी कंजूसी के कारण नहीं, अपने संयम और संतोष के कारण। बहुत सारे लोग उपवास और तपस्या करते हैं। उसमें उन्हें आनंद की अनुभूति होती है। परिवार में दस आदमी हैं। उनमें से नौ आदमी तो पेट भर कर खाते हैं और एक आदमी वर्षीतप कर रहा है, एकांतर कर रहा है। एक दिन खाता है और एक दिन नहीं खाता। एक आदमी घर में प्रचुर मात्रा में दूध होने पर भी उसका उपभोग नहीं करता, घी है, पर वह उसका सेवन नहीं करता, साधारण और रूखा भोजन करता है। अगर उसे सुख का अनुभव न हो तो एक-दो दिन तो वह छोड़ सकता है, तीसरी बार वह नहीं छोड़ सकता। जो व्यक्ति पदार्थ के त्याग का मूल्य समझ लेता है, वह ऐसा कर सकता है।

दो गिलास पानी

एक तपस्वी साधु नगर में आया। उसकी प्रसिद्धि सुनकर राजा भी उसके पास गया। राजा से बातचीत शुरू हुई तो उसने व्याख्यान देना शुरू कर दिया। आदमी में अपनी प्रसिद्धि को, अपने वैभव को दूसरों के सामने प्रदर्शित करने की सहज प्रवृत्ति होती है। राजा ने कहा–'आप मेरे महल में पधारें और शान-शौकत देखें।' जब आदमी में अहंकार होता है तो उसकी भाषा भी गर्वीली हो जाती है। राजा ने कहा–'दुनिया की ऐसी कोई अनमोल चीज नहीं है, जो

मेरे पास न हो। इसके लिए मैंने दूर देशों की यात्राएं की हैं और जो भी अच्छी चीज देखी उसको खरीद लाया।' राजा अपनी समृद्धि का बखान करता रहा और साधु चुपचाप सुनता रहा। कभी-कभी सुनना चाहिए। हमारे पास एक भाई आया और बोला–'महाराज! मेरी लड़की की शादी मैंने दिल्ली के सबसे आलीशान होटल ताज पैलेस में की। शादी में शामिल होने वाले लोग कहते हैं, ऐसी शानदार बारात हमने जीवन में नहीं देखी।' मैं उसकी बात सुनता रहा। जब वह पूरा वृत्तांत सुना चुका तो मैंने कहा–'तुमने इतना सब किया, लेकिन हॉस्पिटल बनाया या नहीं?' वह मेरे प्रश्न का आशय नहीं समझ सका। मैंने कहा–'तुमने अभी कहा कि खाने में इतने आइटम रहे कि लोग अंतिम तक पहुंच ही नहीं सके। पैंतीस-चालीस चीजें ही खा सके। इतनी चीजें खाने के बाद तो निश्चित रूप से अस्पताल की शरण लेनी पड़ती है। उसका प्रबंध किया या नहीं?'

शायद इसी लहजे में उस संन्यासी ने राजा से प्रश्न किया–'राजन! तुमने इतनी समृद्धि गिनाई। क्या तुम अपने धन-वैभव का मूल्य जानना चाहोगे?' राजा ने उत्सुकता से कहा–'बताएं महाराज! मेरे धन का मूल्य कितना होगा?' उसे विश्वास था कि साधु महाराज मेरी दौलत का मूल्य अरबों-खरबों में बताएंगे। संन्यासी ने कहा–'राजन्! आपकी सारी संपदा का मूल्य मात्र पानी के दो गिलास हैं।' संन्यासी की बात सुनकर राजा का मुंह सूख गया। वह ठगा-सा रह गया, फिर किंचित् नाराजगी में कहा–'जरा बताइए तो कैसे?' संन्यासी ने कहा–'इसका उत्तर भी आपको मिल जाएगा, किंतु उससे पहले आप मेरे कुछ सवालों का जबाब दें।' राजा ने कहा–'पूछें।'

संन्यासी ने कहा–'आप शिकार के शौकीन हैं। मान लीजिए आप शिकार के लिए जंगल में गए। आपके सैनिक और राज्य के कर्मचारी आपके साथ हैं। संयोग से आप अपने काफिले से बिछुड़ जाते हैं। जंगल में भटकते हुए आप थक जाते हैं और आपको भीषण प्यास लगती है, किंतु आसपास कहीं पानी दिखाई नहीं देता। प्यास के कारण कंठ सूख जाता है और मृत्यु सिर पर खड़ी दिखाई दे रही है। ऐसे में कोई चरवाहे की नजर आप पर पड़ती है, वह आपके पास आता है। उसके पास पानी से भरी एक तुंबी है। उस तुंबी से वह एक गिलास पानी पिलाकर आपकी जान बचा लेता है तो आप उसे क्या देंगे।'

राजा ने कहा–'जान से बड़ी कीमत और क्या होती है? मैं उसे अपना आधा राज्य दे दूंगा।' संन्यासी ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा–एक गिलास

पानी से आपकी जान बच गई, लेकिन भीषण गर्मी के मौसम में पानी पीते ही भयंकर रूप से आपको मूत्रावरोध हो गया। उससे असह्य पीड़ा होने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे प्राण अब गए, अब गए। उस समय कोई उपचार करके, मूत्रावरोध समाप्त करके आपको प्राणदान दे दे तो आप उसे क्या देंगे?' राजा ने कहा–'मैं उसे अपना शेष आधा राज्य दे दूंगा।'

संन्यासी ने कहा–'राजन्! फिर मैंने आपके राज्य का मूल्यांकन गलत कहां किया? आधे राज्य की कीमत एक गिलास पानी पिलाने का और आधे राज्य की कीमत एक गिलास पानी निकालने का। मैंने दो गिलास पानी आपके राज्य का मूल्य बताकर गलत बात क्या कही?' राजा का सारा अहंकार विगलित हो गया। उसका सिर झुक गया। कुछ बोल नहीं सका। बात जब मूल्यांकन की होती है तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जीवन से ज्यादा मूल्य और किसी चीज का नहीं है, किंतु उसी अमूल्य जीवन के साथ हम कितना खिलवाड़ करते हैं। भाग्य से यह मनुष्य जीवन मिला है तो इसे सही तरीके से जीना भी तो सीखें। सबकुछ होते हुए भी उससे निर्लिप्त रहना, यह एक बड़ी साधना है। किसी को यह स्वभाव से ही प्राप्त होती है, कोई इसे साधना और अभ्यास के द्वारा प्राप्त करता है। जरूरी है कि पदार्थ को पदार्थ ही समझें। उस पर पूर्णरूप से आश्रित न हों।

सुखी कौन? जिसमें अहिंसा की चेतना जाग गई, वह आदमी सुखी है, जिसमें हिंसा की चेतना जागृत है, वह सबकुछ पाने पर भी कभी सुखी नहीं बन सकता।

भूख किसकी?

सिकन्दर ने किसी नगर को जीता। उस नगर की महिलाएं पंक्तिबद्ध सिकन्दर के स्वागत में आईं। उस समय सिकन्दर को बेहद भूख लगी थीं। महिलाओं ने थाल सिकन्दर के सामने पेश किए। क्षुधा से व्याकुल सिकन्दर ने पात्र के ऊपर से जैसे ही मखमली वस्त्र हटाया, थाल को मोती, माणक और जवाहरातों से भरा पाया। उसने क्रोध में थाल उठाकर फेंक दिया। एक बुजुर्ग महिला ने कहा–'सम्राट क्रोध शांत करें। आप मेरी एक बात का उत्तर देंगे?' सिकन्दर ने कहा–'इतने अपमान के बाद भी तुम प्रश्न पूछना चाहती हो। मैंने भोजन की बात कही तो मेरे सामने हीरे-मोतियों का थाल पेश किया गया। यह सरासर मेरी अवमानना और मेरा अपमान है।'

उस महिला ने कहा–'आप दूसरों को सोने-चांदी, हीरे-जवाहरात और रत्नों के लिए ही तो जीतते और लूटते हैं। आपको कहीं रोटी लूटते नहीं देखा गया। हम लोगों की समझ में आ गया कि आपको हीरे-पन्नों की भूख है, इसीलिए भोजन के रूप में आपको वही पेश किया गया। हम आपकी इच्छा का सम्मान कर रहे हैं। आपकी अवमानना और निरादर की बात तो हम कभी सोच भी नहीं सकते। पराधीन नागरिक आपके अपमान की धृष्टता कैसे कर सकते हैं?'

सिकन्दर को ऐसा बोधपाठ मिला कि वह ठगा-सा उस महिला का मुंह देखता रह गया। उसी समय लूटा हुआ सारा धन एक जगह इकट्ठा कर नागरिकों को बांट दिया। जब सही दृष्टि हमारे सामने आए तो आदमी की हिंसा की भावना बदल सकती है।

अहिंसा को समझने का प्रयत्न करें और उसको जीवन में उतारें। अगर ऐसा होता है तो हम कह सकते हैं कि वह आदमी सुखी है, जिसमें अहिंसा की चेतना जागृत है।

28. सुखी और शांत जीवन का रहस्य

आज के युग में शुद्ध चीज मिलना मुश्किल है। हवा-पानी और वनस्पतियों में जहर घुलता जा रहा है। सभी प्रमुख नदियां भयंकर रूप से प्रदूषित हो चुकी हैं। पहले साधना के उद्देश्य से लोग हिमालय की शरण लेते थे। यह माना जाता था कि साधना के लिए वह सबसे विशुद्ध और उपयुक्त स्थान है, लेकिन अब कहा जा रहा है कि हिमालय भी प्रदूषण से नहीं बचा है। पर्यटन और पर्वतारोहण के शौक ने हिमालय पर भी हजारों टन कचरा बिखेर दिया है। यही स्थिति रही तो आने वाले भयावह दिनों की सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है। बाजार से कोई खाद्य सामग्री खरीद कर लाते हैं, अगर वह शुद्ध निकले तो भाग्य, अन्यथा असली-नकली की पहचान अब मुश्किल होती जा रही है। लाते हैं असली और निकल जाता है नकली। इस संदर्भ में एक रोचक प्रसंग है–

मिलावट का असर

एक आदमी ने विषम परिस्थितियों के सामने घुटने टेक कर आत्महत्या की बात सोची। सोची ही नहीं, उसने क्रियान्वित करने का प्रयत्न भी किया। बाजार से जहर खरीद कर लाया और शाम को उसे खाकर सो गया। सोचा था जहर खाने के बाद जीवन से छुटकारा मिल जाएगा। जीवन की आखिरी रात समझकर सोया, लेकिन गहरी नींद के बाद सवेरे जागा तो उसने अपने आपको सही-सलामत पाया। जहर मिलावटी रहा होगा, असर नहीं दिखा सका।

उस व्यक्ति के मन में फिर से जिजीविषा जागी। सोचा, मैंने कितनी बड़ी मूर्खता की थी। परिस्थितियों से प्रताड़ित केवल एक मैं ही तो नहीं हूं, दुनिया में और लोग भी तो हैं जो मुझसे भी ज्यादा गरीब और परेशान हैं। सब आत्महत्या तो नहीं कर लेते। मेरा मर जाना शायद विधि को भी मंजूर नहीं था। चलो, आज से नया जीवन शुरू करता हूं। ऐसा सोचकर उसने उस दिन को अपने जीवन का नया प्रभात समझा। बड़ी खुशी मनाई और बाजार से मिष्ठान्न और दूसरी चीजें खरीदकर लाया। उन्हें खाकर सोया तो फिर कभी नहीं उठा। बाजार से खरीदा

हुआ जहर नकली था, इसलिए बच गया, लेकिन बाजार से ही खरीदी मिठाई भी नकली और मिलावटी थी, इसलिए जीवन से हाथ धो बैठा।

एक बार एक डॉक्टर ने मुझसे कहा–स्वास्थ्य के लिए आपको धुएं और धूल से बचना चाहिए। खाने में कुछ पथ्य भी बताए। मैंने कहा–जहां तक आहार में पथ्य की बात है, वह हमारे हाथ में है और मैं उसका पालन कर सकता हूं, करूंगा, लेकिन धूल और धुआं तो हमारे हाथ की बात नहीं है। हम यायावर हैं, एक स्थान पर नहीं रहते और अभी तो हम अहिंसा यात्रा पर हैं। सड़क मार्ग के पैदल यात्री हैं, धूल और धुएं से बचाव कर पाना हमारे लिए कितना संभव है? हम केवल इतना कर सकते हैं कि आंतरिक अशुद्धि से अपना बचाव कर सकते हैं। वह हमारे वश की बात है। भीतर की गंदगी से हम बचें। अगर इतना कर सकें तो शायद हम सुख से जी सकते हैं।

एक आदमी हर समय प्रसन्न रहता था। विषाद की काली छाया कभी उसके चेहरे पर दिखाई नहीं दी। वह कोई बहुत धनी और ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित आदमी नहीं था, न उसके पास कोई साधन-सामग्री थी, अभावों में पलने वाला एक सामान्य आदमी था, लेकिन लोगों के लिए वह आश्चर्य का विषय इसलिए बना हुआ था कि कभी किसी भी परिस्थिति में वह उदास और निराश नहीं होता था। हंसना-मुस्कुराना उसका स्थायी स्वभाव बन गया था। एक व्यक्ति ने उसकी सदाबहार प्रसन्नता का रहस्य पूछा तो उसने कहा–

अशुद्धाः स्मृतयो नष्टा शुद्धसंकल्पवाहं।
चिंतनं निर्मलं भाति, सुखं जीवाम्यहं ततः॥

मेरी अशुद्ध स्मृतियां नष्ट हो चुकी हैं। अतीत को भुलाने का मेरा अभ्यास है। अशुद्ध और बुरी कल्पनाओं से मैं मुक्त हूं। मेरे चिंतन और विचार निर्मल हैं, इसी कारण मैं शांति और प्रसन्नता का जीवन जीता हूं।

सोच रहे सकारात्मक

कुछ लोग अतीत से इतने गहरे जुड़ जाते हैं और बंध जाते हैं कि उससे अपना पीछा नहीं छुड़ा पाते। सोते-जागते, बीती बातों में ही खोए रहते हैं। उन्हें नहीं पता कि अतीत सुख देता है तो बहुत दुःख भी देता है। स्मृतियां सुखद हैं तो कल्पना में हर समय वे ही छाई रहती हैं। बात-बात में आदमी जिक्र छेड़ देता है कि मैंने तो वह दिन भी देखे हैं कि मेरे एक इशारे पर सामने क्या-क्या नहीं हाजिर हो जाता था। क्या ठाट थे? शहंशाही का जीवन जीया। खूब कमाया और खूब लुटाया। मेरी चौखट पर बड़े-बड़े लोग माथा रगड़ते थे। दिल्ली

तक हमारी पहुंच थी। एक फोन से घर बैठे कितने लोगों के काम करवा देता था– इस तरह की न जाने कितनी बातें लोगों के सामने करते हैं। इससे उन्हें एक अव्यक्त सुख मिलता है तो उससे कहीं ज्यादा दुःख मिलता है कि अब वैसे दिन शायद नहीं आएंगे। इन स्मृतियों से होता-जाता कुछ भी नहीं, ये कोरी कल्पनाएं हैं। इनसे दुःख के सिवाय और कुछ नहीं मिलता।

दूसरी बात–किसी का अनिष्ट चिंतन करना स्वयं को भारी बनाना और अपनी प्रसन्नता को लुप्त कर देना है। किसी का बुरा चाहने वाला और बुरा सोचने वाला कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। वह ईर्ष्या और द्वेष की आग में हर समय विदग्ध होता रहता है। मलिनता हर समय उसके चेहरे पर दिखाई देगी। एक अव्यक्त बेचैनी उस पर छाई रहेगी। उद्विग्न और तनावग्रस्त रहना उसकी नियति है। वह कभी सुख से नहीं जी सकता।

योगविद्या के जानकार और मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि प्रसन्नता को कायम रखना है तो एक भी बुरा विचार मन में नहीं आना चाहिए। मन में एक भी बुरा विकल्प आया तो वह तुम्हारे अहित का रास्ता खोल देगा। दूसरे के लिए सोची गई बुरी बात तुम्हारे जीवन में ही घटित हो जाएगी, इसलिए जागरूक रहें, इस बात के लिए कि मन में कोई बुरी कल्पना न आए। कल्पना और सपना एक ही बात है। कल्पना हो तो सकारात्मक हो। जीवन में कुछ बनने के लिए सपने देखने जरूरी हैं, लेकिन उसी के अनुरूप पुरुषार्थ भी होना चाहिए। सिर्फ कल्पना करने, सपने देखने से काम नहीं चलता, लेकिन बुरी कल्पना और बुरे सपने तो हानि के सिवाय कुछ नहीं देंगे।

चिंतन शुद्ध है तो यथार्थ का ज्ञान होता है और आदमी सुखी रहता है। विडंबना यह है कि आदमी स्वस्थ चिंतन नहीं करता। अपनी गरीबी से ज्यादा उसे दूसरे की अमीरी सताती है। जितना उसके पास है, उससे ज्यादा मुझे और अधिक क्यों नहीं मिला, इस बात की असंतुष्टि सताती है। निर्मल, पवित्र और यथार्थ चिंतन आदमी को हमेशा प्रसन्न रखता है।

स्मृति विकास का एक बड़ा आधार बनती है। स्मृति बढ़ाने के लिए विद्यार्थी कितने प्रयोग और प्रयत्न करते हैं। आज स्मृति की उपयोगिता कुछ कम हुई है। आदमी कम्प्यूटर और उसके जैसे दूसरे उपकरणों पर आश्रित होता जा रहा है। उसे अपनी मेमोरी पर नहीं इलेक्ट्रोनिक उपकरणों की मेमोरी पर ज्यादा भरोसा है। इस कारण आदमी के आत्मविश्वास में भी कमी आती जा रही है, लेकिन उपकरण को चलाने वाला भी तो आदमी ही है। मशीन तभी

चलेगी, जब आदमी उसे चलाएगा। वह वही बताएगी, जो उससे पूछा जाएगा। आदमी से अगर पूछने में भूल हो गई तो मशीन तो जड़ है। वह यह नहीं सोचेगी कि संचालक से भूल हो गई, मैं उसकी भूल सुधार दूं। स्मृति बहुत बड़ी चीज है। स्मृति के आधार पर इतने लोग दूर-दूर से यहां आए हैं और उसी के आधार पर कुछ समय बाद सब यहां से अपने-अपने घर चले जाएंगे। अगर स्मृतिभ्रंश हो जाए तो सबके लिए कठिनाई हो जाएगी। अपने घर जाने की बजाय किसी दूसरे के घर पहुंच जाएंगे।

कल्पनाशील बने

दूसरी है–कल्पना की शक्ति। यह भी बहुत उपयोगी है। इतना विशाल भवन है, यह कल्पना के आधार पर बना है। आर्किटेक्ट ने अपनी कल्पना के आधार पर एक नक्शा बनाया। पहले इस भवन ने उसकी कल्पना में आकार लिया। उसको उसने कागज पर नक्शे के रूप में उतारा। मिस्त्री ने उस नक्शे के आधार पर ईंट, पत्थर, सीमेंट और लोहे से इस भवन को खड़ा कर दिया। कौन कहेगा कि कल्पना कोई बुरी चीज है? जो कोई भी मालिक या मुखिया, चाहे वह परिवार का हो, समाज का हो, प्रदेश का या देश का हो, अगर वह कल्पनाशील नहीं है तो वह अपने परिवार, समाज, प्रदेश और देश को आगे नहीं ले जा सकता।

विकास का पथ

तीसरी है–चिंतन की शक्ति। चिंतन के द्वारा आदिम जाति ने अपना बहुत विकास किया है। कुछ लोग स्वभाव से ही चिंतनशील होते हैं। कुछ लोग अभ्यास के द्वारा अपने चिंतन का विकास कर लेते हैं। आदमी अपने जीवन में रोजमर्रा के कितने काम करता है, अगर उसमें चिंतन न हो तो जीवन में पग-पग पर कठिनाई खड़ी हो जाए। चिंतन के कारण ही वह मितव्ययी बनता है। चिंतन के कारण ही उसमें उपयोगी और अनुपयोगी का विवेक जागता है। यथार्थ और अयथार्थ का ज्ञान भी उसे चिंतन के द्वारा ही होता है। उसे मालूम है वस्त्र, मकान और भोजन की क्या उपयोगिता है? वह कैसे तैयार होता है? इसलिए वह हर चीज का मूल्यांकन करता है, किसी चीज का अपव्यय नहीं करता। चिंतन के अभाव में न तो श्रम का मूल्यांकन होता है और न श्रमिक के जीवन का मूल्यांकन होता है। यहीं से पैदा होती है क्रूरता और शोषण की मनोवृत्ति। क्रूरता और हृदयहीनता आदमी के चिंतन के दारिद्र्य का परिणाम है। उसका सारा चिंतन स्वयं के दायरे में सिमट कर रह जाता है। स्मृति, कल्पना और चिंतन–इन तीनों शक्तियों का प्रयोग आदमी करे तो सुख से जी सकता है। इनके अभाव में आदमी जीएगा, लेकिन जीवंत जीवन नहीं जी पाएगा।

29. घर के दरवाजे बंद करें

पूरे विश्व की स्थिति का आकलन करें तो पाएंगे कि लोग बहुत दुःखी हैं। सबके सामने समस्याएं हैं। समाज में गरीबी, अपराध, हिंसा, लूट, अपहरण आदि की घटनाएं बढ़ती जा रही हैं। दूसरी ओर देखेंगे तो पाएंगे कि सुविधा और साधनसंपन्न लोग भी हैं, जो ऐशो आराम का जीवन जी रहे हैं। दोनों तरह की स्थितियां हैं।

जब दुःख के कारणों पर विचार करते हैं तो अजीब सी स्थिति सामने आती है। कोई परिवार बड़ा होने के कारण दुःखी है तो कोई परिवार न होने के कारण दुःखी है। कोई अपने अकेलेपन से दुःखी है तो किसी को उसका पड़ोसी सता रहा है, इसलिए दुःखी है। किसी को अपनी पत्नी दुःख दे रही है तो किसी को बॉस दुःख दे रहा है। अपना काम अपने हाथ से करना पड़ता है, कोई इस कारण से दुःखी है तो किसी को उसका नौकर दुःखी कर रहा है। अपने और परायों से दुःखी समाज में अनेक लोग मिल जाएंगे। दूसरों पर आरोपण करने की आदमी की सहज वृत्ति होती है। इस बात पर कोई विचार करना नहीं चाहता कि अपने दुःख का कारण कहीं मैं स्वयं तो नहीं हूं?

एकमात्र तत्त्व

जैन दर्शन का एक सिद्धांत है आत्मकर्तृत्ववाद। भगवान महावीर की वाणी है–

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

अपनी आत्मा ही सुख और दुःख की कर्ता है। सुख देने वाली अपनी ही आत्मा और दुःख देने वाली भी अपनी ही आत्मा है। दूसरा कोई निमित्त बन सकता है, लेकिन वह हमें सुखी या दुःखी नहीं बना सकता। एक आदमी गाली देता है, सामने वाला दुःखी बन जाता है, लेकिन ऐसे आदमी भी हैं, जो गाली पर कोई ध्यान नहीं देते या हंस कर टाल देते हैं। उन पर कोई असर नहीं

होता। प्राचीन संतों और साधकों का इतिहास हमारे सामने है कि लोग उन्हें गाली देते रहे और वे मुस्कुराते रहे। इसका कारण यह है कि जिस व्यक्ति ने यह समझ लिया कि सुख-दुःख का कर्ता अपनी आत्मा है, वह कभी दुःख का वेदन नहीं करेगा।

जिस व्यक्ति ने अपनी आत्मा को और कर्म के सिद्धांत को समझ लिया, उसके लिए दुनिया में दुःख बहुत कम है। जिसने इन दोनों को समझने का प्रयत्न नहीं किया, जिसमें सारे आरोप दूसरों पर मढ़ने की प्रवृत्ति है, उसके लिए दुनिया में सुख बहुत कम और दुःख बहुत ज्यादा है।

एक आदमी जो कर्मबंध के सिद्धांत को नहीं मानता, मुझे उस आदमी को धार्मिक कहने में कठिनाई होगी। धार्मिक आदमी कुछ भी करने से पहले इस पर विचार करेगा कि इससे मेरी चेतना या आत्मा प्रभावित हो रही है या नहीं? कहीं मैं ऐसा कर्मबंध तो नहीं कर रहा हूं, जो अंततः मुझे दुःखी बनाए और मेरी आत्मा को मलिन करे। धार्मिक व्यक्ति इस पहलू पर विचार जरूर करेगा। जिसे कर्मवाद पर विश्वास नहीं, वह आंख मूंद कर सबकुछ करेगा। गलत कार्य से रोकने वाला, बचाने वाला एकमात्र तत्त्व है कर्मबंध का विवेक।

कर्मवाद का सिद्धांत यह है कि कृत कर्मों को भोगना ही पड़ेगा। अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है और बुरे कर्म का बुरा फल। यह सीधा-सा गणित है। कौन-सा कर्म अच्छा है, कौन-सा बुरा, यह सबको पता है। चोर, डकैत, हत्यारे भी इस बात को जानते हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं, वह बहुत बुरा काम है, लेकिन बुरी और खराब प्रवृत्ति से वे स्वयं को रोक नहीं सकते, क्योंकि इस तरह के पाप-कर्म के वे आदी हो चुके हैं।

यह विवेक जिसमें जाग जाए कि हमें हर हालत में बुरे काम से बचना है, वह कभी कोई गलत काम नहीं कर सकता। साधारण भूल तो हर आदमी से हो सकती है। वह अनजाने में होती है, फिर भी वह उसे सही या उचित करार नहीं देता। वह स्पष्ट स्वीकार करता है कि हां, यह काम मेरे प्रमाद से हो गया। इससे उसके गाढ़ कर्म का बंध नहीं होता, लेकिन जो योजनाबद्ध ढंग से, सोच-विचारपूर्वक होशोहवाश में पाप-कर्म करते हैं, वे गाढ़ कर्म के भागी होते हैं। कर्मों का तीव्र विपाक कभी-कभी इतना भारी हो जाता है कि एक जन्म उसके लिए कम होता है। अगले जन्म के लिए भी वे पाप की पूंजी का निवेश कर लेते हैं।

सुख-दुःख, पाप-पुण्य और कर्मवाद के संदर्भ में हमें केवल इस जन्म को ही नहीं देखना है। हम भविष्य के बारे में भी सोचें। जो भविष्य के बारे में सोचेगा, वह कोई भी पाप कर्म करने से पहले जरूर विचार करेगा। आत्मा ही हमारे सुख-दुःख की नियामक है, यह बात समझ में आ जाए तो बहुत सारी समस्याएं हल हो जाएंगी। चीज एक ही है अपनी आत्मा। उससे चाहे आप सुख निकाल लें या दुःख। कला आपको आती है तो सुख निकाल लेंगे और कला नहीं आती तो आत्मा दुःख देने वाली बन जाएगी।

दोहन करना सीखे

एक व्यापारी व्यापार के उद्देश्य से एक द्वीप या टापू में गया। वह टापू देश और दुनिया से पूरी तरह से कटा हुआ था। इस धरती पर बहुत से ऐसे भू-भाग हैं, जहां के निवासी दीर्घकाल तक बहुत सारी चीजों से अपरिचित रहे हैं।

वह व्यापारी उस अजनबी देश में अपने साथ एक गाय ले गया, लेकिन वहां के निवासी गाय के बारे में पूरी तरह से अनभिज्ञ थे। गाय को उन्होंने पहली बार देखा। व्यापारी चतुर था। बहुत सोच-समझकर गाय अपने साथ ले गया था। वहां के राजा से उसने अपना परिचय बढ़ाया। प्रायः हर दिन वह राजा के लिए कोई भेंट ले जाता। इसी क्रम में एक दिन वह दूध ले गया। दूध राजा ने कभी देखा नहीं था। पीकर उसने असीम आनंद का अनुभव किया। व्यापारी का उत्साह बढ़ा। उसकी नीति सफल होती दिख रही थी। वह राजा की अनुकूलता का लाभ उठाकर मजे से अपना व्यापार कर रहा था।

दूसरे दिन वह दही ले गया। तीसरे दिन मक्खन, चौथे दिन घी और पांचवे दिन छाछ ले गया। राजा ऐसी चीजों को पाकर चकित था। उसकी जिज्ञासाएं बढ़ती जा रही थीं। पूछने पर व्यापारी ने राजा को बताया कि ये सारी चीजें एक ही प्राणी से प्राप्त होती हैं। उसका नाम गाय है।

पर्याप्त धन कमाकर एक दिन उस व्यापारी ने अपने देश जाने की बात कही तो राजा ने कहा–'ऐसा कैसे हो सकता है। तुम मुझे रोज नई-नई चीजें लाकर देते हो। अगर यहां कोई असुविधा है तो बताओ हम तुम्हें हर तरह की सुविधा देंगे। तुम यहीं रहो।' व्यापारी ने जाने की अनिवार्यता बताई और कहा–'जहां तक नई और मनपसंद चीजों की बात है, उसकी दात्री गाय मैं आपको दे जाऊंगा।'

व्यापारी जाते समय अपनी गाय राजा को दे गया। राजा ने गाय भृत्य और परिकरों को सौंप कर कहा–'यह जो भी चीज दे, उसे तुरंत मेरे सामने प्रस्तुत

किया जाए। गाय ने कुछ देर बाद मूत्र त्याग किया तो उसे पात्र में सहेज कर राजा के सामने प्रस्तुत किया गया। राजा के सामने गाय द्वारा प्रदत्त आज एक नई चीज सामने आई थी। जैसे ही उसका पान करने के लिए मुंह के निकट लाया, उसने वितृष्णा से उसे दूर कर दिया। राजा को मायूसी हुई। सोचा, परदेशी आदमी ने मेरे साथ छल किया।

कुछ देर बाद गाय ने गोबर किया तो उसे भी राजा के सामने पेश किया गया। राजा के लिए गोबर भी नई चीज थी, पर उससे दुर्गंध आ रही थी उसने उसे भी फिंकवा दिया। अब उसे पूरा विश्वास हो गया कि व्यापारी ने मेरे साथ धोखा किया।

व्यापारी अभी राज्य की सीमा से बाहर नहीं गया था। राजा के सिपाही उसे पकड़ कर राजा के पास ले आए।

राजा ने कहा–'तुम्हारी गाय हमें वह नहीं दे रही है, जो तुम हमें दिया करते थे। तुमने मेरे साथ ऐसा क्यों किया?'

व्यापारी ने कहा–'मैंने आपके साथ धोखा और छल नहीं किया। गाय अब भी वही चीज देगी, जो पहले दिया करती थी। भूल मेरी है कि मैंने मनचाही वस्तु को लेने का तरीका नहीं बताया। इतना कहकर व्यापारी ने गाय को दुहना शुरू किया। दूध से दही, मक्खन, छाछ और घी बनाने की प्रक्रिया समझाई। राजा संतुष्ट हो गया।

जिसे दोहन की कला आती है, वह दूध प्राप्त कर लेता है। जिसे दोहन की कला नहीं आती, वह मूत्र और गोबर मिलने के बाद अपने भाग्य को कोसता है या दूसरों को दोषी ठहराता है। आत्मा भी एक गाय है, जिससे हम सुख रूपी दूध और दुःख रूपी गोबर प्राप्त कर सकते हैं। आचार, विचार, चिंतन अगर स्वस्थ है तो आत्मा विशुद्ध बनेगी और सुख की सृष्टि करेगी। आचार-विचार और वृत्ति सही नहीं है तो आत्मा कलुषित होगी और दुःख की सृष्टि करेगी। आत्मा को शत्रु बनाएं या मित्र, यह हमारे हाथ में है।

कर्मवाद के दो आयाम हैं। एक तो यह कि कोई नया कर्मबंध न हो। दूसरा यह कि कृतकर्मों का शोधन हो। दर्शन की भाषा में इसे संवर और निर्जरा कहते हैं। संवर है नए कर्मों का निरोध और निर्जरा है किए गए कर्मों का शोधन और परिमार्जन। इस तरह धर्म का मूल तत्त्व है संवर और निर्जरा। सामान्य कर्म का बंध तो होता रहता है। आदमी उद्यमशील प्राणी है। उसे नाना प्रकार के कर्म

करने पड़ते हैं। उन कर्मों से होने वाली हिंसा से इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसे में कर्मबंध तो होगा ही, लेकिन जहां तक तीव्र कर्मबंध की बात है, निर्जरा के माध्यम से वह तीव्र कर्म विपाक से बच जाएगा।

एक बुढ़िया एकाकी रहती थी। लोगों को आश्चर्य होता था कि अकेली वृद्धा, जिसका कोई सहयोगी और सहायक नहीं, इतनी प्रसन्न कैसे रहती है?

लोगों ने उससे कारण पूछा तो उसने कहा–'मैं हर स्थिति में संतुष्ट रहती हूं और सबसे बड़ी बात यह कि मैं अपने घर का दरवाजा बंद रखती हूं।'

लोगों ने कहा–'बंद कहां रखती हो, तुम्हारे घर का दरवाजा तो हर समय खुला रहता है।'

बुढ़िया ने कहा–'बेटा, समझने में भूल कर रहे हो। मैं अपने मिट्टी के घर वाले लकड़ी के दरवाजे की बात नहीं कह रही हूं। शरीररूपी घर के दरवाजे की बात कह रही हूं। अवांछित बातों को मैं सुनने से इनकार कर देती हूं यानी सुना-अनसुना कर देती हूं। अवांछित चीजों को मैं देखना भी पसंद नहीं करती। हर तरह की नकारात्मक बातों से बचने का परिणाम है कि मैं हर हाल में सुखी और प्रसन्न हूं।'

दुःखी वह रहता है, जिसके घर का दरवाजा हर समय खुला रहता है। चोर, लुटेरे ऐसे में फायदा उठा लेते हैं। नकारात्मक विचार भीतर प्रवेश कर आत्मा को कलुषित बनाते हैं।

छोटी-छोटी बातों से मन प्रभावित हो जाता है, इसलिए दिमाग के दरवाजों को हर समय खुला रखो और घर के दरवाजे को बंद। विशेष कर न सुनने योग्य और न देखने योग्य चीजों को देखने और सुनने से बचो। अच्छे को प्रवेश दो और बुरे को रोको। जीवन को सुखी बनाने का यह एक सबसे अच्छा उपाय है।

30. धर्म का फल प्रत्यक्ष सुख

भारतीय दर्शन और चिंतन के दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष। इनके साथ सुख शब्द को जोड़ दें तो होता है प्रत्यक्ष सुख और परोक्ष सुख। परोक्ष का मतलब है–बीच में कोई पदार्थ है, व्यवधान है, बाधा है, जिसके कारण हमारा सीधा संपर्क नहीं हो पा रहा है अथवा वह इतना सूक्ष्म है कि आंखों से दिखाई नहीं दे रहा है। प्रत्यक्ष की बात अलग होती है। इसे हम एक घटना या उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं।

एक अभावग्रस्त युवक काम की तलाश में घूम रहा था। भूख-प्यास के कारण उदासी और निराशा उसके चेहरे पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी। तभी दूर टीले पर उसे एक झोंपड़ी दिखाई पड़ी। वह उस झोंपड़ी के दरवाजे पर पहुंचा। वहां देखा–एक बाबा बैठा है। युवक ने कहा–'बाबा! कल से मुझे खाने को कुछ नहीं मिला।' बाबा ने कहा–'मेरे शिष्य बन जाओ, खाने को बहुत कुछ मिलेगा और मोक्ष भी मिलेगा।'

भूख के सामने आदमी हर शर्त मान लेता है। महामात्य चाणक्य ने लिखा है–भूख के समान कोई शत्रु नहीं है। भूख आदमी की सबसे बड़ी मजबूरी है। तपस्या का भाव तो है नहीं और रोटी मिलती नहीं। ऐसे में आदमी क्या करे? भारतीय कथा साहित्य को पढ़ें तो ऐसे अनेक प्रसंग मिलेंगे, जिसमें भूख से व्याकुल आदमी ने हर तरह का समझौता किया।

युवक ने चेला बनने की स्वीकृति दे दी। बाबा ने उसके लिए भोजन की व्यवस्था कर दी। शीघ्र ही उसके सामने गर्म खीचड़ा आ गया। भरपेट खाने के बाद उसे तृप्ति मिली। सर्दी का मौसम था। बाबा ने थके-मांदे युवा चेले को गर्म कंबल दे दिया। चेला खूंटी तानकर सोया तो दूसरे दिन उसकी नींद खुली। अंगड़ाई लेकर वह बोला–

खावण मिलग्यो खीचड़ो, ओढण मिलगी सोड़।
चेलो पूछै गुरु स्यूं, मोख आही है के ओर।

खाने को गर्म खीचड़ा मिल गया और ओढ़ने को सोड़ मिल गई। अब मोक्ष यही है या कोई और? यह छोटा-सा प्रसंग एक बड़े मर्म को उद्घाटित करता है। आदमी प्रत्यक्ष सुख के प्रति जितना आकृष्ट होता है, उतना परोक्ष सुख के प्रति नहीं। उमास्वाति ने बहुत सुंदर लिखा–

स्वर्गसुखानि परोक्षाणि, अत्यन्तपरोक्षं च मोक्षसुखं।
प्रशमसुखं प्रत्यक्षं न परायत्तं न च व्ययप्राप्तं॥

उधार का सौदा नहीं

धर्म करो, तुम्हें स्वर्ग मिलेगा, बहुत सुख मिलेगा–यह परोक्ष की बात है, सिर्फ आश्वासन है। मिलेगा या नहीं मिलेगा, कुछ पता नहीं, कोई पक्का भरोसा नहीं, इसलिए इसके प्रति कोई आकर्षण नहीं होता। अगर बाबा उससे यह कहते कि दो घंटा जप करो, उसके बाद रोटी के बारे में कुछ सोचूंगा तो वह युवक भी चेला बनने के लिए दस बार सोचता, लेकिन भोजन के रूप में उसे तत्काल सुख मिल रहा था, इसलिए बाबा का चेला बनने में उसने देर नहीं लगाई।

स्वर्ग का सुख परोक्ष है, इसलिए उसके प्रति ज्यादा आकर्षण नहीं है। मिलेगा जब मिलेगा, अभी तो बढ़िया बंगला चाहिए, नई मोटर कार चाहिए और वह हर चीज चाहिए जो सुख और सुविधा दे, आराम दे, ऐश्वर्य दे। जीवन भर तपस्या करके, शरीर को सुखा करके मोक्ष मिलता है तो यह बहुत महंगा सौदा है। आज का आदमी बड़ा हिसाबी-किताबी है। पूरा जोड़-घटाव और गुणा-भाग करने के बाद, पूरा गणित लगा लेने के बाद फैसला करता है। थोड़े प्रयत्न से ज्यादा पाने के फिराक में रहता है। शीघ्र फायदे वाली बात उसे जम जाती है।

कुछ लोगों के घुटनों में दर्द रहता है। चलने और उठने-बैठने में असहनीय पीड़ा होती है। डॉक्टर टेबलेट देता है और कहता है–'यह दवा लो, इससे राहत मिलेगी, लेकिन यह स्थायी इलाज नहीं है। घंटा, दो घंटा आराम मिलेगा। जब भी दर्द हो दवा लेते रहो, लेकिन एक बात के लिए सचेत कर देता हूं कि इससे साइड इफेक्ट भी हो सकता है।' साइड इफेक्ट होता है तो होता रहे। अभी तकलीफ मिट रही है तो टेबलेट ही ठीक है, यह पीड़ित व्यक्ति का फैसला होगा।

परोक्ष के प्रति आकर्षण नहीं होता। कुछ लोग मेरे पास आए और परिवार के किसी युवक की ओर संकेत कर कहा–इसका धर्म के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। मुझे उनकी बात सुनकर कोई आश्चर्य नहीं हुआ। धर्म धन की तरह प्रत्यक्ष फल देने वाली चीज नहीं है। ऐसे में उसके प्रति आकर्षण कैसे होगा? धर्म के प्रति किसी का आकर्षण ह ोता है तो मुझे आश्चर्य होता है और ऐसे व्यक्ति को मैं

बहुत गौर से देखता हूं।धर्म के प्रति आकर्षण पैदा करना है तो उसके प्रत्यक्ष फल का अनुभव करा दो। धर्म वास्तव में उधार का सौदा नहीं है, लेकिन तथाकथित धार्मिकों ने उसे उधार का धंधा बना दिया। धर्म करो, स्वर्ग मिलेगा। कब मिलेगा? उत्तर होगा–अगले जन्म में मिलेगा। अगला जन्म किसने देखा है? इतनी दूर की चिंता कौन करे? धर्म के प्रति लोगों की अरुचि हुई तो इसी कारण से हुई।

आचार्य तुलसी ने आश्चर्यजनक ढंग से नकद धर्म की बात कही। उन्होंने धर्म के प्रति धारणा ही बदल दी। कहा–'अभी धर्म करो और अभी फल लो। मैं नकद धर्म में विश्वास करता हूं, उधार धर्म में नहीं। अणुव्रत जीवित धर्म है, नकद धर्म है, प्रत्यक्ष फल देने वाला धर्म है।'

मेरे पास अनेक लोग आते हैं। कुछ लोगों को मैंने ध्यान के शिविर में भाग लेने का परामर्श दिया। उस समय उन्होंने कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई। अनिच्छा से शिविर में भाग लिया। सात दिनों के शिविर में उन्हें कुछ ऐसी अनुभूति हुई कि उन्होंने पूछा–'अगला प्रेक्षाध्यान शिविर कब लगेगा? जाहिर है उन्हें कुछ ऐसा प्राप्त हुआ शिविर में, जिसने उनके दृष्टिकोण को सकारात्मक बना दिया। प्रत्यक्ष उन्हें कुछ हासिल हुआ, जिसे वे अनुभव कर रहे थे, किंतु बता सकने में असमर्थ थे। हमने तो उन्हें आस्तिक नहीं बनाया। धर्म के लाभ-हानि पर भी मैंने उनके साथ कोई चर्चा नहीं की, न उन्हें कोई प्रलोभन और आश्वासन दिया। केवल श्वास और आसन-प्राणायाम के प्रयोग करवाए।

तर्क का प्रतितर्क

किसी से अपनी बात बलात् मनवाने से कुछ नहीं होगा। जब तक हम उन्हें प्रत्यक्ष लाभ दिखा नहीं देते, कोई हमारी बात क्यों स्वीकार करेगा? कुछ लोग 'मान लो' की भाषा में बात बहुत करते हैं। जब तक कोई चीज हमें अपील नहीं करती, उसे क्यों मानें?

एक वेश्या के घर रात में कुछ मेहमान आए। वेश्या ने नौकर के हाथ में बर्तन देते हुए कहा–यहां से बाजार थोड़ी ही दूर है। तुम जाओ और घी खरीद कर लाओ।'

नौकर बर्तन लेकर सीढ़ियों के पास आया। वहां अंधेरा था।

वापस आकर बोला–'मालकिन! अंधेरे में मुझे डर लगता है।'

मालकिन बोली–तुम्हें एक उपाय बताती हूं। तुम मान लो कि डर कुछ होता ही नहीं।'

आखिर नौकर था। मालकिन का हुक्म टाल नहीं सकता था। कुछ बोला नहीं, ठिठकते कदमों से फिर चल पड़ा।

इस बार हिम्मत कर जीने से नीचे उतरा, लेकिन अंधेरा और ज्यादा सघन हो गया था। हिम्मत जवाब दे गई। उल्टे पैरों से फिर वापस गया और मरी-सी आवाज में मालकिन से बोला–'मुझे बहुत डर लगता है। अंधेरे में ऐसा लगता है जैसे तमाम भूत मेरी ओर बढ़े चले आ रहे हों।'

मालकिन ने नौकर को इस बार झिड़कते हुए कहा–'तुम्हें अभी कहा था कि तुम मान लो डर जैसा कुछ होता ही नहीं। जाओ और बिना घी लिए खाली हाथ वापस मत आना।'

नौकर समझ गया कि वापस लौटा तो नौकरी समाप्त। इस बार साहस कर मकान से बाहर तक कुछ दूर आया। वहां एक गधा पेशाब कर रहा था। तत्काल बर्तन भरकर लौट पड़ा। घर आकर पीले द्रव से भरा बर्तन मालकिन के आगे कर दिया।

वह चौंक पड़ी। बोली–'इतनी जल्दी आ गए?' घी की शुद्धता परखने के लिए उंगली डुबोकर नाक के पास ले गई तो वास्तविकता समझ में आ गई। माथे पर बल पड़ गए। त्योरी चढ़ाकर बोली–'यह घी है?'

नौकर ने कहा–'आपका फार्मूला मानकर मैंने डर को डर नहीं माना तो उसी फार्मूले के अनुसार आप इसे घी क्यों नहीं मान लेतीं?'

मानने की बात मानने के फार्मूले से कट जाती है। हर तर्क का प्रतितर्क है। अगर ऐसा न हो तो सचाई कभी सामने ही न आए। दर्शन के क्षेत्र में भी तर्क-वितर्क चलते हैं। कोई आत्मा के पक्ष में तर्क देता है तो कोई विपक्ष में। प्रश्नोत्तरों का यह क्रम चलता रहता है।

हम मानने का नहीं, जानने का प्रयत्न करें। बहुत वर्ष पहले मेरे पास एक प्रश्नावली आई थी आत्मा के बारे में। उत्तर में मैंने लिख दिया–मैं आत्मा को मानता हूं, जानता नहीं। इस बात को लेकर बवाल खड़ा हो गया। जैन समाज के तत्त्व के जानकार लोग नाराज हो गए कि मुनि नथमलजी ने यह कैसे लिख दिया? जो आत्मा को नहीं जानता, वह मुनि कैसे हो सकता है? आत्मा को न मानना तो एक नास्तिक का विचार है, आदि-आदि। लोगों ने अपनी शिकायत आचार्य तुलसी तक पहुंचा दी।

मैंने अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हुए कहा–'वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो किसी भी विषय पर रिसर्च करने वाला पहले एक मान्यता का निर्धारण करता है। पहले मान्यता ही निर्धारित नहीं की तो किस आधार पर काम करेगा?

हम आत्मा को, स्वर्ग को, मोक्ष को मानते हैं, किंतु क्या निश्चयपूर्वक हम कह सकते हैं कि इनको जानते भी हैं? आज मैं यह कहने की स्थिति में हूं कि मैं आत्मा को मानता हूं और कुछ-कुछ जानने भी लगा हूं।

सच्चा सुख आध्यात्मिक

अगर आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टि से विचार करें तो भोग से सुख नहीं मिलता, यह विचार भी एक तरह का एकांतवाद है। अनेकांत दृष्टि यह होगी कि भोग से सुख मिलता है, किंतु वह आत्यंतिक सुख नहीं होता। आत्यंतिक सुख वह है, जिसके बाद फिर कभी दुःख न हो। मोक्ष का सुख, अध्यात्म का सुख, इन्द्रियातीत चेतना का सुख ऐसा सुख है, जिसके बाद फिर कभी दुःख नहीं होता।

अतीन्द्रिय चेतना के स्तर पर जब हम जाते हैं तो त्याग के प्रति आकर्षण बढ़ता है और भोग के प्रति आकर्षण कम होता है, इसलिए धर्म का पहला बिंदु है अतीन्द्रिय चेतना के जागरण का विकास। इसके बाद शुरू होती है त्याग की शृंखला। जिन चीजों में अभी तक रस मिल रहा था, वे अब नीरस प्रतीत होने लगती हैं। रुचियां और स्वाद बदल जाते हैं।

धर्म को हम प्रत्यक्ष सुख का साधन बनाएं। अध्यात्म का सुख प्रत्यक्ष सुख है। इसका सुख जिसने भी प्राप्त किया, फिर इन्द्रिय चेतना के जाल में वह नहीं उलझेगा।

अणुव्रत के माध्यम से आचार्य तुलसी ने प्रशम सुख की बात को प्राथमिकता से रखा था। प्रत्यक्ष अनुभव करो कि मिलावट से मेरी आत्मा में कलुषता आई। प्रामाणिकता से काम किया तो उसका मुझे प्रत्यक्ष लाभ मिला। तनाव से दूर रहे और सुख की नींद सोए।

मैंने ऐसे अणुव्रती लोगों को देखा, जिनका कहना था कि पैसा कभी हमारे चिंतन में रहा ही नहीं। जरूरतों को सीमित कर लेने के कारण चिंतामुक्त और तनावमुक्त जीवन जीते हैं और स्वयं को निर्भार अनुभव करते हैं। जीवन की यही सबसे बड़ी उपलब्धि है और यही सबसे बड़ा सुख है।

31. सुख और दुःख का हेतु

आगम साहित्य में दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—भावित और अभावित। प्रचलित भाषा में कहें तो कह सकते हैं प्रभावित और अप्रभावित। एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो बहुत जल्दी प्रभावित हो जाता है और एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो जल्दी से प्रभावित नहीं होता। व्यक्ति अच्छी बात सुनकर भी प्रभावित होता है और खराब बात सुनकर भी। मनुष्य के मस्तिष्क की संरचना बहुत जटिल है और चिंतन के इतने कोण हैं कि कल्पना करना भी कठिन है।

प्रभावित किससे?

आदमी बार-बार सुखी और दुःखी बनता है। क्षण भर में ही सुख और दुःख दोनों के प्रसंग आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में कोई आदमी अप्रभावित कैसे रह सकता है? समूह के साथ जीने वाले प्राणी के लिए सुख या दुःख की स्थिति में अप्रभावित रह पाना बहुत कम संभव है। आदमी व्यक्ति से प्रभावित होता है और वस्तु से भी। शब्दों से और दृश्य से भी प्रभावित होता है। शब्द और रूप आदमी को सहज रूप से लुभाते हैं और खिन्न भी करते हैं। सुरीला संगीत आदमी को अच्छा लगता है, बेसुरा राग किसी को अच्छा नहीं लगता। सुंदर दृश्य आदमी को अच्छे लगते हैं, वीभत्स दृश्य कोई भी देखना नहीं चाहता।

सुख-दुःख का इस प्रभावित-अप्रभावित अवस्था से गहरा संबंध है। आपने किसी को मूर्ख कह दिया, बस, इतनी सी बात उसे प्रभावित करने के लिए काफी है। उसके बाद उसकी मानसिक स्थिति सहज नहीं रह जाती। भीतर में बहुत गहरे तक उद्वेलन शुरू हो जाता है। स्वभाव में उग्रता आ जाती है, मन में हिंसक भाव भी पैदा हो जाता है। सामर्थ्य है तो तुरंत वह आपसे भिड़ जाएगा, असमर्थ है तो खून का घूंट पीकर रह जाएगा, किंतु मन में घृणा और प्रतिहिंसा का भाव आएगा। किसी को जी भर कर गालियां दें, फिर भी उसके चेहरे पर अप्रसन्नता का भाव नहीं आए, निर्विकार बना रहे तो समझ लें कि कोई विशिष्ट भूमिका पर पहुंचा हुआ आदमी है।

अपनी आत्मा में हर समय निवास करने वाला कभी बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता। प्रभावित वही होता है, जो हर समय शरीर के स्तर पर जीता है। हमारे जीवन के दो स्तर हैं–शरीर का स्तर और आत्मा या चेतना का स्तर। शरीर के स्तर पर वाणी और मन जुड़ा हुआ है। जो शरीर, वाणी और मन–इन तीनों के साथ जीता है, वह बाहर की स्थितियों से जल्दी प्रभावित हो जाता है। जो शरीर में रहता हुआ भी शरीर से परे आत्मा की भूमिका में चला जाता है, वह परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता।

राम, कृष्ण, महावीर आदि महापुरुषों के जीवन में कितने कष्ट आए। हम उन कष्टों की गाथा को पढ़कर ही रोमांचित हो जाते हैं। ऐसा लगता है, जैसे उनका जीवन तो कष्टों की महागाथा है, लेकिन यह शरीर के स्तर पर जीने वालों की सोच है। जिस भूमिका पर ये सब महापुरुष पहुंचे, उस भूमिका पर पहुंच कर चिंतन करें तो पता चलेगा कि उन्होंने कोई कष्ट नहीं सहा। वे तो सदा सद्, चिद्, आनंद में रहे। कष्ट और दुःख कभी उनके आसपास भी नहीं फटक सके। वे सदा अपनी चेतना में रहे। उनके शरीर पर जो भी प्रहार हुआ, उसका उन्होंने संवेदन नहीं किया।

साधना के द्वारा शरीर की भूमिका को पार कर आत्मा की भूमिका में चला जाता है, उस पर कोई असर नहीं पड़ता, लेकिन यह भी सत्य है कि शरीर के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति को भूमिका भेद का पता नहीं चल पाता। वह यही समझता है कि बेचारा कितनी तकलीफ में है। चुपचाप दुःख झेलनेवाले को पौरुषहीन मानता है।

जो मन की भूमिका को पार कर आत्मा और चेतना की भूमिका में चला जाता है, वह कभी निम्न और छोटी बातों में लिप्त नहीं होता। चेतना का ऊर्ध्वारोहण हो जाने पर शरीर में रहते हुए भी शारीरिक कष्ट का अनुभव नहीं होगा। मैंने न जाने कितनी बार इस प्रश्न को दोहराया है कि दुनिया में सुख ज्यादा है या दुःख?

मुझे प्रायः यही सुनने को मिला कि सुख है कहां? यहां तो दुःख ही दुःख भरा पड़ा है। यह उत्तर दर्शाता है कि ज्यादातर लोग शरीर के आसपास ही निवास कर रहे हैं। उनकी सोच का दायरा वहीं तक सीमित है। आत्मा के बारे में न तो कुछ जानते हैं तथा न ही जानने की इच्छा है।

परमार्थ की चेतना का मुख्य लक्षण यह है कि वह कभी सुख-दुःख की तरंगों से तरंगायित नहीं होती। उच्च भूमिका पर पहुंच जाने के बाद

मान-अपमान, गाली, प्रताड़ना आदि सब अपना असर खो देते हैं। संत एकनाथ ने बीस बार अपने ऊपर कचरा डालने वाले अपने उस विरोधी का भी उपकार माना।

चेतना का यह उदात्तीकरण बहुत जरूरी है। इसके बिना चिंतन सकारात्मक नहीं बन पाता और सकारात्मक चिंतन के अभाव में धर्म भी एक समस्या बन जाता है। सुखी जीवन का सबसे बड़ा मंत्र है ऊर्ध्वमुखी चेतना का विकास। साधना के द्वारा चेतना को अगर हम नाभि से ऊपर की ओर ला सकें तो सहन करने की अद्भुत क्षमता आ सकती है।

दूध की धारा

प्रेक्षाध्यान में चेतना के ऊर्ध्वारोहण का प्रयोग कराया जाता है। इसके दीर्घकालिक अभ्यास से स्वभाव में बहुत परिवर्तन आ जाता है। सहिष्णुता इतनी बढ़ जाती है कि दुःख की स्थिति ज्यादा प्रभावित नहीं कर पाती। यह बात भी समझ में आ जाती है कि सहिष्णुता के अभाव में हमारी जो प्रतिक्रिया होगी, वह इस जीवन को ही नहीं, अगले जीवन को भी प्रभावित करेगी। विषधर चंडकौशिक ने महावीर के चरणों पर डंक लगाया तो महावीर ने स्मितभाव से यही सोचा–'चंडकौशिक! पिछले जन्म के प्रतिशोध ने तुझे इस जन्म में विषधर सर्प की योनि दी। अब तू वैसा मत कर, जो तेरी भावी गति को इससे भी बुरी स्थिति में ले जाए। तू शांत हो जा।' चंडकौशिक शांत हो गया। सीमातीत सहिष्णुता के प्रभाव ने चंडकौशिक के तीव्र गरल को अमृत बना दिया। कहा जाता है कि चंडकौशिक के द्वारा दंशित स्थान से रक्त की धार नहीं, दुग्ध की धार निकली थी।

मैंने अपने जीवन में बहुत से साधुओं को देखा और बहुत से गृहस्थों को भी। कुछ गृहस्थ तो ऐसे हैं कि आचरण में साधु से भी कहीं ज्यादा पवित्र और आचारनिष्ठ जीवन जीने वाले। कई ऐसे साधु भी देखें, जिनमें शुद्ध साधुत्व का लेशमात्र भी नहीं है। आचार का किसी देश और वेश के साथ कोई अनुबंध नहीं है। जिसने अपनी चेतना को ऊर्ध्वमुखी बना लिया, वह ऊंची भूमिका पर पहुंच जाता है, फिर चाहे वह गृहस्थ हो या साधु। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया–

संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥

कुछ गृहस्थों का जीवन अनुत्तर होता है। मैंने राणावास के मिश्रीमलजी सुराणा को देखा। वे गृहस्थ वेश में साधु थे। उन्होंने अपने जीवन को संयममय

बना लिया था। बहुत संपन्न परिवार के थे, किंतु सारी संपत्ति को छोड़कर व्रत ले लिया कि अपने श्रम से जो कमाऊंगा, वही खाऊंगा। जिस दिन नहीं कमाऊंगा, उस दिन नहीं खाऊंगा। पति-पत्नी अनुपयोगी कागजों के लिफाफे और पैकेट बनाते और उन्हें बेचकर अपनी रोटी का प्रबंध करते। जीवन भर उन्होंने इस व्रत को निभाया।

धर्म क्या देगा?

गुणात्मकता या क्वालिटी आदमी के जीवन में भी होनी चाहिए, अन्यथा वस्तु की तरह आदमी की मूल्यवत्ता पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है। जैसे खराब वस्तु को कोई पसंद नहीं करता, वैसे ही खराब आदमी भी किसी काम का नहीं माना जाता। कीमत होती है क्वालिटी की। वस्तुओं के जो ब्रांड फेमस हो जाते हैं, डिमांड भी उन्हीं की होती है।

मैं लोगों से प्रश्न करता हूं कि बताओ, धर्म से तुम्हें क्या मिला? मेरी एक पुस्तक भी है इस संदर्भ में 'धर्म मुझे क्या देगा?' आदमी हमेशा अपने फायदे की बात सोचता है। धर्म के विषय में भी हमारा यही दृष्टिकोण होना चाहिए। धर्म कोई परंपरा या रूढ़ि नहीं कि जीवन भर उसे यों ही ढोते रहें। बार-बार पुनरावलोकन होता रहे कि धर्म कर रहे हैं तो उसका हमें फायदा मिल रहा है या नहीं? दवा अगर फायदा नहीं कर रही है तो उसे आप बदल देते हैं। धर्म भी कषायरूपी रोगों की औषधि है। कषाय अगर क्षीण हो रहे हैं तो समझिए धर्म कारगर नहीं हो रहा है।

साधना के द्वारा अपनी चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाएं, जिससे दुनिया की सारी उलझनों से अप्रभावित रह सकें। मैंने पहले ही कह दिया कि यह प्रभावित और अप्रभावित रहने की बात सुख-दुःख से बहुत संबंधित है। प्रभाव से स्वयं को बचा सकें तो समझें सुख की चाबी आपके हाथ में है।

32. अनुभूतियां सुख और दुःख की

हम जिस जगत में जी रहे हैं, वह बहुत विचित्र जगत है। चित्र में जैसे अनेक रेखाएं होती हैं, वैसे ही जीवन में भी अनेक रेखाएं होती हैं। जगत को किसी एक रेखा में अंकित नहीं किया जा सकता। इस जगत के बारे में उपाध्याय यशोविजयजी ने शांतसुधारस में बहुत सुंदर लिखा है–

क्वचन तविषमणिमंदिरैरुदितोदितरूपम्।
घोरतिमिरनरकादिभिः, क्वचनाऽतिविरूपम्॥

जगत में कहीं तो दिव्य मणियों का प्रकाश विकीर्ण हो रहा है तो कहीं ऐसा नारकीय जीवन है, जहां दुःख ही दुःख का घोर अंधकार दिखाई दे रहा है। बहुत कुरूप हो रहा है यह संसार। इस प्रकार इस संसार में सुरूप और कुरूप, सुख और दुःख–ये नाना प्रकार की स्थितियां देखने को मिलती हैं।

यह सही है कि आज दुनिया में बहुत विकास हुआ है और आदमी का जीवन सुखी बना है, लेकिन विकास के साथ विपदाएं भी जुड़ी हुई हैं। कोई भी संपत्ति ऐसी नहीं, जिसके साथ विपत्ति जुड़ी हुई न हो। कोई यह मानकर न चले कि मेरे पास संपदा है, इसलिए मुझे कभी विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ेगा। इसी तरह कोई विपदा में घिरा आदमी यह न माने कि मुझे सदैव गरीबी में ही रहना है। परिस्थिति को करवट लेते देर नहीं लगती।

विकास हुआ है, संपदा बढ़ी है तो विपदाएं भी कम नहीं हैं। इस धरती पर किसी संभाग में अकाल और सूखे की स्थिति होती है तो कहीं बाढ़ के हालात बनते हैं। दुनिया में कुछ हिस्सों में शांति है तो कहीं भीषण युद्ध और बमबारी हो रही है। यूरोपीय देशों में अतिशय समृद्धि है तो दक्षिण अफ्रीकी कुछ देशों में भूखमरी और कुपोषण की समस्या है। सामान्य स्थिति आप कहीं नहीं पाएंगे। दूसरे देशों की बात छोड़ें, हमारे ही देश में अलग-अलग प्रांतों की आर्थिक स्थिति अलग-अलग है।

आज की मुख्य समस्या है कोरे पदार्थ का विकास। पदार्थ का विकास हो तो उसके साथ मानवीय चेतना का भी उसी मात्रा और उसी अनुपात में विकास होना चाहिए। इससे एक संतुलन की स्थिति रहेगी। पदार्थ का विकास लगातार होता रहे और चेतना का विकास न हो या उसके विकास की गति बहुत मंद हो तो एक बड़ा असंतुलन पैदा हो जाएगा और उससे तरह-तरह की समस्याएं पैदा होंगी, जैसा कि आज हो रहा है। धन की आमद बढ़ी है, लेकिन चेतना का स्रोत सूखता जा रहा है। आदमी क्रूर, निर्दयी, कठोर और संवेदनशून्य होता जा रहा है।

अनुभव की वाणी

प्रेक्षाध्यान के प्रयोग चेतना के विकास के प्रयोग हैं। वह मेरे अनुभव की संपदा है। 'अश्रुवीणा' जैसा काव्य, जो साठ वर्ष पूर्व मैंने लिखा, उसका मूल्यांकन आज हो रहा है। हमने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया, वह काव्य के रूप में प्रकट हुआ। इसे अनुभव की वाणी कह सकते हैं। अपनी अनुभूति को शब्दों में पिरो देना ही तो कविता है। प्रकृति के साथ एकात्मकता या तादात्म्य स्थापित किए बिना आप संवेदनशील नहीं बन सकते और संवेदनशीलता के बिना कविता का बीज प्रस्फुटित नहीं होता।

संवेदनशून्यता की स्थिति आदमी को क्रूर, हिंसक और अपराधी बनाती है। आपको सही मायने में आदमी बनना है तो अनुभव के सुख तक जाना होगा। पदार्थ का सुख प्राप्त कर सकें या नहीं, अनुभूति का सुख आपको मिल गया तो आप स्वयं को कभी गरीब नहीं मानेंगे। गरीबी और अमीरी है क्या? इसका संबंध धन के साथ नहीं, अनुभूति के साथ है। यह नितांत भीतर की अनुभूति का मामला है। आप यह न मानें कि महल में रहनेवाला ही सबसे ज्यादा सुखी है। हो सकता है महल में रहने वाला बहुत दुःख भोग रहा हो और झोंपड़ी में रहने वाला बड़े सुख का अनुभव कर रहा हो।

प्रो. ग्लेन डी. पेज अमेरिका की हवाई यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर हैं। कुछ दिन पूर्व प्रेक्षाध्यान के एक शिविर में, जो केवल विदेशियों के लिए लगाया गया था, उसमें भाग लिया। एक दिन वे मेरे पास आए और बोले–'आज मुनि महेन्द्रकुमारजी ने मुझे चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान करवाया। मुझे जिस आनंद की अनुभूति हुई, वह मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। हम अमेरिकी लोग कभी सोच भी नहीं सकते कि पदार्थ या मैटर के अतिरिक्त और भी कोई चीज हमें सुख दे सकती है। पदार्थ के बीच में दिन रात रहने वाला मेरे जैसा व्यक्ति,

जिसने जन्म से अब तक पदार्थजनित सुख को ही देखा और भोगा, अब समझ पाया कि भीतर का आंतरिक सुख क्या चीज है? आज जिस सुख, शांति और संतुष्टि का अनुभव किया, वह अब तक जीवन में कभी नहीं हुई थी।'

यह सुख कहां से आया? कहीं से आयात तो नहीं किया? कहीं से मांगा या खरीदा तो नहीं? यह आया भीतर के संतोष से। अगर कहूं कि भीतर बहुत सुख है तो क्या आप मान लेंगे? नहीं मानेंगे। जब तक आपको भीतर के सुख की अनुभूति नहीं होगी, आप कैसे मानेंगे कि भीतर में बहुत सुख है। उसे बाहर लाने की प्रक्रिया से जब तक आप गुजरेंगे नहीं, वह सुख प्रकट नहीं होगा। प्रेक्षाध्यान उस सुख की अनुभूति की प्रक्रिया है, अभ्यास है।

मानने और जानने का जगत अलग-अलग होता है। मान लेना, जान लेने से बहुत अलग है। आज मान लेने वालों की संख्या बहुत ज्यादा है और जाननेवालों की संख्या बहुत कम हैं, कम होती जा रही है। अध्यात्म के क्षेत्र में कभी जानने की विधि और प्रक्रिया बताई जाती थी, अब वहां भी यही कहा जा रहा है कि ऐसा तुम मान लो।

प्रायः सभी धर्मगुरु अपने अनुयायियों को मानने की ही शिक्षा दे रहे हैं। जानने की विधि या तो उनके पास है नहीं या उसे बताने में वे अपने अस्तित्व के लिए खतरा मानते हैं। मान लेने की इस प्रवृत्ति ने अध्यात्म जगत की तेजस्विता को मंद किया है, कुंद किया है। जहां तर्क और प्रश्न के रास्ते बंद कर दिए जाते हैं,वहां जड़ता अपना प्रभाव जमा लेती है। वहां फिर प्रवर्तक नहीं, अनुयायी ही पैदा होते हैं।

मानना और जानना

नेपोलियन के राज्य के एक उद्भट विद्वान ने पांच भागों में एक विशालकाय ग्रंथ की रचना की और ग्रंथ नेपोलियन बोनापार्ट को भेंट किया। नेपोलियन ने वह ग्रंथ अपने मंत्री के हाथ में दे दिया। मंत्री ने उसे सरसरी तौर पर उलट-उलट कर देखा तो उसके माथे पर बल पड़ गए। उसने नेपोलियन से कहा–'सर्वशक्तिमान्! आप देखें, इसमें कहीं भी ईश्वर का जिक्र तक नहीं है, फिर इसका औचित्य?' नेपोलियन ने प्रश्नवाचक दृष्टि ग्रंथ के लेखक पर डाली तो लेखक ने कहा–'महामहिम! मैं ईश्वर को मानता ही नहीं तो उसका उल्लेख अपने ग्रंथ में क्यों करूं?' नेपोलियन ने मुस्कुराकर कहा–'फिर तो कोई विवाद ही नहीं। हमारे मंत्रीजी ईश्वर को मानते हैं और लेखक महोदय ईश्वर को नहीं मानते।

बात अगर मानने तक ही है तो दोनों अपनी जगह सही हैं। विवाद तो तब पैदा होता, जब दोनों में से कोई एक ईश्वर को मानता और दूसरा जानता या दोनों ही ईश्वर को मानते और जानते। दोनों केवल मानते हैं, इसलिए विवाद जैसी कोई बात ही नहीं।' मानने तक सीमित न रहें, जानने की भूमिका तक जाएं। वहां तक पहुंचाएगा प्रेक्षाध्यान का प्रयोग और अभ्यास। अगर मैं आपसे कहूं कि आप शिविर में भाग लें, इससे बहुत आत्मिक शांति और सुख की प्राप्ति होगी तो यह बात कई लोगों को हजम नहीं होगी। सत्य तभी मानेंगे, जब भीतरी तौर पर शांति की अनुभूति होगी। कहावत है कि बिना स्वयं के मरे, स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि स्वर्ग का कितना ही सुंदर वर्णन करें, उसका साक्षात् तो तभी होगा, जब प्रत्यक्ष उसे देखेंगे।

याद रखें कि स्थूल जगत का अपना नियम होता है और सूक्ष्म जगत का अपना। स्थूल जगत का सुख पदार्थ का सुख है और सूक्ष्म जगत का सुख आत्मिक सुख है, भीतर से उपजा हुआ सुख है। आपका मन हुआ कि अभी इसी वक्त बढ़िया मिष्ठान खाने को मिल जाए और संयोग से आपके पास पैसे हैं, उससे मनचाही मिठाई मिल गई तो आप सुखी हो जाएंगे, लेकिन आत्मिक सुख का पदार्थजनित सुख से कोई संबंध नहीं है। वह हर किसी को इतना जल्दी सुलभ भी नहीं होता। वह बिना जेब से एक भी पाई खर्च किए मिल सकता है और अरबों खर्च करके भी नहीं मिल सकता, लेकिन पदार्थ से चारों ओर से घिरा आदमी, निरंतर पदार्थ पर आधारित जीवन जी रहा आदमी यह मान बैठा है कि धन के बिना सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

भीतर कितना आनंद है, यह पदार्थ आधारित आदमी नहीं समझ सकता। इसका अनुभव तो वही कर सकता है, जिसका अध्यात्म में कुछ प्रवेश हुआ हो। धरती का सबसे ज्यादा कीमती कोई पदार्थ आदमी को सुख देने का सामर्थ्य नहीं रखता। सुख देने की क्षमता पदार्थ में है ही नहीं। यहां वह अकिंचित्कर साबित होता है। उससे सुविधा जरूर मिलती है, लेकिन सुविधा को सुख नहीं कहा जा सकता। हम अपने आसपास कितने ही सुविधाभोगी लोगों को देखते हैं, जिनके एक इशारे पर कोई महंगी से महंगी चीज उनके सामने पेश हो सकती है, लेकिन सुख उनसे कोसों दूर रहता है।

तीन समस्याएं

ध्यान की गहराई में गए बिना, चेतना को जागृत किए बिना अव्याबाध सुख का अनुभव नहीं किया जा सकता। मन की चंचलता एक आवरण है,

बाधा है। चंचलता कम होती है, एकाग्रता बढ़ती है, उस अवस्था में भीतर की शक्तियां प्रकट होती हैं। भीतर में सुख है, किंतु चंचलता के कारण उसका पता नहीं चलता। भीतर में ज्ञान है, किंतु चंचलता के कारण वह भी प्रकट नहीं होता। भीतर में अजस्र शक्ति का स्रोत है, किंतु चंचलता के कारण वह भी सूख जाता है।

वेदान्त में एक बहुत मार्केबल बात कही गई है कि आवरण, धुंधलापन और चंचलता–ये तीनों समस्या पैदा करने वाले हैं, दु:ख देने वाले हैं। उदाहरण देकर समझाया गया कि कांच पारदर्शी होता है, उसमें आप अपना चेहरा देख सकते हैं, किंतु उस पर आप आवरण डाल दें, उसमें कुछ भी दिखाई नहीं देगा। उसमें धुंधलापन आ गया तो भी आप उसमें कुछ देख नहीं सकते और कांच स्थिर नहीं चंचल है, हिल-डुल रहा है तो भी आपको उसमें कुछ दिखाई नहीं देगा। आवरण, मलिनता और चंचलता–ये तीन बड़ी समस्याएं हैं। इनके कारण हमारे अपने भीतर जो है, उसका पता नहीं चल पाता ये तीनों हटते हैं तो भीतर की चीज का प्रकटीकरण होता है। सुख कहीं से न आता है, न जाता है। वह तो पहले से हमारे भीतर मौजूद है। बाहर का आवरण हटा कि वह प्रकट हो जाता है।

भ्रांति के कारण यथार्थ का बोध नहीं हो पाता। सामने पड़ी रस्सी सांप का भ्रम करा देती है और सांप रस्सी का भ्रम पैदा कर देता है। दृष्टि साफ हो तो सांप है या रस्सी, इसका निर्णय अपने आप हो जाएगा। ध्यान के प्रयोग के द्वारा इन तीनों समस्याओं का समाधान होता है। चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान करने से आवरण हटता है। इसका अनुभवजन्य प्रयोग हम लगभग चालीस वर्षों से करते आ रहे हैं, जब से प्रेक्षाध्यान पद्धति खोजी गई।

चीकामंडी की एक बहन की प्रेक्षाध्यान में रुचि जागी, उसने शिविरों में भाग लेना शुरू किया। पढ़ी-लिखी नहीं थी, किंतु कुछ दिन बाद वह कविताएं लिखने लगी। उसकी कविताओं को देखकर हमें आश्चर्य होता था कि जो बहन हिन्दी का शुद्ध वाक्य भी नहीं बोल पाती थी, उसमें कवित्व की स्फुरणा कहां से आ गई? लेकिन सोचने पर ज्ञात हुआ कि दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करते-करते ऊपरी आवरण हटा और इस बहन में ज्ञान स्वत: प्रकट हो गया।

यह सामान्य बात है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। भीतरी ज्ञान के लिए किसी शिक्षण संस्थान या यूनिवर्सिटी में प्रवेश लेने की जरूरत नहीं है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा, ज्ञान तो हमारे भीतर पहले से ही मौजूद है।

ऊपर एक आवरण आ गया है, राख जम गई है। उसे हटा दें, साफ कर दें, ज्ञान अपने आप प्रकट हो जाएगा। न कबीर पढ़े-लिखे थे, न सूर, न रैदास, तुलसी को गुरु के द्वारा अक्षरज्ञान जरूर मिल गया था। भीखणजी भी पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन इन संत कवियों ने भक्ति रस में डूबकर जो कहा या जो गाया, वह काव्य बन गया। आज अध्यात्म जगत में विद्वानों के द्वारा वे काव्य-पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं। लोग इन संत कवियों के पदों से, उनकी रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। तेरापंथ संघ के एक संत थे मुनि बालचंदजी। वे आसींद के थे। अच्छे त्यागी-वैरागी और साधक मुनि थे। साधना में वे कुछ ऐसे गतिशील हुए कि उन्हें अनहद नाद सुनाई देने लगा। ऐसे बढ़िया दोहे वे बनाने लगे कि उन्हें पढ़कर आश्चर्य होता था कि बिना पढ़ा-लिखा एक साधु इस तरह की रचनाएं कैसे कर लेता है?

केन्द्र जागृत करें

हमारे शरीर में शक्ति के केन्द्र हैं। हठयोग में उसे मूलाधार चक्र कहते हैं। उसका विकास होता है तो साधक में कवित्व शक्ति आ जाती है, भीतर का ज्ञान अपने आप प्रकट होने लगता है। हृदय के पास का स्थान है आनंदकेन्द्र। जब यह जागृत होता है तो इतना आनंद मिलता है कि पदार्थ से प्राप्त आनंद इसके आगे तुच्छ है। हमारी अंत:स्रावी ग्रंथियों में एक ग्रंथि है थायमस ग्लैण्ड।

बचपन में यह ग्रंथि बहुत सक्रिय रहती है। बच्चे इसीलिए मस्ती का जीवन जीते हैं, क्योंकि उनकी थायमस ग्लैण्ड बहुत सक्रिय रहती है। इस ग्रंथि का यह स्वभाव है कि अवस्था बढ़ने के साथ-साथ यह निष्क्रिय होती चली जाती है। परिणामस्वरूप आदमी शोक-संताप, चिंता, तनाव आदि से ग्रस्त होता चला जाता है। अगर ध्यान-साधना के द्वारा इस ग्रंथि को निष्क्रिय होने से बचाया जा सके तो आदमी अपने नित्यप्रति के जीवन में तनावग्रस्त नहीं होगा। जागतिक समस्याएं उसे ज्यादा आक्रांत नहीं कर सकेंगी।

शक्ति और ज्ञान के केन्द्र हमारे भीतर सुप्तावस्था में हैं। उन्हें जागृत करने का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। जागृत करने की विधि भी अधिकांश लोगों को मालूम नहीं है। पुस्तकें कभी उस व्यक्ति को जगाने का साधन नहीं बन सकती। उसका साधन है–ध्यान, मन की एकाग्रता और निर्विचार अवस्था।

जब भी हमारा संपर्क सूक्ष्मजगत के साथ जुड़ता है, अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति होती है। सिद्ध साधक या योगी, जब समाधि की अवस्था में पहुंच जाते हैं तो उन्हें कठिनाई से ही सामान्य अवस्था में लाया जा सकता है। भीतर

का आनंद जब मिलता है तो बाहर से संपर्क टूट जाता है। उस आनंद में गोते लगाने वाला भला बाहर की दुनिया में क्यों आना चाहेगा?

और यह भी सच है कि दृश्य जगत या बाहर की दुनिया में रहने वाला व्यक्ति समस्याओं के इतने आवरण ओढ़ लेता है कि भीतर प्रवेश के लिए उसे कोई मार्ग ही नहीं मिलता, भीतर में जाने की उसकी चाह भी नहीं जागती, कभी रुचि ही नहीं पैदा होती। आदमी हजार पीड़ाएं और दु:ख झेल लेगा, लेकिन क्षण भर के लिए भी अपने अंतर्मन में झांकने की कोशिश नहीं करेगा। नीरस और तनावपूर्ण जीवन गुजार देंगे, लेकिन भीतर के सुख वाले दरवाजे को कभी खोलने की कोशिश नहीं करेंगे। दु:ख और दैन्य का कारण अपने भाग्य को मान लेंगे। भाग्य की चाबी भी अपने हाथ में है, लेकिन उसका इस्तेमाल कितने लोग करते हैं?

स्थूल से सूक्ष्म की ओर

आज का युग विज्ञान का युग है। रोज नए-नए आविष्कार हो रहे हैं। अगर स्थूल जगत में ही उलझे रहते तो इतनी नई खोजें कभी न हो पातीं। आविष्कार करनेवालों ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान किया, इसलिए अनेक नए रहस्य सामने आ गए। ध्यान के आविष्कर्ताओं का भी यही निर्देश था। लिखा गया–स्थूलात् सूक्ष्मं समालम्बेत्। स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान करो। दोनों के नियम अलग-अलग होते हैं। जिसे सूक्ष्म का ज्ञान नहीं, वह बिजली से अनभिज्ञ उस ग्रामीण की तरह है, जो फूंक मारकर बल्ब को बुझाने की कोशिश करता है।

यहां यह भी समझ लेना जरूरी है कि जागतिक नियमों को, स्थूल नियमों को तो बदला जा सकता है, किंतु शाश्वत नियम या यूनिवर्सल लॉ को बदला नहीं जा सकता है। जन्म और मृत्यु शाश्वत नियम हैं, इन्हें आज तक कौन बदल सका है? प्रेक्षाध्यान स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान करने का दरवाजा खोलता है, उसमें प्रवेश करने की विधि बताता है। दरवाजा खोलना ही कठिन काम है, प्रवेश करना तो और भी कठिन है।

विस्तृत क्षेत्र में फैले, चारों ओर लंबी दीवार से घिरे एक घेरे में से किसी अंधे आदमी को निकलना था। रास्ता बताने वाला भी कोई न था। उस विस्तृत घेरे में से निकलने का केवल एक ही दरवाजा था। अंधे आदमी ने दीवार का स्पर्श करते हुए एक सिरे से चलना शुरू किया। सोचा था कि दीवार को स्पर्श करता हुआ अंतत: दरवाजे पर पहुंच ही जाऊंगा। दीवार पर लगातार

हाथ लगाए वह अंधा आदमी जैसे ही दरवाजे के निकट पहुंचा, उसके सिर में खुजली महसूस हुई और दीवार को छोड़ वह चलता हुआ क्षण भर के लिए अपना सिर खुजलाने लगा और तभी दरवाजा पीछे चला गया।

मुश्किल से तो दरवाजा सामने आया था, तभी दुर्भाग्य रूपी खुजली ने सारा काम बिगाड़ दिया। क्या ऐसी स्थिति आदमी के जीवन में नहीं आती? चिरकाल तक प्रयत्न करने के बाद कोई एक अवसर आता है और आदमी उसका लाभ नहीं उठा पाता। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग जिन लोगों ने किया, उन्हें अवश्य ही एक नए आनंद की अनुभूति हुई होगी, लेकिन केवल एक शिविर को ही पर्याप्त न मानें। अभी तो केवल आपने सफर प्रारंभ किया है। अभी आगे और लंबा फासला तय करना है। इस यात्रा में कई पड़ाव आएंगे और मंजिल की बात तो कई पड़ाव तय कर लेने के बाद आएगी। इतना आश्वासन हम आपको दे सकते हैं कि ध्यान के अभ्यास का यह सफर जारी रहा तो आपको स्वयं इतना आनंद आएगा कि मन के किसी कोने से एक आवाज निकलेगी कि हमने कितना समय व्यर्थ गंवा दिया। असली जीवन की शुरुआत तो अब हुई है।

33. सुख-दुःख अपने हाथ में

सुख कर्णप्रिय शब्द है। यह कानों को बहुत प्रिय लगता है। दुःख शब्द का उच्चारण करते ही लगता है जैसे कानों में कोई नुकीली चीज चुभोई जा रही है। प्रिय को हम स्वीकार करते हैं, अप्रिय को अस्वीकार, फिर सुख प्राप्ति का वांछित प्रयत्न आदमी क्यों नहीं करता?

मनुष्य इस धरती का सबसे समर्थ प्राणी है। सबसे ज्यादा शक्तिशाली और सक्षम, फिर वह कहे कि मैं दुःखी हूं तो स्पष्ट है कि वह अपने आप से अपरिचित है, अपने स्वरूप की उसे पहचान नहीं है। अपनी शक्ति का उसे ज्ञान नहीं है। यही अज्ञान आदमी को दुःखी बना रहा है। इसलिए सबसे ज्यादा जरूरत है स्व के बोध की, अपनी शक्ति और क्षमता के पहचान की।

अल्प साधन : अधिक सुखी

सुख और दुःख के बारे में भ्रांतियां भी कम नहीं हैं। प्रायः यह मान लिया जाता है कि शहर का आदमी है, बहुत पैसा कमाता है, इसलिए सुखी है। गांव के गरीब आदमी के बारे में मान लिया जाता है कि थोड़ी-सी खेती है, पास में पैसा नहीं है, मजदूरी करके गुजारा करता है, इसलिए दुःखी है। वास्तविकता यह है कि जिसके पास संतोष का धन है, वह अभावग्रस्त होकर भी कभी दुःखी नहीं बनेगा।

अगर इस बात को मानकर चलें तो सुख-दुःख के बारे में एक सूत्र बनता है–अल्प साधन अधिक सुखी। बहु साधन बहुत दुःखी। जिसके पास साधन कम हैं, वह सुखी है और जिसके पास साधनों की भरमार है, वह दुःखी देखा जा सकता है। यह एक सचाई है। इससे हम एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दुःखी और सुखी होने का कारण वस्तु की सुलभता या दुर्लभता नहीं है, बल्कि व्यक्ति का अज्ञान है, भीतर का कषाय है।

गहराई से सोचें और विश्लेषण करें तो पाएंगे कि साधन संपन्नता के साथ क्रोध, आवेश, अहंकार, लोभ आदि में वृद्धि हो जाती है। लड़ाई और कलह की स्थिति बनती है तो सारा सुख गायब हो जाता है। जीवन की सरसता समाप्त हो जाती है और जीवन पूरी तरह से नीरस बन जाता है।

क्रोध आदमी का एक सामान्य संवेग है। इस पर नियंत्रण न किया गया तो यह धीरे-धीरे आदत में परिवर्तित हो जाता है, फिर बात-बात में आदमी गुस्सा करने लगता है। यह जानते हुए भी कि क्रोध करना ठीक नहीं, फिर भी आदमी गुस्सा करता है। क्यों? इसलिए कि उसका अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं है। शास्त्रों में, ग्रंथों में, महापुरुषों के वचनों में बार-बार यह बात आती है कि क्रोध पाप का मूल है, फिर भी आदमी यह पाप करता है। बार-बार करता है, क्रोध का परिणाम भोग-कर भी करता है, क्योंकि उसका अपनी वृत्तियों पर, आदतों पर नियंत्रण नहीं है।

कर्ता कौन?

सुख वाली बात नियंत्रण से जुड़ी हुई है। अपनी वृत्तियों पर अगर आपका नियंत्रण नहीं है, आदतों में और स्वभाव में परिवर्तन लाने में अगर आप असमर्थ हैं तो कोई भगवान, कोई ईश्वर, कोई खुदा आपको सुखी नहीं बना सकता। दूसरा न तो कोई हमारा कुछ बना सकता है, न बिगाड़ सकता है। वस्तुतः हमारी वृत्तियां ही हमें बनाती और बिगाड़ती हैं, फिर हम सुख-दुःख का कर्ता किसी और को क्यों मानें?

शिक्षा हमारी जानकारी को बढ़ाती है, अज्ञान को दूर करती है, बुद्धि का विकास करती है, तर्कशक्ति को प्रखर बनाती है, लेकिन वृत्तियों को बदलने में वह भी तब तक असमर्थ होगी, जब तक उसके साथ प्रयोग और अभ्यास को नहीं जोड़ा जाएगा। शिक्षा धन कमाने की कला तो सिखा देगी, लेकिन जीवन-निर्माण की कला वह नहीं सिखा पाएगी। सुख-सुविधा के साधन तो जुटा देगी, लेकिन हित साधन वह नहीं कर पाएगी।

आज आत्महत्या की प्रवृत्ति ज्यादा बढ़ रही है। इनमें उनकी संख्या ज्यादा है, जो पढ़े-लिखे और उच्च शिक्षित हैं। आत्महत्या के तरीके भी बहुत से खोज लिए गए हैं। यह स्पष्ट है कि आदमी आत्महत्या उसी स्थिति में करता है, जब दिमाग काम करना बंद कर देता है, संवेग और आवेगों की प्रबलता अपने चरम पर पहुंच जाती है, अतिशय निराशा या क्रोध की स्थिति में वह स्वयं को दंडित कर लेता है। ऐसी स्थिति में शिक्षा की फिर सार्थकता क्या रही?

बुद्धि के साथ विवेक भी जरूरी है। बुद्धि हो और विवेक भी हो तो आदमी दुःख की ओर जाने का रास्ता नहीं लेगा। व्यक्ति को विवेकशील बनाने के लिए हमने जीवनविज्ञान की पद्धति विकसित की। यह पद्धति जीवन जीने की कला सिखाती है। यह योग-ध्यान और आसन-प्राणायाम का सम्मिश्रण है। इसमें न तो किसी उपकरण की जरूरत पड़ती है, न भारी भरकम पाठ्यक्रम की। सामान्य-सी श्वास की प्रविधि और एकाग्रता के कुछ प्रयोग। यह एकाग्रता जब हमारी आत्मा के साथ, चेतना के साथ जुड़ जाती है तो सुख का रास्ता खुल जाता है।

बीमारी आज के युग में एक बड़ी समस्या बन रही है। जुकाम, खांसी, बुखार आदि बड़ी बीमारी में नहीं गिने जाते। उनके लिए पहले अस्पताल जाने की जरूरत भी नहीं पड़ती थी। पुराने नुस्खे ही उन्हें ठीक कर देने के लिए पर्याप्त होते थे, लेकिन समय के साथ-साथ आदमी की प्रवृत्तियां जैसे-जैसे बढ़ी, नए-नए रोग पैदा होने लगे।

एड्स, चिकनगुनिया, बर्डफ्लू, स्वाइनफ्लू आदि नए जमाने की नई बीमारियां हैं। दवा भी अभी तक ईजाद नहीं हो सकी है। लगातार बढ़ती महंगाई और घटती क्रयशक्ति के कारण आदमी आज महंगा इलाज कराने में असमर्थ हो रहा है। अगर मूलभूत बातों को समझ लिया जाए तो रोगग्रस्त होने की नौबत ही नहीं आएगी। मूलभूत बातें यह है कि क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, अहंकार आदि हमारी रोग-प्रतिरोधक शक्ति को कमजोर बनाते हैं।

यह रोग प्रतिरोधक शक्ति या रजिस्टेंस पावर कमजोर हुआ कि शरीर बीमारियों का घर बनने लगता है और बीमारी से बड़ा कोई दुःख नहीं है। शरीर स्वस्थ नहीं तो दुनिया की हर चीज आदमी के लिए बेकार है, अनुपयोगी है।

समस्या अमीरी और गरीबी की

हम पुनः उसी बात पर लौटते हैं कि कुछ दुःख तो बाहर से आता है और बहुत सारा दुःख हमारे भीतर ही विद्यमान है। बाहर का दुःख पदार्थजनित है और भीतर का दुःख कषायजनित, लेकिन एक बात निश्चित है कि अगर भीतर से पैदा होने वाले दुःख की रोकथाम कर ली जाती है तो बाहर से आनेवाला दुःख हमें बहुत ज्यादा प्रभावित नहीं कर पाएगा। एक बड़ी कठिनाई यह है कि गरीबी आदमी को गलत दिशा लेने के लिए प्रेरित और बाध्य करती है। गरीबी, अभाव, दुःख और समस्या–ये आदमी को नशे की ओर ले जाते हैं। नशा

अपराध और दूसरी बुराइयों के द्वार खोलता है, लेकिन इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि अमीरी भी आदमी को गलत दिशा में ले जाती है।

मैंने अमीरी को गरीबी से हमेशा ज्यादा खतरनाक माना है। प्रायः लोगों को सचेत भी करता रहता हूं कि अमीरी से सावधान रहो। गरीबी एक-दो बुराइयों की ओर ले जाती है, अमीरी तो बुराई की गहरी सुरंग में प्रवेश करवा देती है। गरीबी छोटी-मोटी चोरी करवाएगी, अमीरी सीधा डकैती सिखा देती है। गरीब किसी को क्या दुःख देगा? अमीर एक साथ कितने लोगों को दुःखी बना देता है। जीवन में नैतिक और प्रामाणिक बनेंगे तो न अमीरी सताएगी, न गरीबी। गरीबी का आप अनुभव नहीं करेंगे और अमीरी का दुरुपयोग नहीं करेंगे। दोनों की अनुभूति में सम रहेंगे। गरीबी का अनुभव नहीं होगा तो दुःखी होने का प्रश्न ही नहीं होगा। अमीरी का अहंकार नहीं होगा तो दुःख पैदा करने वाले प्रसंग नहीं आएंगे।

हमें सुखी जीवन के कारणों की खोज करनी है। वे कारण हमारे भीतर हैं। हम अपने भीतर झांकें और उन सूत्रों की खोज करें। सुख का यही सबसे अच्छा उपाय है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन का प्रयोग और उपयोग हो तो बहुत बड़ा परिवर्तन आ सकता है।

सुख और दुःख अनादिकाल से रहे हैं और रहेंगे। यह दुनिया न तो कभी पूर्ण रूप से सुखी रही है, न पूर्ण रूप से दुःखी। कम या ज्यादा मात्रा में हर समय और हर काल में सुख और दुःख अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। जिन्हें हम अवतार मानते हैं, उनके समय में भी दुःख, दैन्य की स्थिति रही, क्योंकि इसकी फिलॉसफी कर्म और प्रारब्ध के साथ भी जुड़ी हुई है। एक बहुत सुंदर और मार्मिक दोहा है–

सुख-दुःख या संसार में, सब काहू को होय।
ज्ञानी काटै ज्ञान स्यूं, मूरख काटै रोय।

यह प्रश्न आप पर ही छोड़ देता हूं कि सुख-दुःख को आप ज्ञानी की तरह काटना चाहते हैं या अज्ञानी-मूर्ख की तरह?

34. सुख का राजमार्ग

सुख और दुःख के रहस्यों को जानने की उत्कंठा मुझे बाल्यकाल से ही रही है। सुख और दुःख के अनुसंधान में साठ वर्ष से ज्यादा समय हो गया, फिर भी मैं इसके पूरे रहस्य को नहीं जान सका। मैंने दीर्घकाल तक यह समझने का प्रयास किया कि सुख-दुःख की कर्ता अपनी आत्मा है, यह सचाई है या अतिशयोक्ति? वास्तव में हम अपने आपको सुख-दुःख का कर्ता नहीं मानते। हमारी अवधारणा में कोई सुख देने वाला है और कोई दुःख देने वाला। सुख और दुःख मैं स्वयं ही पैदा कर रहा हूं इसे कोई दूसरा जेनरेट नहीं कर रहा है। हम स्वयं ही कर रहे हैं–हमारी यह अवधारणा बहुत कम है।

संवेदन सुख-दुःख का

कोई अनुकूल परिस्थिति आई, सुख का संवेदन शुरू हो जाता है। कोई प्रतिकूल परिस्थिति आई, दुःख का संवेदन शुरू हो जाता है। सुख और दुःख पैदा करने वाली हमारी कुछ अवधारणाएं हैं। एक ओर परिस्थिति है, दूसरी ओर अवधारणा या मान्यता। अच्छी परिस्थिति मिली, अच्छा योग मिला तो सुख का अनुभव शुरू हो जाता है। प्रतिकूल परिस्थितियां मिलीं, प्रतिकूल संयोग मिला तो दुःख का संवेदन शुरू हो जाता है।

जहां तक अवधारणाओं की बात है, कुछ अवधारणाएं हमने बना रखी हैं या कषायजनित संवेगों के कारण यह मान्यता बन गई कि मनचाहा हो तो सुख और मन के विपरीत हुआ तो दुःख की अनुभूति होने लगती है। अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो यह चाहते हैं कि मैं जैसा चाहूं, वैसा ही हो, लेकिन ऐसा संभव कहां है? प्रकृति और भाग्य किसी के अनुचर नहीं हैं। जो ईश्वर को कर्ता मानते हैं, वे भी इस भुलावे में न रहें कि भगवान को पटा लूंगा और मनचाहा करवा लूंगा। विधि का विधान अपने हिसाब से चलता है। उसका गणित बहुत पेचीदा है और उलटफेर वाला है। कर्मवाद की इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

क्या दुनिया में कोई ऐसा व्यक्ति है, जो मनचाहा प्राप्त कर सके। शायद कोई भी ऐसा नहीं मिलेगा। प्रतिशत में बात करें तो किसी का मनचाहा दस प्रतिशत हो सकता है, भाग्य का बली है तो ज्यादा से ज्यादा बीस प्रतिशत हो सकता है, अतिशय रूप में पचास प्रतिशत भी हो सकता है, लेकिन कितना भी सबल, सक्षम, समर्थ हो, शत-प्रतिशत मनचाहा किसी का नहीं हो सकता।

बीसवीं सदी के महाप्रतापी पुरुष आचार्य तुलसी अपना अनुभव लिखते हुए कहते हैं–'मैं बाईस वर्ष की छोटी अवस्था में आचार्य बना। उस समय एक बार मन में आया कि तेरापंथ पर मेरा एकछत्र शासन है। शासन का सर्वोच्च नियंता हूं, जो चाहूं, कर सकता हूं, लेकिन जल्दी ही मेरी यह भ्रांति टूट गई। जल्दी ही अनुभव हो गया कि ऐसा सोचना मेरी भूल है।' राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध या आचार्य तुलसी कोई भी हों, किसी का सोचा हुआ सब का सब पूरा नहीं होता। स्वयं को और अपनी मान्यता को स्थापित करने के लिए इन सबको बहुत संघर्ष करना पड़ा, बहुत कुछ झेलना पड़ा।

मनचाहा प्राप्त करने की अवधारणा बहुत दुःख देती है। आदमी स्वप्नों के जाल बुनता है और उसी में उलझ जाता है। अपना ही जाल और अपनी ही उलझन। मकड़ी अपने ही बुने जाल में फंस जाती है। चिंतन करने की जरूरत है कि कहीं हम स्वयं ही अपने लिए दुःख पैदा तो नहीं कर रहे हैं?

अप्पणा सच्चमेसेज्जा

अपना सत्य हम स्वयं खोजें। दूसरों के सहारे हम कब तक बैठे रहेंगे? इस बात का खुद पता लगाएं कि कहीं स्वयं ही तो अपने लिए कठिनाई पैदा नहीं कर रहा हूं? कहीं अपनी ही कपोल कल्पित अवधारणा से तो दुःखी नहीं बन रहा हूं? यह सच है कि दुःख का एक कारण बनती है परिस्थिति और दूसरा कारण बनती है मनः स्थिति। इन दोनों को जानने के लिए सबसे पहले अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाएं। सही दृष्टि का विकास करें। दृष्टिकोण सही होगा तो सुख मिलेगा। दृष्टिकोण गलत होगा तो दुःख मिलेगा।

जैन तत्त्वविद्या का अध्ययन करने वाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की जो परिभाषा करते हैं, उसमें कहा जाता है कि जो जीव और अजीव को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है। जिसे जीव-अजीव का ज्ञान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

एक नई परिभाषा प्रस्तुत करना चाहता हूं और वह यह कि जो व्यक्ति दुःख की स्थिति में से सुख निकाल लेता है, वह सम्यग्दृष्टि है और सुख में

से दुःख निकालने वाला मिथ्यादृष्टि है। यह परिभाषा आचार्य तुलसी द्वारा सम्मत परिभाषा है।

दो भिखारी सड़क के किनारे कटोरा लिए बैठे आपस में बात कर रहे थे। सामने से मोटर-कारें आ-जा रही थीं। लालसा भरी दृष्टि से उन्हें देखते हुए एक ने कहा–'आज की कमाई में प्राप्त पैसों से एक रुपए वाला लॉटरी का टिकट क्यों न ले लिया जाए?'

'क्या फायदा? लॉटरी भाग्यवालों की खुलती है। हमारी किस्मत में कहां है?'–दूसरा मायूसी से बोला।

'क्या पता किस्मत मेहरबान हो जाए और लाख रुपए मिल जाएं'–दूसरा आशान्वित होकर बोला।

'फिर?'

'फिर तो एक कार खरीदेंगे और कार में बैठकर भीख मांगेंगे'–साथी भिखारी ने कहा।

लाख रुपए मिल जाने पर भी जो भीख मांगना छोड़ने को तैयार नहीं, वह दुःख से कभी सुख नहीं निकाल सकता। दुःखी रहना ही उसकी नियति है। बेहतर जीवन जीने की बात ऐसे लोगों के मन में कभी नहीं आती। जो अवधारणा, जो मान्यता, जो कॉन्सेप्ट उनके मन में स्थिर हो गया, अपनी जड़ जमा ली, उसे निकाल पाना उनके लिए संभव नहीं हो पाता।

एक सेवानिवृत्त मास्टरजी ने अध्यापकों की मीटिंग में अपना चिंतन प्रस्तुत करते हुए कहा–'रतन टाटा अपने स्टील प्लांट, टाटा मोटर्स और दूसरी फैक्ट्रियां मुझे दे दें तो मैं उनसे ज्यादा कमा कर दिखा सकता हूं।' अध्यापकों ने उसकी ओर उन्मुख होकर जिज्ञासा भाव से एक साथ पूछा–'कैसे?' मास्टरजी ने रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा–'आखिर चार ट्यूशन भी तो करता हूं।' चार ट्यूशन के चार सौ रूपयों की अतिरिक्त आय उस गरीब अध्यापक के लिए कम नहीं है। इस तरह के लोगों का अपना एक गणित होता है और वे उसी के अनुसार सोचते हैं। ऐसे लोग अपने जीवन को एक ढर्रे पर डाल चुके हैं। उसमें कोई बदलाव करने के लिए वे तैयार नहीं होंगे। उन्हें सुखी कौन बना सकता है?

घटना एकः दृष्टिकोण दो

दृष्टिकोण सकारात्मक हो तो दुःख को हम नहीं पकड़ेंगे। मान लीजिए दो शिष्यों की गलती पर गुरु ने उन्हें उलाहना दिया। जिस शिष्य का दृष्टिकोण

सकारात्मक था, उसने उपालंभ को इस रूप में लिया–अच्छा हुआ, गुरुदेव ने मुझे आगे के लिए सचेत और सावधान कर दिया, अन्यथा मेरी भूल बार-बार वैसी गलती कराती। गुरु के उपालंभ को उसने अपने विकास का हेतु माना और आगे के लिए सावधान हो गया। वह दुःखी नहीं बना। दूसरे शिष्य का चिंतन और दृष्टिकोण नकारात्मक था। उसने सोचा–एक छोटी-सी भूल के लिए सबके सामने मुझे दंडित किया गया, अपमानित किया गया। इनकी (गुरुजी की) खोट निकालने की आदत है। खोट तो मैं भी इनमें एक-दो नहीं, कई निकाल सकता हूं। अब इनकी मनमानी सहनशक्ति के बाहर है। अवसर आने दो, इनकी औकात बता दूंगा। वह संतप्त हो गया और मन में प्रतिशोध की भावना आ गई।

घटना एक और दृष्टिकोण दो। इस दृष्टिकोण को बदलना होगा। दुःख तो हमारे नकारात्मक चिंतन से पैदा हो रहा है। चिंतन को बदल दें, दुःख का उत्पादन भी बंद हो जाएगा। एक तत्त्वज्ञानी के दो पुत्र थे। वह व्यक्ति कहीं बाहर गया हुआ था। पुत्र अकस्मात् बीमार हुआ और चल बसा। दूसरे दिन वह व्यक्ति लौट कर आया। शोकसंतप्त पत्नी का बुरा हाल था। पति को सामने देख और ज्यादा बेहाल हो गई, लेकिन उस व्यक्ति की मानसिक स्थिति पर कोई फर्क ही नहीं पड़ा। लोगों को आश्चर्य हुआ। कितना पत्थर हृदय है? बेटा चला गया और इसे कोई परवाह नहीं। आखिर लोगों ने पूछ लिया–'क्या बात है भाई, बेटे के जाने का क्या तुम्हें कोई गम नहीं?'

उस तत्त्वज्ञानी ने बड़ी गंभीरता से कहा–'कल रात मैंने एक सपना देखा कि मेरे दस बेटे हैं। उनके साथ मैं खुशहाल स्थिति में हूं, फिर तत्काल सपने में ही यह भी देखा कि ऊपर से छत गिरी और मेरे दसों बेटे उसके नीचे दबकर मर गए। अब तुम लोग बताओ कि मैं उन दस के लिए रोऊं या इस एक के लिए रोऊं?' समझदार लोग इसी भाव और भाषा में चिंतन करते हैं। ऐसे लोगों को दुःख सताने की तो बात ही छोड़ें, उनके आसपास भी नहीं फटकता।

सबसे बड़ा ज्ञान है आत्मज्ञान। उपनिषद् में कहा गया–यः आत्मविद् स सर्वविद्– जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। धर्म का सार है आत्मा को जानना। पर पता नहीं, क्या बात है, सबसे ज्यादा उपेक्षा आदमी आत्मा की ही करता है। उसके बारे में जानने की कभी उत्सुकता ही पैदा नहीं होती। आदमी का सारा चिंतन पदार्थोन्मुखी होता है। उसी के इर्द-गिर्द सारी परिक्रमा चलती है। अगर आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि पर चिंतन हो तो आदमी के जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन घटित हो जाए।

जिन्होंने अपनी अवधारणाओं का परिमार्जन किया है, परिष्कार किया है, अपनी मान्यताओं को सचाई के साथ जोड़ा है, मिथ्या दृष्टिकोण को सम्यक् दृष्टिकोण बनाने का प्रयास किया है, वे यही कहेंगे कि इस दुनिया में तो सुख ही सुख है, दुःख है ही नहीं। इस तरह हमारा सापेक्ष वचन और सापेक्ष कथन होगा–जहां मिथ्या दृष्टिकोण और अज्ञान का अभाव है, वहां इस दुनिया में सुख ज्यादा और दुःख कम है।

जहां सम्यग्दृष्टि और सम्यक् चिंतन का अभाव है, वहां इस दुनिया में दुःख ज्यादा और सुख कम है।

चाबी हाथ में

विश्व की आबादी को दो खेमों में विभक्त किया जा सकता है–एक दुःखी लोगों का खेमा और दूसरा सुखी लोगों का खेमा या वर्ग, लेकिन दोनों ही खेमों का निर्माता है दृष्टिकोण। हमें इतना ही मिला, इतना और मिल जाता तो बात बन जाती–बस, इतना-सा चिंतन आदमी को अस्थिर और दुःखी बना देने के लिए काफी है।

हम तो सोचते थे कि इतना भी नहीं मिल पाएगा, लेकिन भाग्य से जो मिला, वही बहुत काफी है, यह चिंतन सुख की ओर ले जाने वाला है। समझदार आदमी इतने से ही सुखी बन जाएगा, लेकिन क्या इतना संतोष है आज के आदमी में?

सम्यक् चिंतन, सम्यक् भाव और सम्यक् दर्शन–ये सुख के राजमार्ग हैं। सबको इसी राजमार्ग का पथ लेना है। हम सदैव जागरूक रहें कि किसी भी स्थिति में हमारा चिंतन और दृष्टिकोण मिथ्या न बने। हमें हमारी आकांक्षा और अविरति प्रभावित न करे। जीवनरूपी कक्ष में बंद सुख के ताले को खोलने वाली सम्यग् दृष्टिरूपी चाबी हमारे हाथ में है। यह हमारी इच्छा और विवेक पर निर्भर है कि हम उसका उपयोग किस रूप में करते हैं।

35. सुख और सुविधा

सभी को सुख के रास्ते की तलाश है। सबका यह प्रयत्न रहता है कि सुखी कैसे बनें? सारी दुनिया में खोज चल रही है सुखी बनने की। आदमी ने सुखी बनने का एक सूत्र अपनाया है–धन कमाओ, सुखी रहोगे। अच्छा परिवार बसाओ, सुखी रहोगे।

काली छाया क्यों?

इस संदर्भ में देखें तो साफ पता चल जाएगा कि आदमी ने सुख और सुविधा को एक मान लिया है। हम दोनों को एक मानकर चल रहे हैं, इसलिए सुखी नहीं बन पा रहे हैं। जितनी जल्दी हो सके, इस भ्रांति से छुटकारा पा लेना है। हमें सुख और सुविधा के अंतर को ठीक से समझ लेना है। सुविधा है मनोनुकूल पदार्थों की प्राप्ति। सर्दी में पर्याप्त गर्म कपड़े मिल गए, यह सुविधा है। भूख लगने पर पर्याप्त सुस्वादु भोजन मिल गया, यह सुविधा है। रहने के लिए बढ़िया मकान और जीवनयापन के साधन के रूप में बढ़िया दुकान मिल जाए, यह सुविधा है।

सुख है संवेदन और अनुभूति। सुविधा का संबंध है पदार्थ के साथ और सुख का संबंध है चेतना के साथ। अनुकूल संवेदन होता है तो सुख मिलता है और अनुकूल संवेदन नहीं होता तो सुख नहीं मिलता। एक व्यक्ति मेहमान बनकर रिश्तेदारी में गया। वहां उसे बढ़िया भोजन मिला, रात्रि आवास का भी अच्छा प्रबंध रहा, किंतु सम्मान नहीं मिला। रिश्तेदारों का व्यवहार बहुत रूखा रहा। उसे भले ही बहुत सुविधा मिली हो, किंतु वह दुःखी हो जाएगा।

इसके विपरीत स्थिति देखें–एक व्यक्ति किसी के यहां अतिथि बनकर जाता है। उसे वहां सुविधा तो ज्यादा नहीं मिलती, क्योंकि वह परिवार साधारण हैसियत का है। पकवान तो नहीं खिला पाता, लेकिन परिवार के सदस्य उसे हथेली पर ले लेते हैं। सबके चेहरों पर अतिशय प्रसन्नता के भाव आ जाते हैं। इस सम्मान और सद्भाव से अभिभूत उसका मन प्रसन्न हो जाएगा। उनके साथ अत्यंत आत्मीय भाव का अनुभव करेगा। व्यावहारिक जीवन में आप कितने

ही सुविधा भोगियों को दुःखी पाएंगे। पास में वह सबकुछ है, जिसे जरूरत की नहीं, विलासिता की श्रेणी में रखा जा सकता है, फिर भी एक अव्यक्त दुःख की काली छाया हर समय उनके चेहरे पर दिखाई देगी।

जो सुविधा का मार्ग है, वह हमारे सुख का साधन भी हो, यह जरूरी नहीं। कम सुविधा वाला या किसी भी तरह की सुविधा से वंचित आदमी सुखी रह सकता है और हर तरह की सुविधा से संपन्न दुःखी देखा जा सकता है। भाव आदमी को सुखी और दुःखी बना सकता है। एक आदमी अभाव से दुःखी बनता है और दूसरा अतिभाव के कारण दूसरों को सामने रखकर दुःखी बनता है। इन सारी स्थितियों को ध्यान में रखकर ही सूत्रकार ने कहा–अप्पादंतो सुही होई–जो आत्मनियंत्रण करता है, अपनी इच्छाओं पर संयम करता है, वह सुखी होता है।

नींद और जागरण–ये दोनों हमारे जीवन की अनिवार्य स्थितियां हैं। आगम साहित्य में नींद के बारे में बहुत अच्छा विश्लेषण है। एक नींद वह होती है कि सुख के कारण व्यक्ति सो नहीं पाता। सोने का प्रयत्न करता है, पर नींद नहीं आती। एक नींद ऐसी भी होती है कि सोने को तो आसानी से सो जाता है, किंतु उठना भारी पड़ता है। बड़ी मुश्किल से नींद टूटती है। ये दोनों स्थितियां अच्छी नहीं हैं। अच्छी स्थिति यह है कि सुख से सोया जाए और सुख से जागरण हो जाए। बिना प्रयत्न के नींद आ जाए और बिना उठाए जाग जाए। नींद लेना भी अपने हाथ की बात हो और जागना भी अपने हाथ की बात हो। नींद एक समस्या है तो अनिद्रा उससे बड़ी समस्या है। बहुत से लोगों को ठीक से नींद नहीं आती। वे अनिद्रा के रोग से पीड़ित हैं। बिना गोली लिए उन्हें नींद नहीं आती। आज नींद की गोलियों का बहुत प्रचलन है। अरबों रुपयों का व्यापार चल रहा है। दुनिया में करोड़ों लोग ऐसे हैं, जो ट्रैंक्युलाइजर लिए बिना सो नहीं सकते।

अस्वस्थ क्यों?

यह बड़ी विचित्र बात है। भूख-प्यास, नींद, उत्सर्ग आदि शरीर की प्राकृतिक क्रियाएं हैं। अगर इनमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम पैदा होता है तो समझना चाहिए कि शरीर अस्वस्थ है। कोई विकार जरूर पैदा हुआ है। शरीर में जरूर कोई गड़बड़ चल रही है, कुछ अव्यवस्था जरूर चल रही है। खाने से पहले गोली, खाने के बाद गोली, नींद के लिए गोली कितनी हास्यास्पद बात है?

सोने के समय न सोना, समय पर भोजन न करना और पानी न पीना, सुपाच्य भोजन न करना, नशीले पदार्थों का सेवन करना–यह सब शरीर के साथ अन्याय ही तो है। अनियमित जीवनचर्या शरीर की प्राकृतिक क्रियाओं

को बिगाड़ देती है और उसका परिणाम यह होता है कि शरीर में कुछ अघटित घटित होने लगता है। मन और भावों पर भी उसका कुप्रभाव पड़ता है।

हम इस बात को कभी न भूलें कि जिसका अपने मन पर और इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं है, उसका अपने भावों पर नियंत्रण नहीं हो सकता। भावों का परिष्कार तो होता है, किंतु नियंत्रण नहीं होता। नियंत्रण हो सकता है मन पर और इन्द्रियों पर। जिसमें नियंत्रण की क्षमता नहीं है, वह सुखी होने की कल्पना भी न करे। अध्यात्म का एक बहुत प्रसिद्ध शब्द है–दांत। जिसने उपशम की साधना की है, नियंत्रण की शक्ति का विकास किया है, वह व्यक्ति दांत कहलाता है। हमारी बहुत सारी समस्याएं नियंत्रण के अभाव में होती हैं।

आज के मनोवैज्ञानिक और मनोविज्ञान से संबंध रखने वाले लोग कहते हैं कि दमन करना अच्छा नहीं होता, हम केवल शब्द को न पकड़ें। हर बात का अर्थ विभज्यवादी दृष्टिकोण से करें। हमारे शास्त्रों में तो मन और इन्द्रियों के दमन का साफ-साफ निर्देश दिया गया है। इच्छाओं का दमन अगर नहीं किया जाता तो बेलगाम होकर, अनियंत्रित होकर वे हमसे ऐसे काम करवा सकती हैं, जो किसी भी दृष्टि से करणीय नहीं हैं। दमन शब्द का अर्थ दंड भी होता है, दमन का अर्थ शांत भी होता है और दमन का अर्थ अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण करना भी होता है। दंड वाला अर्थ भी कोई बुरा नहीं है। अनेक संदर्भों में इसका प्रयोग होता है। हम संदर्भ को देखकर अर्थ का नियोजन करें।

जहां वृत्तियों का प्रश्न है, मन का प्रश्न है, वहां दमन का अर्थ बदल जाता है। वहां दमन का अर्थ दंड देना नहीं, मन की चंचलता पर नियंत्रण करना होता है। शब्द के साथ तात्पर्य को भी समझना चाहिए।

दुविधाग्रस्त क्यों?

हम सुविधा को भी सही संदर्भों में समझने का प्रयत्न करें। हमें कोई सुविधा और सहूलियत दे सकता है, किंतु सुख नहीं दे सकता। सुख देना किसी के वश की बात नहीं है। सुख तो भीतर की अनुभूति है, जो हमारी आत्मा ही हमें दे सकती है और सुविधा भी कोई कहां तक देगा? एक सुविधा देगा, किंतु मन कुछ समय बाद उसके आगे की सुविधा की मांग करने लगेगा। एक सुविधा मिली तो दूसरी की जरूरत हो जाएगी। दूसरी मिली तो तीसरी की। यह सिलसिला कभी खत्म नहीं होगा। खत्म तभी होगा, जब पर्याप्त संतोष का भाव मन में आ जाएगा। संतोष को परम सुख कहा गया है। संतोष का सही अर्थ यह कि जो स्थिति प्राप्त हो, उस स्थिति में मन को संबोध देना, मानसिक विश्वास पैदा करना, मानसिक

एकाग्रता पैदा करना और सुख का संवेदन करना है। जिस स्थिति में है, उसी में सुख का संवेदन करना ही संतोष है। सुख का इसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं है। धर्म सुखी होने का रास्ता दिखाता है। पदार्थ जगत में सुखी होने का कोई अन्य रास्ता नहीं है। पदार्थ का काम तो दुविधा देना है। पदार्थ में उलझा रहने वाला हमेशा दुविधाग्रस्त रहता है। यह प्राप्त करना ठीक रहेगा या वह प्राप्त करना–इस दुविधा में वह हमेशा भ्रमित रहता है। पदार्थ के साथ जुड़ी हुई है सुविधा और आत्मनियंत्रण के साथ जुड़ी हुई है सुखानुभूति या अनुकूल संवेदन। मनुष्य की प्रवृत्ति है कि जहां सुविधा छूटती है, वहां तत्काल दुःख का संवेदन शुरू हो जाता है। इस प्रकार सुविधा और दुविधा के साथ सुख-दुःख भी जुड़ जाता है। भारतीय चिंतन में अध्यात्म के क्षेत्र में एक शब्द चलता है–'समता'। आचारांग सूत्र में इसकी परिभाषा की गई–समया धम्म मुदाहरे मुणी। सुविधा और दुविधा में सम रहना धार्मिक का प्रमुख लक्षण है। सम रहना अध्यात्म का परम विकास है। मानव जीवन की परम सफलता है। जब तक समता की इस चेतना का विकास नहीं होता, तब तक समस्या का समाधान भी नहीं होता।

सबसे महत्त्वपूर्ण काम है सत्य की खोज करना और दूसरा महत्त्वपूर्ण काम है खोजे गए सत्य का अनुशीलन करना, अभ्यास करना, प्रयोग करना। आज धार्मिक जगत में भी ऐसी स्थिति हो रही है कि पास में संपत्ति तो बहुत है, किंतु उसका उपयोग नहीं हो रहा है। धार्मिक लोगों के पास सुख की प्रचुर संपदा है। अगर वे उस पर ध्यान दें और उसका सही उपयोग करें तो सदा सुखी रह सकते हैं। इससे बड़ा अंधापन और क्या होगा कि पास में प्रचुर संपत्ति है और आदमी उससे बेखबर और अनजान है। आपने उस अभागे की कथा पढ़ी होगी जो दस लाख का हीरा गले में लटकाए हुए भीख मांग रहा था। जब तक अपने पास की संपत्ति का ज्ञान नहीं होता, आदमी गरीब बना रहता है। जिस दिन उसे ज्ञान हो जाता है अपने पास की संपत्ति का, उसे परम सुख की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

धर्म का काम है बंद आंख को खोल देना, लेकिन धर्म का आज इस काम के लिए उपयोग ही नहीं हो रहा है। चक्षु उन्मीलन का काम धर्म के द्वारा कहां हो रहा है? यह काम तो डॉक्टर को सौंप दिया गया है। डॉक्टर और दवा पर निर्भरता बढ़ गई है। डॉक्टर बाहर वाली आंख का इलाज तो कर देगा, लेकिन भीतर की आंख बंद रही तो बाहर की आंख जीवन का सही मार्गदर्शन नहीं कर पाएगी। बाहर की आंख से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है भीतर की आंख। यह खुली रहे तो सुख का स्रोत भी खुला रहेगा।

36. क्या धन सुख देता है?

आज का युग पदार्थवादी युग है। पदार्थ मनुष्य के लिए सदा जरूरी था, है और रहेगा। पदार्थ के बिना जीवन चल नहीं सकता, इसलिए हम पदार्थ को निरर्थक और व्यर्थ चीज नहीं मान सकते। सामाजिक जीवन में हर व्यक्ति को उसकी जरूरत रहेगी। गृहस्थ तो क्या, साधु भी पदार्थ के बिना बहुत कठिनाई का अनुभव कर सकता है। पदार्थ की उपयोगिता असंदिग्ध है।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना बहुत जरूरी है कि पदार्थ की उपयोगिता/अनिवार्यता एक बात है और पदार्थवादी होना बिल्कुल दूसरी बात है। पदार्थवादी होने का मतलब है सुख की खोज की दिशा को बदल देना। पदार्थवादी दृष्टिकोण से भ्रांतियां पैदा होती हैं, मूर्च्छा पैदा होती है। फलस्वरूप हिंसा और अपराध में वृद्धि होती है। हमें दोनों को ठीक से समझना है।

पदार्थ में संतुष्टि कहां?

हर आदमी को सुख की खोज करनी चाहिए। भ्रांति का जीवन जीना अच्छी बात नहीं है। तेरापंथ के अष्टामाचार्य कालूगणी बहुत निस्पृह संत थे। उनकी प्रकृति का आदमी मेरी दृष्टि में वर्तमान में कोई दूसरा नहीं है। वे कहते थे–'किसी व्यक्ति के पास एक बूर का लड्डू था। दो व्यक्ति अतिथि के रूप में उसके पास आए। लड्डू एक और आगंतुक दो। लड्डू तो एक को ही मिल सकता था। उसने एक को बूर का वह बेस्वाद लड्डू दे दिया। दूसरे के मन में थोड़ा विचार आया कि उसे लड्डू मिला और मैं वंचित रह गया। जिसे मिला, वह पश्चात्ताप कर रहा है कि यह क्या लड्डू मिला, जिसमें कोई स्वाद नहीं, मिठास नहीं। इस तरह एक तो ललचा रहा है और दूसरा पश्चात्ताप कर रहा है। पदार्थ के जगत में भी ललचाने और पछताने की बात लगातार चल रही है। जो पदार्थ से घिरा हुआ है, वह भी संतुष्ट नहीं है और जो पदार्थ से वंचित है, वह भी असंतुष्ट है। पदार्थ के जगत में जीने वाले को भी संतोष नहीं और पदार्थ से जो वंचित है, वह तो पदार्थ की कामना के वशीभूत ही है।'

हम पदार्थ की प्रकृति को समझने का प्रयत्न करें। जब तक सचाई को नहीं समझा जाता, भ्रांतियों का निराकरण नहीं होता। शाश्वत सत्य यह है कि धन सुविधा तो दे सकता है, सुख नहीं दे सकता। हजारों-हजारों वर्ष पहले इस सचाई का उद्घाटन किया गया था। आज भी उस सचाई का लोग अनुभव कर रहे हैं।

कुछ वर्ष पूर्व हम दिल्ली में प्रवास कर रहे थे। उस समय सुप्रसिद्ध अमेरिकी पत्रिका 'टाइम्स' में छपे तीन लेख मैंने देखे। उसमें ठीक वही बात थी, जो हजारों वर्ष पहले भारतीय चिंतकों ने कही थी–धन सुख नहीं दे सकता। हजारों वर्ष पूर्व भारत के अध्यात्मवेत्ताओं ने जो कहा, उसे पश्चिम के देश अब कह रहे हैं और मान रहे हैं। उन लेखों में यह कहा गया था कि धन की बहुलता के कारण अमेरिका और दूसरे विकसित देशों में आज डिप्रेशन की समस्या गंभीर हो रही है। वहां आज दस व्यक्तियों में एक व्यक्ति अवसाद का शिकार है। कहा जा सकता है कि अविकसित या गरीब देश इस दृष्टि से भाग्यशाली हैं। गरीब जरूर हैं, किंतु अमीरी की बीमारी से ग्रस्त नहीं हैं। अमीरी की बीमारी बहुत भयंकर बीमारी है। जिसे यह बीमारी लग गई, समझ लें वह शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं रह पाएगा। यह बात मैं बहुत गंभीरता से कह रहा हूं। बहुत परीक्षण और शोध के बाद कह रहा हूं। मैंने बहुत ज्यादा पैसे वालों को सुखी नहीं देखा है, क्योंकि पैसे वाले अधिकांश लोग असंतुष्ट देखे जाते हैं। उनकी चाह कभी विराम नहीं लेती और चाह दु:ख पैदा करती है। सुख तो एकमात्र संतोष में है। कबीरदासजी कह गए–

चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कुछ न चाहिए, वे शाहं के शाह॥

चाह का त्याग कर दें, आपकी चिंता स्वत: मिट जाएगी। जब आकांक्षा ही नहीं रही तो चिंता, फिक्र कैसी? जिनको कुछ नहीं चाहिए, वे बादशाहों के भी बादशाह कहे जा सकते हैं।

धन त्राण नहीं देता

उत्तराध्ययन सूत्र में एक संवाद मिलता है भृगु एवं उसके पुत्रों का। जब भृगुपुत्रों ने मुनि बनने की इच्छा व्यक्त की तब उनके पिता ने आज्ञा नहीं दी। मुनि जीवन की विभीषिकाओं का वर्णन कर पुत्रों को मुनि बनने से रोकने का प्रयास किया। भृगु स्वयं तत्त्ववेत्ता थे, किंतु मोहाविष्ट होकर उन्होंने अपने पुत्रों को संन्यास मार्ग पर जाने से रोका। यह बात प्राचीनकाल से चली आ रही है

कि कुमार्ग पर जाए तो माता-पिता उतने चिंतित नहीं होते। इसकी परवाह बहुत कम होती है कि लड़के का खान-पान बिगड़ रहा है, संगति अच्छी नहीं है। जुए और शराब की लत पड़ रही है, लेकिन जैसे ही पता चलता है कि लड़का अध्यात्म की ओर उन्मुख हो रहा है, मन में वैराग्य पैदा हो रहा है, वे चिंतित हो जाते हैं और उसके वैराग्य को डिगाने का प्रयास करते हैं। राग-रंग की ओर मोड़ने का प्रयत्न करते हैं।

भृगु ने भी पुत्रों को तरह-तरह से समझाया। कहा कि साधु बनकर करोगे क्या? हमारे पास प्रचुर धन है कि जीवन भर किसी अभाव की अनुभूति नहीं होगी। जीवन सुख से बीतेगा। पुत्रों ने कहा–'पिताजी! धन से त्राण नहीं मिलता। सुख नहीं मिलता। हमें तो शाश्वत सुख की चाह है' और भृगुपुत्रों ने मुनि जीवन अंगीकार कर लिया।

स्कंद पुराण में व्यास और शुकदेव का संवाद आता है। शुकदेव व्यास के पुत्र थे। उन्होंने तपःसाधना का रास्ता चुना। उस समय वेदव्यासजी ने उन्हें रोकना चाहा। पिता-पुत्र के बीच संवाद चला। व्यासजी ने कहा–'पुत्र! तुम शास्त्रों के ज्ञाता और कुशल भाष्यकार हो। शास्त्रों में कहा गया है–न्यायपूर्वक धन अर्जित किए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए पहले धन का अर्जन करो, फिर संन्यास का मार्ग लो।'

शुकदेव ने कहा–'पिताजी! आप स्वयं शास्त्रों के अध्येता और रचयिता हैं। आप भी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि धन सुख का साधन नहीं है, फिर आप मुझे शाश्वत सुख से विरत क्यों करना चाहते हैं?' पिता-पुत्र के उस लंबे संवाद में निष्कर्ष यह सामने आता है कि धन से सुख और शांति प्राप्त नहीं हो सकती। इतिहास में ऐसे दूसरे प्रसंग भी आते हैं, जहां सुख और शांति के संदर्भ में धन की निरर्थकता का बोध मिलता है।

विज्ञान और मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) में भी इस प्रश्न पर गहनता से विचार हुआ है। वहां भी यही निष्कर्ष सामने आया कि धन से सुख की प्राप्ति नहीं होती। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में इस बात का अनुभव कर सकता है। यह निर्विवाद तथ्य है कि पदार्थ आदमी को कभी सुखी नहीं बना सकता। क्षणिक प्रसन्नता दे सकता है, किंतु स्थायी सुख नहीं दे सकता।

सुख-सुविधा

सुख अलग है, सुविधा अलग है। हम इन दोनों में अंतर करना सीखें। जब तक भेद नहीं करेंगे, भ्रांति नहीं मिटेगी। हर चीज का विश्लेषण और पृथक्करण

करना सीखें। चावल में कंकड़ की पहचान कर उसे चावल से अलग करें। कुशल गृहिणी दाल और चावल को पकाने से पूर्व उसका बारीकी से निरीक्षण कर उसमें शामिल कंकड़-पत्थर को अलग करती है। हमें भी पदार्थ के संदर्भ में यही तरीका अपनाना चाहिए।

विवेक या विवेचन करने पर स्पष्ट होगा कि सुख और सुविधा एक नहीं है। धन हमें सुविधा दे सकता है। भूख लगी है, पास में पैसा है तो आप रोटी खाकर भूख मिटा सकते हैं। उससे कुछ देर के लिए आराम या सुख मिल सकता है, किंतु स्थायी नहीं। अगर पैसे में यह ताकत होती कि वह हमेशा के लिए हमारी भूख मिटा देगा तो निश्चय ही हम उसे सुख देने वाला मान लेते, लेकिन ऐसी बात नहीं है। धन हमें थोड़ी देर के लिए राहत देता है, फिर मन की मांग आगे से आगे शुरू हो जाती है और मांग की पूर्ति न होने पर दु:ख होता है। चुनाव जीते, सुख मिला, किंतु मन इतने से संतुष्ट नहीं होता, उसकी मांग होती है मंत्री बनने की और मंत्री न बन पाए तो सुख बहुत जल्दी दु:ख में बदल जाएगा।

सुविधा प्राप्त करने के लिए धन की अनिवार्यता है। बिना पैसे के आप पदार्थ की प्राप्ति नहीं कर सकते। बाजार में दुकानें सजी हैं। आप उधर से होकर निकलिए। मन ललचा जाएगा, लेकिन पास में पैसा नहीं है तो आपको मन मारकर निकल जाना पड़ेगा। दुकानदार बिना पैसे के आपको कुछ नहीं देगा। उसे पता चल जाए कि इस ग्राहक के पास पैसे नहीं हैं तो आपको देखने भी नहीं देगा।

गीतकारों/कवियों ने धन पर कविताएं और व्यंग्योक्तियां लिखीं। कहा गया कि धन भगवान नहीं है, किंतु भगवान से कम भी नहीं है। मांगने पर भगवान ऐच्छिक वस्तु भले ही न दे, लेकिन पैसा हर चीज उपलब्ध करा देता है। आज के युग में हर चीज पैसे से बिक रही है। यदि आपके पास पैसा है तो भले ही आपका पक्ष न्यायोचित न हो, आप न्याय के पलड़े को अपनी ओर झुका सकते हैं। पैसे में बहुत बड़ी ताकत है। यह एक बहुत बड़ी सचाई है कि पैसा पदार्थ दे सकता है, सबकुछ नहीं दे सकता। शांति, सुख और अभय देने का सामर्थ्य पैसे में नहीं है।

पैसा और भय

सबसे बड़ी बात है अभय। सुख और शांति की आधारशिला है अभय। पैसे के साथ भय अनिवार्य रूप से जुड़ा है। पास में कुछ नहीं है तो चैन की

नींद ले सकते हैं। यदि हजार-पांच सौ रुपये भी जेब में हों तो सावधानी रखनी पड़ती है। मन में एक अज्ञात-सा भय बैठ जाता है कि कहीं रुपए खो न जाएं। आजकल यात्रा पर निकलते हैं या बड़ी रकम साथ में लेकर कहीं बाहर जाते हैं तो उसकी सुरक्षा के लिए बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। बाहर लोग नजर गड़ाए बैठे हुए हैं। भीड़ में, बाजार में गिरहकटी के हुनर में माहिर लोग ताक में रहते हैं। ध्यान बंटा, नजर चूकी और पल भर में जेबतराशी हो जाती है। सात पर्दे के भीतर छिपाकर रखी गई रकम पार कर देते हैं।

पैसा और भय दोनों साथ-साथ चलते हैं और आज काले धन के जमाने में तो अनिवार्य रूप से भय जुड़ा हुआ है। पैसा भय पैदा करता है और भय बीमारी पैदा करता है। आजकल बहुत सी बीमारियां मन के संवेगों के कारण पैदा हो रही हैं। इन्हें मनोकायिक बीमारियां कहा गया है। मन और काया–दोनों की संयुक्त विकृति का परिणाम है मनोकायिक बीमारियां। ये किसी वायरस या वैक्टीरिया का परिणाम नहीं हैं। मन की विकृति का परिणाम हैं। भय, घृणा, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि मनोभाव पेचीदी बीमारियां पैदा करते हैं, जो भीतर ही भीतर घुटते रहते हैं, वे एक दिन कैंसर जैसे जानलेवा रोग से ग्रस्त हो जाते हैं।

चिंता और उससे जनित कमजोरी यक्ष्मा या टी. बी. का रोगी बना देती है। क्रोध, हाइपर टेंशन और हृदय का रोगी बना देता है। मन में किसी भी तरह का तनाव है तो आप समझ लें कि उसका शरीर पर कोई न कोई नकारात्मक असर जरूर पड़ रहा है। उस समय सचेत हो जाने की जरूरत होती है। तनाव बीमारी का बहुत बड़ा कारण है। आज तो तनाव इतना ज्यादा बढ़ गया है कि इस युग को तनाव का युग कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है।

प्रेक्षाध्यान में हमने इन सारे संदर्भों पर ध्यान दिया और खोज की तो इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बहुत सारी बीमारियों का कारण भय है। भय एक संवेग है, इमोशन है। भय के संदर्भ में मैं अक्सर एक घटना का उल्लेख करता हूं।

चीन का एक शहर है शंघाई। वहां का प्रसिद्ध दार्शनिक सवेरे-सवेरे कहीं जा रहा था। सामने से आता हुआ एक घुड़सवार मिला। दार्शनिक ने पूछा–'तुम कौन?'

उत्तर मिला–'महामारी हूं।'

'इधर कहां जा रही हो?'

'शंघाई जा रही हूं।'

'प्रयोजन?'

'पांच हजार लोगों को वहां मारना है।'

वह दार्शनिक था। जीने-मरने का उसके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था। वह निर्विकार भाव से आगे बढ़ गया। घुड़सवार भी तेजी से आगे निकल गया। एक सप्ताह बाद फिर उसी रास्ते से जा रहे दार्शनिक को वही घुड़सवार मिला। दार्शनिक ने उसे पहचान लिया। बोला–'उस दिन तुमने मुझसे झूठ क्यों बोला?'

घुड़सवार–मैं कभी झूठ नहीं बोलता। झूठ बोलने की मुझे जरूरत भी नहीं है।'

दार्शनिक–'तुमने शंघाई में पांच हजार लोगों को मारने की बात कही थी। वहां से खबर आ रही है कि दस हजार आदमी मरे हैं। तुमने सच कहां बोला?'

घुड़सवार–'मैंने सिर्फ पांच हजार को ही मारा। शेष पांच हजार तो मेरे भय से मर गए। उनके लिए मैं जिम्मेदार नहीं।' इतना कहकर घुड़सवार आगे बढ़ गया।

भय बहुत खतरनाक चीज है। जिसके साथ जुड़ गया, उसे तबाह कर देता है। भय और पदार्थ दोनों आपस में गहरे जुड़े हुए हैं। एक हो और दूसरा न हो, यह संभव नहीं है। आदमी ने भय से निजात पाने के लिए तरह-तरह से प्रबंध किए। किवाड़ बनाया, ताले बनाए, तिजोरी बनाई, सुरक्षा के लिए हथियार बनाए, बुलेटप्रुफ जैकेट बनाए, गुप्त गृह बनाए, फिर भी निश्चिंत नहीं हो पाया।

हमेशा भयभीत रहता है। भय से ही उपजता है तनाव। यह तनाव आदमी से अकरणीय करवाता है। तनाव में आकर आदमी या तो दूसरे को मार देता है या स्वयं को समाप्त कर लेता है। धन और पदार्थ आदमी को सुविधा देते हैं तो भय और असुरक्षा भी देते हैं।

सुरक्षित स्थान

रॉकफेलर अमेरिका के धनकुबेरों में से एक थे। एक बार वे ट्रेन से यात्रा कर रहे थे। टिकट चेकर आया और टिकट दिखाने को कहा। रॉकफेलर ने कहा–'मेरे पास टिकट नहीं है।' परिणाम यह हुआ कि मजिस्ट्रेट ने बिना टिकट यात्रा करने के जुर्म में उन्हें एक दिन की जेल की सजा सुना दी। एक दिन की

सजा काटकर रॉकफेलर जेल से बाहर आए। उन्होंने जेब से टिकट निकाल कर पुलिस अधिकारी के आगे कर दी। अधिकारी देखता रह गया।

उसने कहा–'यह आश्चर्य की बात है कि अमेरिका के सबसे धनी आदमी होकर भी आप बिना टिकट यात्रा करते हुए पकड़े गए, लेकिन इससे भी बड़ा आश्चर्यकारी प्रश्न है कि वैध टिकट होते हुए भी आपने मजिस्ट्रेट के सामने टिकट न होने की बात क्यों कही?'

रॉकफेलर ने कहा–'टिकट की कीमत सिर्फ दो डालर है, लेकिन मेरे पास वह चीज है, जिसकी कीमत दो हजार डालर है। जब से मैं ट्रेन में बैठा तब से मुझे कई आंखें घूर रही थीं। मैं समझ गया कि लुटेरे ताक में हैं। उन्हें मेरे पास कीमती चीज होने का पता चल गया है, इसलिए मैं चिंतित हो गया। मैंने सोचा कि जेल से अधिक सुरक्षा इस समय और कहीं नहीं हो सकती। सुरक्षा के लिए मैंने जेल जाना उचित समझा।

एक दिन की सजा काटी तो कोई बात नहीं। मेरी वह कीमती चीज लुटने से बच गई। अब मुझे कोई भय नहीं है, आप लोगों को धन्यवाद। जेल में मेरे साथ अच्छा व्यवहार हुआ।' कह कर रॉकफेलर अपनी गाड़ी में बैठे और चल दिए।

भय आदमी को असामान्य बनाता है। कई तरह की बीमारियां भी पैदा करता है। आदमी के मन में विचलन पैदा करता है।

डॉ. मनचंदा, जो दिल्ली के आयुर्विज्ञान संस्थान के मुख्य कार्डियोलोजिस्ट रहे हैं, प्रेक्षाध्यान के अभ्यासी हैं, वे कहते हैं कि आने वाले पांच-सात वर्षों में भारत में हृदय रोगियों की संख्या दस करोड़ हो जाएगी और यह देश की प्रमुख बीमारी के रूप में उभर कर सामने आएगी।

भय और चिंता हृदय रोग का प्रमुख कारण है। आप इस बात को समझ नहीं सकते कि भय और तनाव की स्थिति में हृदय पर कितना प्रेशर पड़ता है। आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ है माधव निदान। उसमें बताया गया है कि धन का लोभ हृदय को दुर्बल बनाता है।

धन और पदार्थ आदमी को सुविधा दे सकते हैं, सुख और शांति नहीं दे सकते।' यह धारणा बलवती हो जाए, दृष्टिकोण साफ हो जाए तो हमारी दृष्टि में धन का मूल्य कम नहीं होगा, किंतु धन को ही सबकुछ मानने की हमारी धारणा में बहुत अंतर आ जाएगा। और भ्रांति मिट जाएगी। अध्यात्म को सही अर्थ में समझने का अवसर भी प्राप्त होगा।

37. संसार अलौकिक सुख का

ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने श्रेणिक पुत्र मेघकुमार को कष्ट सहने का उपदेश दिया था। जो कष्ट सहना नहीं जानता, वह थोड़ी-सी कठिनाई आने पर विचलित हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कष्ट सहिष्णुता के संदर्भ में बहुत सुंदर लिखा है–

सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि।
दुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे ण णस्सदि॥

जो ज्ञान कष्ट से प्राप्त होता है, वह किसी भी परिस्थिति में विस्मृत नहीं होता। इसके विपरीत जो ज्ञान सुविधा से या बिना प्रयत्न और कठिनाई के मिलता है, वह उपयुक्त समय पर याद नहीं रहता।

सफलता का सूत्र

कष्ट सहिष्णुता सफलता का बहुत बड़ा सूत्र है। सामान्यतया यह माना जाता है कि सुख–सुविधा का जीवन बहुत अच्छा होता है। एक प्रकार से सफल जीवन की पहचान ही यही है कि जीवन कितना सुख से बीता, लेकिन यह धारणा ठीक नहीं है। सुखी जीवन सफल जीवन का मानक नहीं है। जीवन का मर्म है कष्ट सहकर अर्जित की गई सफलता।

मनुष्य स्वाभाविक रूप से सुख-सुविधा का जीवन पसंद करता है। किसी से पूछा जाए कि कैसा जीवन जीना चाहते हो तो वह यही कहेगा कि सुख से जीवन जीने के सारे साधन हों, कभी किसी बात की कमी और कठिनाई न हो, बस इसके अलावा और कुछ नहीं चाहिए।

आदमी की यह आकांक्षा पूरी हो जाए तो वह सुखी रहेगा, इस बात की कोई गारंटी नहीं है। पैसा ऐसी चीज है, जिससे आदमी सुख-सुविधा के सारे साधन जुटा लेता है, लेकिन वे साधन आदमी को इतना आरामतलब बना देते हैं कि जल्दी ही वह किसी न किसी शारीरिक व्याधि से ग्रस्त हो जाता है। जो

शारीरिक श्रम नहीं करते, वे कोई न कोई बीमारी जरूर पाल लेते हैं। पास में भरपूर पैसा हो और आदमी शांति से, सरल ढंग से रहे, यह बहुत कम संभव है। पैसे वाला आदमी कोई न कोई छोटा या बड़ा व्यसन जरूर पाल लेता है और जीवन भर उसकी गुलामी भोगता है।

पैसा आदमी की मनोवृत्ति में भी जबर्दस्त बदलाव ला देता है। धन प्राप्त होते ही क्रोध, अहंकार, आवेश आदमी के स्वभाव के स्थायी अंग बनने लगते हैं। ये तीनों अवगुण आदमी के सुख-चैन को गंवा देते हैं। उसे बड़ी जल्दी हिंसा की ओर ले जाते हैं।

आदमी की मनोवृत्ति कुछ ऐसी है कि कष्ट सहने को वह अच्छा नहीं मानता। जिसके पास दो-चार गाड़ियां हैं, वह अगर डेढ़-दो मील पैदल चलेगा तो लोग उसका मजाक उड़ाएंगे। कहेंगे कि ऐसी कंजूसी भी किस काम की? घर में चार गाड़ियां हैं और श्रीमानजी पैदल सड़क पर पैर घसीट रहे हैं। अगर धनवान आदमी मोटा अनाज खाएगा तो लोग कहेंगे कि अब यह कंजूसी और कृपणता की हदें पार कर रहा है। कहने का मतलब यह है कि वह कोई भी काम ऐसा करेगा, जो उसके धनवान होने को न दर्शाता हो तो वह आदमी सबके उपहास का पात्र बनेगा।

महाभारत की एक मुख्य पात्र है कुंती। उसने श्रीकृष्ण से यह वरदान मांगा कि मेरे जीवन में कष्ट आते रहें, जिससे मैं आपको भूलूं नहीं।

कष्ट, मुसीबत, कठिनाई और बाधाएं आदमी के जीवन की कसौटी होती हैं। इन पर आदमी जितना ही कसा जाएगा, उतना ही वह निखार पाएगा। कुंती ने जीवन में कष्ट आते रहने का वरदान मांगा तो यह उसकी धार्मिक और आध्यात्मिक वृत्ति का परिचायक है। सुख में आदमी ईश्वर या परमात्मा को कहां याद करता है? आपदा और विपत्ति में आदमी कहां-कहां नहीं भटकता है? सहज ही उसे देवी-देवता की शरण सूझती है। कितने ही लोग ऐसे हैं, जो मनौती मानते हैं कि अगर ऐसा हो जाए तो हम यह करेंगे।

मैं इसे उचित नहीं मानता, क्योंकि यह एक प्रकार की सौदेबाजी है। किसी देवी-देवता से यह कहना कि आप मेरा अभीष्ट सिद्ध कर दें तो मैं आपको इतने का प्रसाद चढ़ाऊंगा, ऐसा या वैसा करूंगा–यह क्या है?

सौदा ही तो है। जो सारे मनोरथ पूर्ण कर देने की क्षमता रखता है, वह देवी या देवता, इक्कीस, इक्यावन या एक सौ एक रुपए के प्रसाद का भूखा क्यों होगा? आदमी ने यह धारणा बना रखी है कि भगवान को भी प्रलोभन

देकर पक्ष में किया जा सकता है। कष्ट सहिष्णुता आदमी को परिस्थितियों से लोहा लेने का हौसला प्रदान करती है। जीवन की जंग में बहादुरी से लड़ने का जीवट प्रदान करती है। इस धरती पर जन्म लेने वाले किसी भी शरीरधारी प्राणी के लिए क्या यह संभव है कि उसके सामने सब तरह की अनुकूलताएं ही रहें, प्रतिकूलता कभी आए ही नहीं? ऐसा संभव नहीं है। इस धरती पर जन्मे वे लोग भी कष्टों और कठिनाइयों से बच नहीं सके, जिन्हें अवतार माना जाता है। यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि लोक जीवन में वे विशिष्ट बने, इसलिए उन्होंने अपने जीवन में इतने कष्ट झेले, जो सामान्य आदमी के लिए संभव नहीं है।

धर्म का मर्म

मेरा तो यह मानना है कि किसी धार्मिक आदमी को कभी यह कामना ही नहीं करनी चाहिए कि उसके जीवन में कभी कष्ट न आए। इस तरह की सोच धार्मिकता का लक्षण नहीं है। मेरे पास ऐसे बहुत से लोग आते हैं जो अपनी दुःख भरी कहानी सुनाने के बाद कहते हैं कि मैंने अपने जीवन में हमेशा धर्म किया, धर्म की ही बात सोची, फिर मेरे जीवन में इतनी मुसीबत क्यों आई?

ऐसा प्रश्न करने वालों को मेरा उत्तर होता है–'लगता है तुमने धर्म को ठीक से नहीं समझा। कष्ट आए तो उसे समभाव से सहन करो, यह तो धर्म की बात है, किंतु कष्ट आए ही नहीं, इस तरह के चिंतन में कहां धर्म है? एक समझदार और सच्चे धार्मिक का चिंतन इस तरह का हो नहीं सकता। परमार्थ का चिंतन बिल्कुल अलग तरह का होता है, वहां स्वार्थ की कोई बात नहीं होती।

एक युवक डॉक्टर के पास पहुंचा और उसकी प्रशंसा के पुल बांधने शुरू कर दिए। डॉक्टर ने कहा–'भाई, मैंने तुम्हें पहचाना नहीं।'

उसने अपना परिचय देते हुए कहा–'सेठ धनीराम का बेटा हूं, जिनका इलाज आप कई दिनों से कर रहे थे...।' डॉक्टर ने युवक की बात पूरी होने से पहले ही उत्साह से पूछा–'अच्छा, अच्छा, कैसे हैं अब वे?'

काम संपन्न हो गया उनका। दाह संस्कार के बाद सीधा आपके पास आया हूं धन्यवाद देने के लिए। इलाज तो कई डॉक्टरों ने किया था, लेकिन दवा आपकी कारगर सिद्ध हुई। आपकी कृपा से सेठजी की संपत्ति का अकेला वारिस बना हूं। आपकी दवा ने चमत्कार कर दिया, अन्यथा न जाने कितने दिन तक इंतजार करना पड़ता।'

कष्ट सहन क्यों?

इस तरह के चिंतन वालों को आप किस श्रेणी में रखेंगे? किसी भी श्रेणी में रखें, किंतु धार्मिक की श्रेणी में तो ऐसे लोग कभी नहीं आ सकते।

चिंतन में लीन मेघकुमार ने भगवान महावीर के सामने एक प्रश्न रखा–

सुखानि पृष्ठतः कृत्वा, किमर्थं कष्टमुद्वहेत्।
जीवनं स्वल्पमेवैतत्, पुनर्लभ्यं न वाऽथवा॥

भगवन्! सुखों को पीठ देकर यानी उन्हें छोड़कर कष्टों को सहन करना कहां की समझदारी है? जीवन तो स्वल्प और बहुत छोटा है। आगे फिर कभी यह मिलेगा, इसका भी भरोसा नहीं है। ऐसे में प्राप्त सुखों को छोड़कर दुःख भरे जीवन की कामना करना क्या बुद्धिमानी है?

यह एक स्वाभाविक प्रश्न है, जो हर चिंतनशील व्यक्ति के मन में उठ सकता है। सामान्यतया संन्यास का जीवन लोगों की दृष्टि में कष्ट का जीवन होता है, लेकिन यह चिंतन सही नहीं है। कष्ट सहन करने का अभ्यास हो तो जीवन में कष्ट बहुत कम आएंगे। कष्ट उनके जीवन में बहुत ज्यादा आते हैं, जो कष्ट सहन करने के आदी और अभ्यासी नहीं हैं। कष्ट सहने का जिनका अभ्यास नहीं है, उन्हें थोड़ा-सा कष्ट भी बहुत पीड़ित करता है।

ज्योतिषी ने एक आदमी की कुंडली देखी और कहा–'पांच वर्ष तक दुःख भोगना है।'

जातक ने पूछा–'पांच वर्ष दुःख में काट दूंगा। उसके बाद तो कोई बाधा नहीं है?'

ज्योतिषी ने कहा–'नहीं कष्ट तो आगे भी हैं, लेकिन पांच वर्ष तक लगातार दुःख भोग कर तुम उनके आदी हो जाओगे। दुःख की तुम्हें अनुभूति नहीं होगी।'

ज्योतिषी ने किसी भाव या भाषा में यह बात कही होगी, किंतु है मर्म की बात। कष्ट सहन करने का हमारा अभ्यास होना चाहिए। सुविधावाद अच्छा नहीं होता। न व्यावहारिक जीवन में अच्छा होता है और न साधना के जीवन में अच्छा होता है।

सुख-दुःख एक मनोभाव

कष्ट सहन क्यों करें? क्या इसलिए कि वास्तविक सुख मिल जाए? छोटी चीज को आदमी उसी शर्त पर छोड़ सकता है, जब उससे कोई बड़ी चीज

मिलने की संभावना हो। बड़े लक्ष्य के लिए छोटे को छोड़ देना अच्छी बात है। अगर किसी नए धंधे में वर्ष भर में करोड़ की कमाई की संभावना हो तो लाख रुपये वाले धंधे को आदमी छोड़ देगा। आगमों में कहा गया–अप्पेणं मा बहु लुंपहा। थोड़े के लिए बहुत को मत खोओ।

जब यह सचाई प्रकट होती है कि पौद्गलिक सुख बहुत थोड़ा है, स्वल्पकाल का है तो दीर्घकालिक और शाश्वत सुख की अभीप्सा जागती है, लेकिन सुख और दुःख तो साथ-साथ रहते हैं। दोनों बारी-बारी से आदमी के जीवन में आते रहते हैं। आदमी की मानसिकता ऐसी है कि वह दोनों का अनुभव करता है। सुख का प्रश्न केवल आचारशास्त्र का प्रश्न नहीं है। यह अध्यात्मशास्त्र का प्रश्न भी है। हम इसकी मीमांसा करें कि सुख क्या है और दुःख क्या है? कवि ने लिखा–

सुख-दुःख क्या है मनोभावना, जिसने जैसा कर माना।
मधुकर ने अपने मरने को, था अनंत सुखमय जाना॥

सुख-दुःख एक मनोभावना ही तो है। यह यथार्थ है कि जो व्यक्ति जैसा मान लेता है, वैसा हो जाता है। जानने वालों से ज्यादा संख्या मानने वालों की है। मुफ्त में बड़ी चीज मिल रही हो तो कौन खोना चाहेगा?

कथावाचक कथा कह रहे थे। श्रोता तन्मय होकर सुन रहे थे किसी प्रसंग में कथावाचक ने एक प्रश्न प्रस्तुत कर दिया–'स्वर्ग में जो जाना चाहते हैं, वे अपने हाथ ऊपर करें।'

सभी ने तत्काल अपने हाथ ऊपर उठा दिए। केवल एक महिला चुपचाप बैठी रही। सबकी दृष्टि उसकी ओर गई। कथावाचक ने पूछा–'तुम स्वर्ग क्यों नहीं जाना चाहती?'

उस समझदार महिला ने बड़ी गंभीरता से कहा–'इन सबको आप स्वर्ग या कहीं भी भेज दें तो यह धरती अपने आप स्वर्ग बन जाएगी। मुझे कहीं जाने की जरूरत ही नहीं होगी। सही बात है। दुःख देने वाले, धरती को नरक बनाने वाले जब तक रहेंगे, कोई सुखी कैसे रहेगा?

सबकुछ मनोभावना पर निर्भर है। व्यक्ति जैसी दृष्टि रखता है, वैसा ही अपने लिए सृष्टि कर लेता है। सुख और दुःख का दार्शनिक विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण है। गीता में इसका सुंदर विवेचन है। अध्यात्म के आचार्यों ने भी काल्पनिक सुख-दुःख और वास्तविक सुख-दुःख के रूप में इसकी मीमांसा की है।

प्रयत्न स्रोत की ओर

धर्म के क्षेत्र में यह मान्यता है कि पुण्य शुभ फल देता है और पाप अशुभ फल देता है। पुण्य से सुख मिलता है और पाप से दुःख मिलता है। यह एक मान्यता है, विचार है, लेकिन अध्यात्म के आचार्यों ने बहुत गहराई में जाकर वास्तविकता का पता लगाया और उन्होंने तो यहां तक लिख दिया कि पुण्य से मिलने वाला सुख भी वस्तुतः दुःख देने वाला होता है। अध्यात्म के कुछ मनीषियों ने इसीलिए घोषणा कर दी कि मुझे पुण्य नहीं चाहिए, क्योंकि जिसे भोगने से और ज्यादा दुःख मिले, उस पुण्य से क्या लाभ? पुण्य का फल भोगते हुए इतना पाप कर्म का बंध कर लिया कि आगे के लिए पाप की गठरी और ज्यादा भारी कर ली तो क्या फायदा ऐसे पुण्य से?

वास्तविकता को समझने से हमारी दृष्टि साफ होती है। अन्यथा यह एक सामान्य मनोविज्ञान है कि हर व्यक्ति सुख का आकांक्षी है। जरूरत है भ्रांत बनाने वाली मनोवृत्ति के परिष्कार की। सुख और दुःख से परे जो आनंदमय चेतना की स्थिति है, उसे हमें प्राप्त करना है।

यह शाश्वत और अव्याबाध सुख होगा, जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी खोएगा नहीं, मिटेगा नहीं। सुख के इस अक्षय स्रोत को पाने की दिशा में सतत प्रयत्नशील रहें तो एक दिन हमें वह उपलब्ध होगा, जिसके लिए चिरकाल से हमने अनेक सपने संजोए हैं, अनेक कल्पनाएं की हैं, अनेक बार संकल्प किया है।

हमारे वे स्वप्न, कल्पनाएं और संकल्प जिस दिन सार्थक होंगे, हमें एक अलौकिक सुख के संसार का साक्षात्कार होगा।

38. स्थायी सुख है वीतरागता

जैन साहित्य में एक सुंदर शब्द है–अणाबाहं सुहं। जिस सुख में कोई बाधा न हो, वह अव्याबाध सुख कहा जाता है। सुख आए तो फिर उसके बाद कभी जाए ही नहीं। बीच में कोई विघ्न-बाधा और रुकावट न हो, लेकिन क्या यह स्थिति संभव है? वह भी वैसी स्थिति में, जब संसार मुश्किलों से भरा हो, पग-पग पर बाधाएं और कठिनाइयां हों, अवरोधों का जाल बिछा हुआ हो, क्या ऐसे संसार में रहकर कोई शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है? इस प्रश्न पर बहस और तर्क की गुंजाइश है, किंतु एक बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि राग और द्वेष की भावना में जीने वाला कोई भी सुखी नहीं हो सकता।

अनुबंध प्रियता का

वीतराग कभी दुःखी नहीं होता। न हुआ और न होगा। दुःख और सुख का बीज राग-द्वेष की गर्भनाल से जुड़ा हुआ है। जिसमें राग और द्वेष का भाव जितना अधिक प्रबल है, वह उतना ही ज्यादा दुःख का वेदन करेगा।

राग-द्वेष सर्वव्यापी हैं। आज हर व्यक्ति की समस्या है कि उसे वीतरागता का पथ नहीं मिल रहा है। राग है पदार्थ के साथ और व्यक्ति के साथ। अच्छा जरूर लगता है, पर वह दुःख देने वाला होता है। इस संदर्भ में पुष्प पराग के लोलुप भ्रमर का उदाहरण एक सटीक उदाहरण है, लेकिन अपने नित्यप्रति के जीवन में हम भी इसका अनुभव करते हैं। प्रिय का संयोग होता है तो हम सुख का अनुभव करते हैं और उसका वियोग दुःख की अनुभूति कराता है।

मनुष्य तो चेतन प्राणी है। कुछ पादप और पुष्प ऐसे होते हैं, जो सूर्यास्त होते ही मुरझा या कुम्हला जाते हैं और सूर्योदय होते ही फिर विकसित हो जाते हैं। कारण यही है कि कोई प्रियता का ऐसा अनुबंध है, जो उन्हें खिलने और मुरझाने के लिए विवश कर देता है।

हर व्यक्ति का प्रकृति के साथ और व्यक्ति के साथ ऐसा कोई अनुबंध होता है, जिसमें वह उलझा रहता है। इस अनुबंध को सुख नहीं कहा जा सकता। अगर अनाबाध सुख होता तो वह सदा खिला हुआ रहता, प्रसन्न रहता, कभी मुरझाता और खिन्न नहीं होता।

शाहजहां लालकिले के अपने शयनकक्ष में सो रहा था। सो क्या रहा था, सोने का उपक्रम कर रहा था। नींद उसकी आंखों से कोसों दूर थी। शासक कभी सुख की नींद नहीं ले पाते। एक जिले का प्रभार संभालने वाला जिलाधीश ही नाना प्रकार की समस्याओं से घिरा रहता है तो जिनके ऊपर विशाल साम्राज्य की व्यवस्था का भार होता है, उनकी स्थिति की क्या कल्पना की जा सकती है। प्रस्तुत प्रसंग तो मुगलकाल का है, जब सत्ता के षड्यंत्र और दुरभिसंधियां अपने चरम स्थान पर थीं।

शाहजहां ने देखा–सामने ही यमुना बह रही है। शाहजहां देर तक यमुना की लहरों का अवलोकन करता रहा। पता नहीं क्यों गंगा उसे उदास और शांत दिखी। सवेरे उसने अपने दरबार में सभासदों के सामने इस बात का जिक्र करते हुए कहा–'आज रात को मैंने यमुना को गौर से देखा। इतनी बड़ी नदी है। उसे तो रफ्तार के साथ कल-कल, छल-छल की आवाज करते हुए बहना चाहिए, लेकिन मुझे लगा, वह तो जैसे रोते-रोते बह रही हो। इसका कारण क्या है?'

एक कवि हृदय सभासद ने कहा–'जहांपनाह! पीहर से ससुराल जाते समय हर स्त्री उदास और गमगीन होती है। गंगा को पीहर में, जहां वह पैदा हुई, वहां जाकर देखें तो आप उसे उसी रूप में पाएंगे, जैसे आप उसे देखना चाहते हैं, लेकिन वहां से निकलकर जब वह अपने ससुराल सागर की ओर जा रही है तो उसे प्रसन्न कैसे पाएंगे?' बादशाह को उसके प्रश्न का उत्तर मिल गया।

एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में और एक मनःस्थिति से दूसरी मनःस्थिति में कोई जाता है तो सुख-दुःख का प्रसंग बन ही जाता है। परिस्थिति और मनःस्थिति को समझे बिना अव्याबाध सुख की स्थिति संभव नहीं हो सकती। मनःस्थिति तो बनती-बिगड़ती रहती है। कभी परिस्थिति कारण बनती है और कभी व्यक्ति स्वयं ही कारण बन जाता है।

तूफान को रोकें

स्थानांगसूत्र में अवीतरागता के कारण बताए गए–क्रोध, मान, माया और लोभ। ये परिस्थिति सापेक्ष भी हैं, किंतु एक समय ऐसा आता है, जब परिस्थिति निरपेक्ष क्रोध भी आ जाता है। कोई कारण नहीं, कोई निमित्त नहीं,

फिर भी क्रोध आ जाता है। हम निमित्तों को स्वीकार करते हैं, किंतु एकांगी दृष्टि से नहीं, अनेकांत दृष्टि से। कभी परिस्थितिवश तो कभी बिना परिस्थिति के ही आदमी की मानसिकता बनती-बिगड़ती है। आंतरिक कारण बहुत प्रभाव डालते हैं। जो व्यक्ति तूफान को रोकने की क्षमता रखता है, वही उपशम का साधक हो सकता है। जो क्रोध, मान, माया, घृणा, लोभ आदि को उपशांत करना जानता है, वह धीरे-धीरे अव्याबाध सुख की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

एक समय ऐसा आता है, जब विघ्न-बाधा डालने वाली स्थिति समाप्त हो जाती है, फिर ऐसा नहीं होगा कि सुबह तो मूड अच्छा रहा और दोपहर तक मूड खराब हो गया। उसकी मनःस्थिति में फिर बार-बार बदलाव नहीं आएगा। यह स्थिति वीतरागता के सिवाय और कहीं संभव नहीं है।

कठिनाई यही है कि उपशम की साधना व्यक्ति सबकुछ जानते हुए भी कर नहीं पाता। यह स्थिति एक दिन में नहीं आती। पहले लक्ष्य चुनते हैं, फिर उस दिशा में अभिमुखता होती है, फिर उस दिशा में प्रस्थान करते हैं और स्टेप बाई स्टेप मंजिल की ओर बढ़ते हुए एक दिन मंजिल को प्राप्त कर लेते हैं। वीतरागता अगर लक्ष्य बन जाए तो एक दिन उस मुकाम को प्राप्त कर ही लेंगे।

महात्मा बुद्ध के पास एक व्यक्ति आया और बोला–'तथागत! बहुत प्रयत्न हो रहे हैं, फिर भी धर्म का असर कहीं दिखाई नहीं देता। इसका कारण क्या है?'

बुद्ध ने कहा–'इसका उत्तर बाद में दूंगा, पहले यह बताओ कि राजगृह यहां से कितनी दूर है?'

दो सौ मील।' उस व्यक्ति ने उत्तर दिया।

'तुम पक्के तौर पर जानते हो?'

'हां, मुझे पक्का पता है कि राजगृह यहां से दो सौ मील दूर है।'

'क्या तुम राजगृह का नाम लेते ही अभी तुरंत वहां पहुंच जाओगे?'

'अभी कैसे पहुंच सकता हूं। अभी तो यहां आपके सामने खड़ा हूं। राजगृह तो तब पहुंचूंगा जब यहां से प्रस्थान करूंगा और दो सौ मील का सफर पूरा करूंगा।'

बुद्ध ने कहा–'तुम्हारी इस बात में ही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर छिपा हुआ है। तुम राजगृह को जानते हो, किंतु जब तक उस दिशा में प्रस्थान नहीं करोगे, तब तक राजगृह नहीं पहुंच पाओगे। यही बात धर्म के लिए है। धर्म को सब

जानते हैं, पर जब तक उसके मार्ग पर नहीं चलेंगे, उसके नियमों का पालन नहीं करेंगे, तब तक धर्म जीवन में कैसे उतरेगा?' वीतरागता का लक्ष्य सामने रहे और कदम उस दिशा में गतिमान रहे तो एक दिन वीतरागता की स्थिति जरूर प्राप्त हो जाएगी।

यह बात स्मरण रहे कि न तो प्रकृति दुखी या सुखी बनाती है, न ही परिस्थिति और मनःस्थिति। सुख-दुःख की स्थिति राग-द्वेष पर निर्भर है। वीतरागता और अनाबाध सुख दोनों एकसाथ चलते हैं।

इस सचाई को मानकर ही हम धर्म का मूल्यांकन कर सकते हैं। धर्म का लक्ष्य भी वीतरागता है। सभी प्रमुख धर्मों ने इस सचाई को माना है और कहा है कि शाश्वत सुखी बनना है तो वीतराग बनो। साधना के क्षेत्र में वीतरागता प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए, क्योंकि इसी में निहित है स्थायी सुख। सारा धर्म, सारी साधना इस एक शब्द में समाहित है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा–

आश्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिः सर्वमन्यत्प्रपंचनम्॥

आश्रव दुःख का हेतु है और संवर सुख का हेतु। इतनी-सी बात समझ में आ जाए तो हमारा रास्ता प्रशस्त हो सकता है।

39. सुख का निर्बाध पथ

समाचार पत्रों में पढ़ा कि भारतीय मूल का एक व्यक्ति लक्ष्मी मित्तल दुनिया में तीसरे नंबर का धनी आदमी है। सबसे ज्यादा धनी आदमी बिल गेट्स है, जो ग्यारह वर्षों से अपना वर्चस्व पहले नंबर की कुर्सी पर बनाए हुए है। विभिन्न एजेंसियां इस तरह का सर्वे करती रहती हैं कि दुनिया का सबसे धनी आदमी कौन? सबसे ज्यादा पॉपुलर कौन? सबसे ज्यादा शक्तिशाली कौन?

क्या कभी इस बात का भी सर्वे होता है कि दुनिया का सबसे ज्यादा सुखी आदमी कौन? आपने कभी पढ़ा हो, सुना हो कि इस तरह का सर्वे होता है तो मुझे भी बताएं। यह जानने में मेरी रुचि है। सबसे धनी कौन? इसमें आपकी रुचि तो हो सकती है, मेरी कोई रुचि नहीं है।

सबसे अधिक धनी कौन? इस बात का बहुत सीमित मूल्य है। वह दस-बीस हजार लोगों को रोजगार दे सकता है, काम दे सकता है, देश की अर्थव्यवस्था के सुधार में सहयोग दे सकता है, लेकिन व्यापक प्रश्न तो यह है कि दुनिया में सबसे अधिक सुखी कौन है?

जांच और सर्वे करने वाली एजेंसियां सर्वे करें, इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है, लेकिन देखा यह गया है कि उनके सर्वे के विषय अधिकांशतया नकारात्मक होते हैं। अभी कुछ दिन पहले यह पढ़ने को मिला कि दुनिया में सबसे ज्यादा भ्रष्ट देश कौन से हैं? क्रमवार उनकी सूची देखी।

भ्रष्ट देशों का सर्वे होता है, किंतु अभी तक सुनने में नहीं आया कि किसी ने यह सर्वे किया हो कि दुनिया में सबसे ज्यादा आचारनिष्ठ, नैतिक और प्रामाणिक देश कौन-सा है? आप बताएं कि कौन-सा सर्वे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है और किस सर्वे से लोगों को प्रेरणा मिल सकती है?

प्रश्न है–दुनिया का सबसे सुखी आदमी कौन? मेरी दृष्टि में जिसका अपने आवेश पर, आवेग पर, क्रोध, अहंकार, लोभ, छल-कपट, प्रवंचना

आदि वृत्तियों पर नियंत्रण है, वह दुनिया का सबसे सुखी आदमी है। ऐसे आदमी को कोई कभी दुःखी नहीं बना सकता।

पतझड़ और वसंत

आमतौर पर यह देखा जाता है कि कोई आदमी सुखी दिखाई दे रहा है, किंतु दो क्षण बाद ही वह दुःखी हो जाता है। जो कभी सुखी है, कभी दुःखी है, वह शाश्वत सुखी की श्रेणी में नहीं आ सकता। सबसे ज्यादा सुखी आदमी से मेरा तात्पर्य ऐसे आदमी से है, जो कभी दुःखी नहीं होता। परिस्थितियों के प्रवाह में बहकर जिसके भाव क्षण-क्षण में नहीं बदलते। अस्थायी सुख-दुःख का चक्र चलता रहता है ऋतुचक्र की तरह। पतझड़ आने पर वृक्ष के पत्ते झड़ जाते हैं। बसंत काल में वृक्ष नए पत्तों को धारण कर फिर हरा-भरा हो जाता है। यह पतझड़ और बसंत निरंतर चलता रहता है। स्थायी वह है, जिसका कभी अवसान नहीं होता, जिसकी कभी समाप्ति नहीं होती।

दुनिया में अचल क्या है? अपनी आत्मा की पवित्रता, अपनी नैतिकता। शेष सब चलायमान हैं, अस्थिर हैं। लक्ष्मी चल है, प्राण चल है, जीवन चल है और यौवन भी चल है। अचल है तो एकमात्र आत्मा की पवित्रता। इसी प्रकार धन की तीन अवस्थाएं होती हैं–दान, भोग या व्यय और विनाश। धन की प्रकृति शाश्वत है ही नहीं। मैंने दीक्षा ली, उस समय कुछ लोगों के बारे में सुना था कि उनके पास इतनी संपत्ति है कि उसका कोई पार नहीं है, उन्हीं को पचास वर्ष बाद काम-धंधे की तलाश में दर-दर भटकते देखा है।

हमारे सामने भारत का और विश्व का पूरा इतिहास है। उत्थान-पतन के संदर्भ में ध्वंस और निर्माण की प्रक्रिया को आसानी से समझा जा सकता है। जहां कभी स्वर्ग को भी मात देने वाला ऐश्वर्य था, ऊंचे सिंहासन पर बैठकर जहां दरबार लगते थे और दुनिया को प्रभावित करने वाले निर्णय सुनाए जाते थे, वहां अब डरावने अंधेरे छाए हुए हैं। उन भग्नावशेषों और खंडहरों में या तो चमगादड़ लटकी हुई हैं या कबूतरों के बसेरे हैं।

एक समय जापान की अर्थव्यवस्था इतनी मजबूत हो गई थी कि उसने पूरे विश्व के बाजार पर अपना वाणिज्यिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। चीन से उसकी प्रतिद्वंद्विता हुई और अब चीन ने उसे मात दे दी। विश्व के प्रमुख बाजारों पर आज चीन का कब्जा है। स्थितियां और परिस्थितियां बदलती रहती हैं। हम किसी भी चीज को लें, धन हो, परिवार हो, पद हो, सत्ता और शक्ति हो–ये सब परिवर्तनशील हैं, नाशवान हैं, इनसे सुख नहीं मिल सकता।

वह आदमी कभी सुखी नहीं बन सकता, जो सचाई को समझने का प्रयत्न नहीं करता। जो झूठी कल्पनाओं में जीता है, झूठे सपने देखता है, उसके हाथ दुःख और पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ नहीं लगता।

सपना भिखारी का

एक भिखारी ने सपना देखा कि वह राजा बन गया है। राजा बनने का सपना कोई भिखारी ही देख सकता है। कोई राजा राजा बनने का सपना क्यों देखेगा? अगर देखेगा तो पृथ्वी का सम्राट बनने का सपना देखेगा। गरीब आदमी अमीर बनने का सपना देखेगा। अमीर है तो टाटा, बिड़ला, अंबानी बनने का सपना देखेगा। सपने अधिकतर आरोहण के देखे जाते हैं।

उसने सपना देखा कि राजा बन गया हूं। रानियां मेरे पैर दबा रही हैं। कक्ष के बाहर प्रहरी अपनी ड्यूटी पर खड़े हैं। इतने में ही उसके निकट पड़े भीख के कटोरे में किसी कुत्ते ने अपना मुंह डाल दिया। पात्र के लुढ़कने से आवाज हुई तो भिखारी की नींद खुली और उसका सपना टूट गया। अब फिर उसकी वही दुनिया थी। उसके वही जीर्ण वस्त्र, फूटा हुआ भीख मांगने का कटोरा था। क्षण भर में ही वह रंक से राजा और राजा से फिर रंक बन गया।

हम इस दुनिया की वास्तविकता पर विचार करें। अध्यात्म के आचार्यों ने यथार्थता पर गहराई से विचार किया था। वे इसके स्वरूप को जानते थे, इसलिए कहा–'यह माया है, सपना है, इन्द्रजाल है, इसे सत्य मानने की भूल न की जाए।'

जो इस सचाई को समझकर जीवनयात्रा को चलाता है, कुमार्ग पर ले जाने वाले कषायों पर नियंत्रण करना जानता है, वह दुनिया का सबसे सुखी आदमी है।

कुछ लोग कष्ट की घड़ी में राम-नाम की रट लगाते हैं। उन्हें राम के जीवन पर भी तनिक दृष्टिपात कर लेना चाहिए। उनके चरित्र को थोड़ा याद कर लेना चाहिए। उन्होंने जीवन किस ढंग से जीया, इस पर भी विचार कर लेना चाहिए। राम का नाम रटते रहें और दुःखी भी होते रहें, यह तो बड़ी विरोधाभासी बात होगी।

महावीर को अपने साधनाकाल में किन-किन कष्टों से गुजरना पड़ा, वह एक पूरी गाथा है, लेकिन महावीर की मुद्रा अडोल, निष्कंप और प्रसन्नचित्त बनी रही। उन्होंने आनंद और परम आनंद का जीवन जीया। तीन चार-सौ वर्ष

पूर्व के महापुरुषों की बात करें तो समर्थ गुरु रामदास का जीवन बहुत प्रेरक है। वे शिवाजी के गुरु थे। एक किसान के द्वारा प्रताड़ित होने पर उन्होंने उसे दंड नहीं, पांच बीघा कृषि योग्य भूमि शिवाजी से पुरस्कार स्वरूप दिलवाई थी।

दुःखी आदमी प्रतिकार करता है, तत्काल प्रतिक्रिया करता है, क्योंकि इमोशन पर उसका नियंत्रण नहीं है। संवेग उससे वह सबकुछ करवाते हैं, जिनसे दुःख पैदा होता है। अपनी चित्तवृत्तियों पर उसका नियंत्रण नहीं रह जाता। सुख की परिस्थितियों में भी वह दुःख सृजित कर लेता है।

रेस प्रतिस्पर्धा की

सबसे ज्यादा धनी कौन? यह जानकर किसी को क्या हासिल होगा? सबसे ज्यादा धनी है तो अपने महल में बैठा रहे, उससे किसी को क्या मिल जाएगा?

सबसे अधिक धनी हर कोई नहीं बन सकता। वैसा बनने के लिए सबके पास साधन भी नहीं हैं, किंतु सबसे ज्यादा सुखी बनने के लिए बहुत सारे साधनों की जरूरत नहीं होती। सुखी हर कोई बन सकता है। मित्तल और अंबानी भी बन सकते हैं और गांव का कोई गरीब किसान भी बन सकता है। अध्यात्म का रास्ता किसी के लिए बंद नहीं है, सबके लिए समान रूप से खुला है, लेकिन धन कमाने का रास्ता सबके लिए निर्बाध नहीं है।

सबसे ज्यादा धनी हर कोई नहीं बन सकता। यह रेस बड़ी प्रतिस्पर्धा की है। आप इस रेस में शामिल होंगे तो दौड़ लगाने वाले तैयार बैठे हैं। इस रेस में क्रम से नंबर लगेगा, लेकिन सुखी होने के लिए नंबर वाली बात नहीं है। सबसे ज्यादा सुखी हर कोई बन सकता है। यह कोरा कान्सेप्ट नहीं है। यह सचाई है, यथार्थ है। बन सकते हैं और निश्चित रूप से बन सकते हैं। जिसने समत्व की साधना की, वह हर हाल में सुखी रह सकता है।

सुख-दुःख को पदार्थ के साथ नहीं, अपनी चेतना के साथ जोड़ें। अध्यात्म हमारी चेतना को प्रभावित करता है। एक ओर धन-संपत्ति, पदार्थ और पौद्गलिकता को रखें, दूसरी ओर अध्यात्म की सचाई को रखें तो अध्यात्म के पलड़े को भारी पाएंगे, इसलिए अध्यात्म को जीवन में स्थान दें। सुखी होने का यही निर्बाध पथ है।

40. सुख-दुःख का कर्ता कौन?

(आचार्य महाप्रज्ञ का अंतिम प्रवचन 9 मई, 2010, सरदारशहर)

हर व्यक्ति अनेक अवस्थाओं से गुजरता है। व्यक्ति जन्म लेता है, शिशु बनता है, बड़ा होता है, कुमार बनता है, युवा बनता है, प्रौढ़ बनता है और वृद्ध भी बनता है। दस-दस वर्ष की दस अवस्थाएं बतलाई गईं। उन अवस्थाओं का जीवन क्रम भी अलग-अलग प्रकार का होता है। हर वर्ष और हर दिन व्यक्ति अलग-अलग प्रकार की संवेदना करता है। कभी सुख की संवेदना और कभी दुःख की संवेदना। शायद एक दिन भी ऐसा नहीं जाता होगा, जिस दिन व्यक्ति ने सुख की संवेदना न की हो अथवा दुःख की कोई संवेदना न की हो। अलग-अलग संवेदनाएं होती हैं। प्रश्न भी होता है कि ऐसा क्यों होता है? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है और यह प्रश्न उत्तर भी मांगता है। मेघकुमार भगवान महावीर के पास बैठा है और इस प्रश्न का उत्तर पाना चाहता है। मेघकुमार ने कहा–

सुखास्वादाः समे जीवाः, सर्वे सन्ति प्रियायुषः।
अनिच्छंतोऽसुखं यान्ति, न यान्ति सुखमीप्सितम्।। ३/११।।

भंते! सब जीव सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। किसी से भी पूछ लो–सुख चाहते हो या दुःख? छोटे बच्चे से भी पूछ लो–सुख चाहते हो या दुःख? उत्तर मिलेगा–सुख, क्योंकि सुख सबको अच्छा लगता है।

सर्वे संति प्रियायुषः–सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सबमें जीने की इच्छा है, जिजीविषा है। हर आदमी अच्छा जीवन जीना चाहता है, पूरा जीवन जीना चाहता है, मरना नहीं चाहता। मेघकुमार ने कहा–भंते! आदमी सुख चाहता है और बिना बुलाए दुःख आ जाता है। आदमी जीना चाहता है और मौत आ जाती है। ऐसा क्यों होता है? कारण क्या है इसका? आदमी जो चाहे वह मिले तो ठीक बात है। चाहता कुछ है, मिलता और कुछ है तो वह ठीक नहीं होता। जो चाहे वह मिल जाए तो ठीक है और जो चाहे वह न मिले या उल्टा मिले तो आदमी के मन में प्रश्न भी होता है कि इसका

कारण क्या है? हम जो चाहते हैं, वह क्यों नहीं होता? हमारी इच्छा के विरुद्ध काम क्यों होता है?

कः कर्ता सुख-दुःखानां, को भोक्ता कश्च घातकः।
सुखदो दुःखदः कोस्ति, स्याद्वादीश! प्रसाधि माम्।। ३/१२।।

भंते! एक प्रश्न और है। सुख और दुःख का कर्ता कौन है? सुख और दुःख–ये दोनों जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। इनका कर्ता कौन है और भोक्ता कौन है? सुख देने वाला कौन है और दुःख देने वाला कौन है? यह मैं जानना चाहता हूं।

हर आदमी के मन में प्रश्न होना स्वाभाविक है, सुख देने वाला कौन है? दुःख देने वाला कौन है? प्रायः यह आरोपण होता है कि वह आदमी मुझे दुःख दे रहा है। सुख दे रहा है, यह सुनने को बहुत कम मिलता है। दुःख दे रहा है, यह सुनने को बहुत मिलता है।

कुछ समय पहले हरियाणा का एक युवक आया, बोला–बहुत शिथिल हो गया हूं।

मैंने पूछा–क्या कारण है?

उसने कहा–पता नहीं कोई तांत्रिक-प्रयोग करा दिया गया। घर में अनेक प्रकार की चीजें मिलती हैं, हड्डियां मिल जाती हैं, खराब चीज मिल जाती है। बहुत कष्ट का अनुभव हो रहा है।

हम इस पर दो दृष्टियों से विचार करें। भगवान महावीर ने उत्तर दिया–मेघ! आत्मा ही सुख-दुःख की कर्ता है और आत्मा ही सुख-दुःख की भोक्ता है।

आत्मा कर्ता स एवास्ति, भोक्ता सोऽपि च घातकः।
सुखदो दुःखदः सैष, निश्चयाभिमतं स्फुटम्।।३/१३।।

निश्चयनय में तो आत्मा ही सुख-दुःख की कर्ता है, किंतु व्यवहारनय की दृष्टि से देखें तो सुख-दुःख का निमित्त कोई दूसरा भी बन सकता है, अपना अज्ञान भी बन सकता है, दूसरे व्यक्ति का गलत सुझाव भी बन सकता है, गलत परामर्श भी बन सकता है, गलत चिंतन भी बन सकता है, व्यक्ति का अपना लोभ भी बन सकता है।

एक बार एक ब्राह्मण ने दक्षिणायन शंख की साधना की। वह शंख सिद्ध होने पर काफी कामनाओं को पूरा करता है। ब्राह्मण की साधना सिद्ध हुई। वह दक्षिणायन शंख लेकर अपने घर जा रहा था। रास्ते में एक घर पर ठहरा।

प्रातःकाल का समय। चार बजे से पहले उठा, शंख की पूजा की और मांगा– मुझे हजार रुपए दो। शंख ने हजार रुपए दे दिए। घर वाले ने सोचा, यह तो बहुत करामाती शंख है। जो मांगता है, वह मिल जाता है। इस शंख को लेना चाहिए। वह ब्राह्मण इधर-उधर गया। घर का मालिक आया, शंख को चुरा लिया और उसकी जगह दूसरा शंख रख दिया। ब्राह्मण जब घर पहुंचा तब पता चला कि कुछ धोखा हुआ है। सोचा, लड़ाई करने से कोई मतलब नहीं है। बुद्धि के द्वारा ही इस काम को ठीक किया जा सकता है। पुनः यात्रा पर गया, दूसरे शंख को लाया और उसी घर पर ठहरा।

पश्चिम रात्रि का समय था। वह बैठा और शंख से हजार रुपये की मांग की। शंख बोला –हजार नहीं, लो ये दस हजार रुपये। घर वाले ने सुना कि यह तो उससे अधिक अच्छा है। वह तो जितना मांगों, उतना देता है। यह तो जितना मांगों, उसका दस गुना देता है, बहुत अच्छा है। क्या करूं? वैसा उपाय हो जाए। जब ब्राह्मण इधर-उधर हुआ, तब उसने पहले वाले शंख को रख दिया और इस शंख को ले लिया।

ब्राह्मण अपने शंख को पाकर चला गया। अब आत्मा कैसे कर्ता-विकर्ता बनती है? अपनी प्रवृत्तियां, अपना चिंतन, अपना एटीट्यूट, अपना भाव किस प्रकार कर्ता को बनाते हैं ? इसका बहुत स्पष्ट यह उदाहरण है कि उस व्यक्ति के मन में अतिलोभ का भाव आया और उस लोभ ने संपत्ति को गंवा दिया और हाथ में एक दूसरा शंख ले लिया।

अब दूसरा दिन। पश्चिम रात्रि में चार बजे का समय। वह उठा और बोला– मुझे हजार रुपये दो। शंख ने कहा–लो, दस हजार। घर वाला व्यक्ति मांगता चला गया और वह बोलता चला गया। आखिर उसने कहा–कुछ दो तो सही। तब उस शंख ने कहा–तुम भी बोलते जाओ और मैं भी बोलता जाऊं। और कुछ नहीं है। उसने कहा–

दक्षिणायनशंखस्य, चरित्रं भिन्नमस्ति यत्।
अहं डफोरशंखोस्मि, वदामि न ददामि च।।

तुम जानते नहीं हो। वह दक्षिणायन शंख था, तुमने जो पहले लिया था। उसका चरित्र भिन्न होता है। मैं तो डफोरशंख हूं, बोलता हूं, देता कुछ भी नहीं। मैं देना नहीं जानता, बोलना जानता हूं।

हम इस कथावस्तु पर विचार करें कि उसको किसने ठगा? अपनी ही लोभ की प्रवृत्ति ने। पहले तो चोरी की प्रवृत्ति ने वह शंख लिया, फिर लोभ

इतना बढ़ गया और उस लोभ से ठगा गया। दक्षिणायन शंख हाथ से निकल गया और डफोरशंख हाथ में आ गया। हर घटना का हम विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि आदमी स्वयं मायाजाल रचता है और अपने मकड़जाल में स्वयं ही फंस जाता है। आप दुनिया के बहुत सारे कार्यों का विश्लेषण करें, बहुत सारी नीतियों का विश्लेषण करें कि जो नीति निर्माण करते हैं, नीति निर्माण करने वाले अपने ही मकड़जाल में फंस जाते हैं।

इन सारे संदर्भों में हम विचार करें तो निष्कर्ष आएगा कि कर्ता मूलतः आत्मा है और दूसरा कहीं-कहीं निमित्त बन सकता है। तर्कशास्त्र में दो कारण माने गए हैं–मूल कारण और निमित्त कारण। तीन भी हो सकते हैं, पर मूल दो कारण माने गए हैं। निमित्त कारण भी बनते हैं। सुख के निमित्त भी बनते हैं और दुःख के निमित्त भी बनते हैं, पर मूल ये नहीं हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया–अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य। दुःख और सुख का कोई कर्ता नहीं है। आत्मा ही कर्ता और विकर्ता है, क्योंकि संवेदन किसको होता है? संवेदन चेतना को होता है। जड़ वस्तु को संवेदन नहीं होता। एक आदमी को बहुत धन की प्राप्ति हो गई, सुख का संवेदन हुआ। एक व्यक्ति के घाटा लग गया, दुःख का संवेदन हुआ। यह संवेदन पैसे में नहीं था। संवेदन करने वाली हमारी आत्मा है। आत्मा ही सुख का संवेदन करती है और आत्मा ही दुःख का संवेदन करती है।

दूसरा निमित्त बन सकता है। कोई आदमी गुस्से में आया और एक थप्पड़ मार दिया। जिसको थप्पड़ मारा, उसको कष्ट हुआ, दुःख का संवेदन हुआ और निमित्त वह थप्पड़ मारने वाला बन गया। चलते समय ठोकर लगी और दर्द हो गया। संवेदन तो स्वयं करेगा और निमित्त पत्थर बन गया। निमित्त दूसरा कोई बन सकता है। हम यह मानें कि मूल कारण कोई दूसरा नहीं है, निमित्त बन सकते हैं। अगर हम अपनी चेतना का परिष्कार करें तो फिर कोई सुख-दुःख देने वाला नहीं है। न कोई भौतिक पदार्थ सुख देने वाला, न कोई दुःख देने वाला, फिर तो अपनी आत्मा का आनंद प्रकट होता है। ऐसा आनंद, जिसका अनुभव कभी होता नहीं है।

लोग भौतिक सुख-दुःख से परिचित हैं। एक वस्तु मिली, सुख हुआ अनुकूल योग मिला, सुख हुआ। इससे तो परिचित हैं। किसी निमित्त के बिना, किसी वस्तु की प्राप्ति के बिना भी सुख होता है। उसे जानना बहुत जरूरी है। बिना प्राप्ति के भी सुख होता है। हम लोग सरदारशहर आ रहे थे। लोगों

ने कहा–सरदारशहर की जनता में बहुत उत्साह है, सुख है, आनंद है, सुख की लहर है। हमने क्या दिया? कुछ दिया नहीं हमने। न धन दिया, न कोई आशीर्वाद दिया, न और कुछ किया, फिर सुख किस बात का? यह वस्तु की प्राप्ति से होने वाला सुख नहीं है। यह सुख आत्मानुभूति से प्राप्त होने वाला सुख है।

हम इसको समझें कि संयम में भी सुख होता है। एक परिवार में दो महिलाएं हैं। घर में अच्छा भोजन बना। एक ने खाया और कहने लगी कि बड़ा अच्छा लगा, बहुत स्वाद आया। दूसरी के उपवास है। उससे पूछा–कैसे है? उसने कहा–बहुत आनंद है, बहुत सुख है। खाने को कुछ मिला नहीं, सुख किस बात से हुआ? बहुत सारे लोग जो वृद्ध अवस्था में हैं, वे कहते हैं कि देखो, ध्यान रखना। मैं अनशन के बिना न चला जाऊं। अब अनशन में कौन-सा सुख मिलेगा? अपने भीतर भी सुख का समुद्र है। आप न मानें कि वस्तुओं से सुख मिलता है। आत्मा का लक्षण है–अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र, अनंत शक्ति। यह हमारे भीतर है। जो व्यक्ति भीतर का सुख लेना जानता है, उसे बाहर के सुख फीके लगने लग जाते हैं।

एक उदाहरण बतलाऊं, जैन विश्व भारती में तुलसी अध्यात्म नीड्म में शिविर था। शिविर संपन्न हुआ और लोग जाने लगे। मैं उधर टहल रहा था। एक भाई आया, आकर वंदना की और खड़ा हुआ, रोने लग गया, आंख में आंसू आ गए।

मैंने पूछा–क्या किसी ने आपका अपमान किया है?

उसने कहा–नहीं, यहां तो बहुत अच्छा वातावरण है।

तो आपको कुछ हुआ?

नहीं, कुछ नहीं हुआ।

फिर आंख में आंसू?

वह बोला– ये दुःख के आंसू नहीं हैं। ये हर्ष के आंसू हैं। हर्ष के साथ-साथ कष्ट के भी हैं।

किस बात का कष्ट?

उसने कहा–मैं आज दस दिन के बाद शिविर को छोड़कर जा रहा हूं। मैं मुम्बई से आया हूं। उस मोहमयी नगरी में रहता हूं। साठ वर्ष की मेरी अवस्था है और साठ वर्ष में जितना वस्तुओं का उपभोग करना था, मैंने खुलकर किया,

किंतु इस बार जब आपने अंतर्यात्रा का प्रयोग करवाया तो उस अंतर्यात्रा के प्रयोग से मुझे जो सुख मिला, वैसा सुख मुझे साठ वर्ष की अवस्था में कभी नहीं मिला।

अब मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि वह सुख कहां से आया? हमने कुछ भी नहीं दिया। न कोई खाने की वस्तु दी, न कोई धन दिया। उसको इतना सुख कहा से मिला? वह व्यक्ति कहता है कि इन वर्षों में जो सुख मुझे नहीं मिला, उससे ज्यादा मुझे इन दस दिनों में सुख मिला। यह सुख कहां से आया? या तो मानें कि वह झूठ बोल रहा है, किंतु झूठ बोलने का कोई मतलब नहीं है। यदि सच बोल रहा है तो हमारे इस प्रश्न का उत्तर है कि अगर हम खोजें तो अपने भीतर बहुत सुख है, आनंद है और न खोजें तो कुछ मिलता नहीं है।

मैं दूसरी घटना बतलाऊं, वहीं जैन विश्वभारती में ही दूसरी बार शिविर था। मैं प्रयोग करा रहा था। एक घंटे का प्रयोग संपन्न हुआ। सब लोग उठ गए। एक युवक नहीं उठा। युवक भी बहुत पढ़ा-लिखा होशियार था। राजलदेसर का रमेश कुंडलिया, जो कि हैदराबाद में रहता था। हम लोग चले गए। थोड़ी देर बाद उसकी मां आई और बोली, वह तो उठ नहीं रहा है, फिर हमारे मुनि किशनलालजी और मुनि महेन्द्रजी गए। दो घंटे बीत गए तो भी नहीं उठा, फिर मैं गया, जाकर देखा और एक प्रयोग किया। उसके दर्शनकेन्द्र को दबाया।

तीन घंटे बाद वह उठा। मैंने कहा–रमेश! क्या तुम्हें पता नहीं चला? रमेश–मुझे पता तो चल गया कि ध्यान का समय खत्म हो गया। मैंने कहा–इतने संत आए, तुम्हारी मां आई, सबने कहा, फिर तुम उठे क्यों नहीं? वह बोला कि मैं उठ नहीं सका। उस समय मेरे दर्शनकेन्द्र में इतने सुख के प्रकंपन आ रहे थे कि मैं उस सुख को छोड़ नहीं सका। मैं जानता हुआ भी कि समय हो गया, उस चक्र को तोड़ नहीं सका।

मैं पूछता हूं, वह सुख कहां से आया? तीन घंटे तक पानी पीना, भोजन करना, सबकुछ छूट गया,वह सुख कहां से आया? हम केवल बाहर-बाहर की यात्रा करते हैं, बाहर की बात को जानते हैं, बाहर के सुख को जानते हैं। जो व्यक्ति कभी अपने भीतर नहीं झांकता, आधा घंटा आंखें मूंदकर अपने भीतर नहीं देखता, उसको अनुभव ही नहीं हो सकता कि मेरे भीतर क्या है? हर व्यक्ति के भीतर सुख-दुःख हैं, किंतु अंतर्दर्शन के बिना, भीतर की यात्रा किए बिना कोरी बाहर की यात्रा से उसका अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए इस सारे

संदर्भ में देखें तो भगवान महावीर ने जो उत्तर दिया, निश्चयनय की दृष्टि से बड़ा सटीक उत्तर है कि आत्मा ही सुख-दुःख की कर्ता है।

सुख भी तुम्हारे भीतर है और दुःख भी तुम्हारे भीतर है। सब अपना किया हुआ है। बाहर का निमित्त मिलता है, कभी सुख का संवेदन, कभी दुःख का संवेदन हो जाता है। तुम और आत्मानुभूति में जाओ, तो भौतिक सुख से भी परे और इस दुःख से भी परे एक सहज आनंद की अनुभूति हो सकती है।

हम लोग भी ध्यान के प्रयोग इसलिए करते हैं, शिविर भी इसीलिए होते हैं कि व्यक्ति के यह समझ में आए कि यह केवल बाह्य जगत ही हमारा जगत नहीं है। एक दूसरा भीतर का जगत भी हमारा जगत है। हम बाहर के जगत से मुक्त होकर कभी-कभी भीतर की अंधेरी गहन गुफा में जाने का प्रयत्न करें और वहां क्या है? उसका अनुभव करें तो यह बात समझ में आएगी कि वास्तव में आत्मा ही सुख-दुःख की कर्ता है, आत्मा ही भोक्ता है और आत्मा ही अपनी अनुभूति के द्वारा इस सुख-दुःख के चक्र से मुक्त हो सकती है।